(पटना विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)

The Influence of Sankhya and Vedanta on Kalidasa

(With Special Reference to Seshwar Sankhya)

कालिदास पर सांख्य एवं वेदान्त का प्रभाव

(विशेष सन्दर्भ-सेश्वर सांख्य)

निर्देशक

प्रो० (श्रीमती) अदिति डे

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग

पटना विश्वविद्यालय, पटना-५

शोधकर्त्री

मीनाक्षी प्रसाद

संस्कृत विभाग

पटना विश्वविद्यालय, पटना-५

१९८१ ई०

(पटना विश्वविद्यालय को पी-एच० डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)

The Influence of Sankhya and Vedanta on Kalidasa

(With SPecial Reference to Seshwar Sankhya)

कालिदास पर सांख्य एवं वेदान्त का प्रभाव

(विशेष सन्दर्भ-सेश्वर सांख्य)

निर्देशिका

प्रो० (श्रीमती) अदिति डे

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग

पटना विश्वविद्यालय, पटना-५

शोधकर्त्री

मीनाक्षी प्रसाद

संस्कृत विभाग

पटना विश्वविद्यालय, पटना-५

१९८१ ई०

(पटना विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)

The Influence of Sankhya and Vedanta on Kalidasa

(With Special Reference to Seshwar Sankhya)

कालिदास पर सांख्य एवं वेदान्त का प्रभाव

(विशेष सन्दर्भ-सेश्वर सांख्य)

निर्देशिका

प्रो० (श्रीमती) अदिति डे

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग

पटना विश्वविद्यालय, पटना-५

शोधकर्त्री

मीनाक्षी प्रसाद

संस्कृत विभाग

पटना विश्वविद्यालय, पटना-५

१९८१ ई०

प्रमाण-पत्र

यह प्रमाणित किया जाता है कि कु० मीनाक्षी प्रसाद (यू०जी० सी०, जूनियर रिसर्चफेलो) ने "कालिदास पर सांख्य एवं वेदान्त का प्रभाव(विशेष सन्दर्भ - सेश्वर सांख्य)" (The influence of Sankhya and vedanta on Kalidas with special reference to Seshwar sankhya) शीर्षक शोधप्रबन्ध पटना विश्वविद्यालय की पी-एच०डी० उपाधि के लिए मेरे निर्देशन में निर्धारित अवधि में तैयार किया है । यह इनकी मौलिक कृति है । इस पर इन्हें या अन्य किसी को पहले कोई शोधोपाधि प्राप्त नहीं हुई है । इन्होंने इसे पहले किसी अन्य विश्वविद्यालय में शोधोपाधि के लिए प्रस्तुत नहीं किया है ।

मैं इन्हें अपना शोधप्रबन्ध पी-एच०डी० उपाधि के लिए प्रस्तुत करने की अनुमति प्रदान करती हूँ ।

अदिति डे

[प्रो०(श्रीमती) अदिति डे]
अध्यक्षा,
संस्कृत विभाग, पटना विश्वविद्यालय,
पटना

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

---::o::---

आत्म - निवेदन

आत्म निवेदन

कालिदास गिरां सारं कालिदास सरस्वती ।
चतुर्मुखोऽथवा साक्षात् विदुर्नान्ये तु मादृशाः ॥

– मल्लिनाथ

संस्कृत भाषा में महाकवि कालिदास के ग्रन्थों का अवतार उसी प्रकार हुआ यथा ललना में यौवन का और यौवन में लावण्य का । सुरभारती धन्य हो गई, महाकवि की प्रतिभा को प्राप्त कर और आर्ष साहित्य के प्रति व्यायाम बुद्धि से श्लथ्य सहृदय चेतना को भावों का शस्यश्यामल शाद्वल मिला जहाँ बुद्धि के साथ हृदय ने भी विश्राम लिया । भावों के स्नतसिन्धु में सहृदय चेतना को अत्यधिक आनन्द प्राप्त हुआ । प्रकृति में वसन्त का वैभव आत्मा का परमात्मा से मिलन तथा स्वर्ग एवं पृथ्वी के एक ही स्थान पर मिलने की प्रतीति हुई । देश और काल की परिधि से परे महाकवि की प्रतिभा ने विश्व मानव को काव्य रस के आनन्द में निमग्न कर दिया और संस्कृत साहित्य के अध्ययन का आह्वान किया । भारतीय काव्य प्रतिभा का वह अक्षुण्ण स्रोत बना

कालिदास का काव्य भारतीय धर्म, दर्शन, शिल्प साधना में जो कुछ उदात्त, दृप्त, महनीय, ललित और मोहन है उसका प्रयत्नपूर्वक सजाया संवारा गया रूप है देवतात्मा नगाधिराज हिमालय द्वारा विभाजित समुद्र मेखला भारत भूमि ही वह राष्ट्र है जो कालिदास की वाणी में अपने सम्पूर्ण आध्यात्मिक और आधिभौतिक वैभव के साथ प्रकट हुआ है । सौन्दर्य सागर के सम्पूर्ण आवर्त-विवर्तों में पाठक को निमज्जित

कराकर शिव के पुनीत आदर्शों की ओर मोड़ देना ही कवि का अमर सन्देश है । वस्तुतः उपनिषदों से ज्ञान मार्गी अद्वैत साधना का ,रामायण से मानवीय आदर्शों से मुखरित आदर्शवाद का, महाभारत से बौद्धिक चरित्र विकास का, धर्मसूत्रों और स्मृतियों से ब्राह्मण धर्म अनुमोदित आचार संहिता का, पुराणों से भिन्न मानव मण्डलियों में परिव्याप्त मिथक कल्पना के समृद्ध तत्वों का,भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से नाटकीय व्यवस्था का, पाशुपत आगमों से सृष्टि रहस्य का , सांख्य-योग से अन्तःकेन्द्रित चित्समाधि का सार लेकर महाकवि ने अपना जीवन-दर्शन रूपायित किया था । कालिदास के साहित्य मन्दिर में प्रवेश करने का सौभाग्य मुझे स्नातक कक्षा में मिला उसी वेला से उनके काव्यों के प्रति एक विशेष अभिरुचि मेरे हृदय में जागृत हुई । स्नातकोत्तर (पञ्चम वर्ष) में कालिदास के साहित्य को कुछ समीप से देखने का अवसर मिला । स्नातकोत्तर द्वितीय वर्ष में दर्शन विभाग के चयनोपरान्त साहित्य विभाग से सम्बन्ध प्रायः छूट ही गया । काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत का प्रचार एवं प्रसार देख शोध करने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई तथा गुरुजनों के स्नेहसिक्त व्यवहार ने इस जिज्ञासारूप बीज को पल्लवित किया । किन्तु परिस्थितिवशात् स्नातकोत्तर के पश्चात् पटना आगमन हुआ । यहाँ मैंने शोध के प्रति अभिरुचि को अत्यन्त संकोच से अभिव्यक्त किया । फलतः पटना विश्वविद्यालय में शोध यात्रा प्रारम्भ करने के पूर्व मैंने अपनी निर्देशिका प्रो० (श्रीमती) अदिति डे के सम्मुख काव्य एवं दर्शन से सम्बन्धित किसी शीर्षक में अभिरुचि प्रगट की । फलस्वरूप उन्होंने कालिदास के काव्यों में दार्शनिक अध्ययन की ओर संकेत किया तथा कहा "विषय कठिन है किन्तु अध्यवसाय द्वारा सम्भव है ।" उनके इस संकेत एवं इच्छा को ही आदेश

मानकर मैंने यह शोधयात्रा प्रारम्भ की । कविकुलश्रेष्ठ के साहित्य सागर का मन्थन कर दर्शनशास्त्रीय विवेचन विशेषतः सेश्वर सांख्यीय तथा वेदान्त का अध्ययन मेरे समान अल्पज्ञ एवं संघर्ष के वात्याचक्र में ग्रस्त छात्रा के लिए उतना ही कष्टसाध्य था यथा पङ्गु का गिरि लंघन, क्योंकि यह कार्य तो महतो महनीय था । कविकुलगुरु कालिदास की वाणी तथा श्रद्धेया की साक्षात् अनुकम्पा का माध्यम लेकर ही मैंने यह यात्रा प्रारम्भ की ,क्योंकि

महतां संस्तवएव गौरवार्य

बीसवीं शताब्दी में कालिदास की कृतियों के अध्ययन-अध्यापन की विशेष प्रेरणा दी जा रही है । वर्ष में मनाई जानेवाली कालिदास जयन्ती एवं कालिदास एकेडमी की स्थापना से कालिदास का महत्त्व अब स्पष्ट होने लगा है ।

इस युग में कालिदास के काव्य का मूल्यांकन अनेक विद्वानों ने अनेक दृष्टियों से करने का प्रयास किया है, किन्तु जिस दर्शन तत्व के निवेश के कारण उनका माहात्म्य स्वीकृत है , उस दार्शनिक तत्वों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन अभी तक नहीं हुआ है । अतः कालिदास के ग्रन्थों में दर्शन तत्व विशेषतः सेश्वर ~~तत्व का~~ सांख्य तथा निरीश्वर सांख्य और वेदान्त तत्व का विवेचन मैंने अपनी अल्पबुद्धि के द्वारा प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में प्रस्तुत करने का यत्किंचित् प्रयास किया है ।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध मुख्यतया पञ्च भागों में विभक्त है । इसके पश्चात् उपखण्डों जिन्हें यहाँ "सोपान" कहा गया है, के द्वारा विभिन्न दार्शनिक विचारों को अलग-अलग किया गया है । अतः तृतीय अध्याय "कालिदास के काव्यों में दर्शन तत्व" जो मूल प्रतिपाद्य विषय भी है, में सप्त सोपान मैंने किए हैं । कालिदास के ग्रन्थों में दर्शन तत्व जितना नवीन है उतना ही नवीन एवं दुष्कर दर्शन तत्व

का अवगाहन है । दर्शन एवं काव्य के वास्तविक रूप को समझ कर फिर उस कुंजिका के आधार पर कालिदास की ग्रन्थतालिका का उद्घाटन किया जा सकता है । अतः प्रारम्भ में काव्य एवं दर्शन के विषय का विवेचन किया गया है । विभिन्न काव्यशास्त्रियों एवं दार्शनिकों द्वारा दी गई परिभाषाओं, काव्य का स्वरूप, लक्षण एवं उसका प्रयोजन, दर्शन का अर्थ, उद्देश्य, भारतीय दर्शन के मुख्य संप्रदायों का सिंहावलोकन एवं उनके मुख्य सिद्धान्त का संक्षेप में विवेचन किया गया है तथा अन्त में दर्शन एवं काव्य का सम्बन्ध भी उल्लिखित है ।

द्वितीय अध्याय में महर्षि के जीवन वृत्त एवं संस्कृत काव्यों में दर्शन परम्परा के सन्दर्भ में उनकी कृतियों की समीक्षा की गई है । कालिदास के व्यक्तित्व, जीवनवृत्त आदि के विषय में अनेक विद्वानों द्वारा विचार किया गया है । इसी अध्याय के उत्तरार्ध संस्कृत काव्य में दर्शन परम्परा को वेदोपनिषद्, पुराण, महाभारत, रामायण, कालिदास तथा उनके परवर्ती काव्यों में दर्शन का उल्लेख किया गया है ।

तृतीय अध्याय सप्त सोपानों में विभाजित है । प्रथम सोपान में प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं श्रीमद्भगवद्गीता) को आधार मानकर वेदान्त तत्त्व का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है । वेदान्त के मूलभूत सिद्धान्त ब्रह्म (ईश्वर) अध्यास, जगत् की सृष्टि एवं मुक्ति विषयक विवेचन है । तदनन्तर मेघदूतम् तथा विक्रमोर्वशीयम् में प्राप्त वेदान्ततत्त्व को उल्लेख प्राप्त है ।

द्वितीय सोपान में सेश्वरसांख्य (योगदर्शन, पतंजलिकृत योगदर्शन को आधारशिला बनाकर चित्तवृत्ति, क्रियायोग, राजयोग (अष्टांगयोग) विभूति तथा कर्मवाद एवं जन्मान्तर, कैवल्य जो योग दर्शन के मुख्य सिद्धान्त का वर्णन प्राप्त है ।

तृतीय सोपान में ईश्वरकृष्ण द्वारा रचित "सांख्यकारिका" (वाचस्पति भाष्यसहित) के आधार पर दुःखत्रय प्रमाण चर्चा, प्रकृति, गुणवाद, पुरुष, जगत् की सृष्टि एवं मुक्ति विचार, लिङ्ग शरीर, का विवेचन किया गया है । "पुरुष" के स्वरूप विवेचन में "मेघदूतम्" का विशेष अध्ययन किया गया है ।

चतुर्थ सोपान में कवि की रचनाओं में प्राप्त मीमांसा दर्शन का संक्षेप में विवेचन किया गया है । मीमांसा दर्शन के मूल सिद्धान्त धर्म तथा उसके त्रय स्कन्ध यज्ञ, अध्ययन तथा दान, कर्म संस्कार , विधि प्रकरण-मन्त्र, नामधेय अर्थवाद तथा अधिकारविधि, शब्दनित्यत्व, शक्ति एवं अपूर्व, निःश्रेयस् "जैमिनि" शब्द का विशेष विवेचन किया गया है । क्या मीमांसा दर्शन अनीश्वरवादी है ? इस पर भी विचार किया गया है ।

पञ्चम सोपान में न्याय वैशेषिक दर्शन का विवेचन किया गया है । कवि शिरोमणि की समस्त कृतियाँ सांख्य तथा वेदान्त दर्शन की ही उत्कृष्ट निदर्शन है, न्याय वैशेषिक के स्थल प्रायः बहुत ही कम मिलते हैं, तथापि प्रयास द्वारा जो कुछ भी स्थल मिले हैं उन्हीं का विवेचन किया गया है ।

षष्ठ सोपान में जैन एवं बौद्ध इन दो दर्शनों को विवेच्य बनाया गया है । बौद्ध दर्शन के कतिपय संकेत प्राप्त भी होते हैं किन्तु जैन दर्शन का मात्र एक शब्द ही प्राप्त होता है । इनको संक्षेप में उल्लिखित किया गया है ।

सप्त सोपान में शैव दर्शन का विवेचन है । सर्वप्रथम पाशुपत धर्म का उल्लेख है । उत्तरार्ध में प्रत्यभिज्ञा दर्शन का विवेचन किया गया है । कतिपय विद्वानों ने कवि को काश्मीरी शैव माना है । अतः यह प्रसंग कुछ विस्तृत हो गया है ।

चतुर्थ अध्याय में कालिदास तथा ईश्वरकृष्ण का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है । सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० टी०जी० माइणकर ने अपनी पुस्तक में ईश्वरकृष्ण

कालिदास में एकत्व की कल्पना करते हुए विचारगत एवं शब्दगत साम्यताएं प्रस्तुत की हैं । इन विचार का खण्डन डॉ० वा०वि० मिराशी तथा डा० डी०वी० देवस्थली ने किया है । इन्हीं विचारों को इस अध्याय में रखा गया है ।

पञ्चम एवं अन्तिम अध्याय उपसंहार है । उपसंहार में दो प्रमुख विषय विचारणीय है । सर्वप्रथम दर्शन तत्त्व के आधार पर कवि के आविर्भाव काल का विशेष विवेचन किया गया है । उत्तरार्ध में काव्यशास्त्रीय उपादानों का दार्शनिक अध्ययन किया गया है । अन्त में सम्पूर्ण शोध प्रबन्ध का सार विवेचित है ।

इस शोध प्रबन्ध की पूर्णता में हेतुभूत कृतियों के कृतीकर्त्ताओं के प्रति मैं अनारत अधमर्ण रहूंगी जिनकी कृतियों द्वारा कालिदास विषयक अनेक प्रकार की सहायता प्राप्त कर मैं अत्यन्त उपकृत हूँ । कालिदास के ग्रन्थों का अर्थ समझने के लिए मैंने कालिदास ग्रन्थावली एवं मल्लिनाथ टीकाओं की विशेष सहायता ली है ,अतः इन लेखकों के प्रति हृदय से विशेष रूप से आभारी हूँ । दर्शन की ग्रन्थियों के शिथिलीकरण एवं विवेचन के सन्तुलन में यथावान् अमूल्य निदर्शन देकर अनुग्रहीत करने के लिए विविध विद्याविचक्षणा विदुषी गुरुवर्य प्रो० (श्रीमती) अदिति डे , सम्प्रति अध्यक्षा, संस्कृत विभाग, पटना विश्वविद्यालय ,पटना, के प्रति आभार ज्ञापित करते हुए सन्तोष नहीं होता, क्योंकि उनके प्रत्यक्ष अनुग्रह के अभाव में इस ग्रन्थ का अस्तित्व में आना सम्भव नहीं था । परम आदरणीय प्रो० सत्यदेव शास्त्री,(भूतपूर्व अध्यक्ष,संस्कृत विभाग, पटना विश्वविद्यालय) जिन्होंने मुझे इस शोध को लिखने की अवधि में जो समय-समय पर प्रेरणा प्रदान की उनके प्रति मैं श्रद्धानत हूँ । श्रद्धेय डॉ० उमाशंकर शर्मा "ऋषि" (रीडर,संस्कृत विभाग,पटना विश्वविद्यालय) के

प्रति मेरा हृदय सर्वदा कृतज्ञता से उन्नत रहेगा जिन्होंने समय-समय पर पुस्तकें प्रदान की तथा अध्ययन की प्रत्येक सुविधा प्रदान की । गुरुवर्य डॉ० रामगुलाम मिश्रा (प्रवक्ता, पटना विश्वविद्यालय, संस्कृत विभाग, विद्या वारिधि , आचार्य, तथा सीनियर फलोशिप के अन्तर्गत डी० लिट् में संलग्न) के प्रति मैं अत्यधिक कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने अपने अत्यन्त व्यस्त जीवन के मध्य में भी मुझे सहायता प्रदान की । उनकी सहायता से ही उपसंहार प्रदान की में उल्लिखित "कालिदास के काव्यशास्त्रीय उपादानों का दार्शनिक अध्ययन" शीर्षक पूर्ण हो सका है । वस्तुतः उनकी सहायता एवं उपदेश द्वारा ही यह शोध प्रबन्ध पूर्ण हो सका है । डॉ० (श्रीमती) माया सिन्हा, (प्रवक्ता ,पटना वीमेन्स कॉलेज, पटना) के प्रति भी श्रद्धा प्रकट किए विना मैं नहीं रह सकती , जिन्होंने शोधकार्य के अन्तिम चरण में मुझे बहुमूल्य परामर्श प्रदान किये हैं । सिन्हा लाइब्रेरी के प्रति मैं चिर ऋणी हूँ, जहाँ से पुस्तकें उपलब्ध होती रहीं । पटना विश्वविद्यालयीय पुस्तकालय एवं विभागीय पुस्तकालय (सेमिनार लाइब्रेरी) के अधिकारियों के प्रति भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने लेखों, दुर्लभ पुस्तकों की व्यवस्था की । श्री जानकी जीवन जी के सुपुत्र श्री राममोहन प्रसाद के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने शोधप्रबन्ध का कार्य लेकर मेरी अतीव सहायता की ।

प्रस्तुत प्रबन्ध में कालिदास के ग्रन्थों में आए प्रसंगों का अनेक दृष्टिकोणों से विवेचन किया गया है । यथाविविध कोणों से लिखा गया एक ही चित्र भिन्न-भिन्न भावों का प्रदर्शन करता है उसी प्रकार एक ही प्रसंग का भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विवेचन किया गया है अतः उसे पुनरावृत्ति नहीं समझना चाहिये । स्वयं कालिदास ने कहा है --

रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते ,

देशे देशे गुणेष्वेवमवस्थास्त्वमविक्रियः । रघु० १०-१७

मेरी अल्पज्ञ मति अपने ढंग से कालिदास के साहित्य सागर में मोती ढूँढ रही है । अन्ततः अपनी अल्पमति द्वारा गुण-दोषों से युक्त इस शोधग्रन्थ को स्वशुभेच्छुओं एवं विद्वज्जनों की सेवा में निवेदित करती हूँ । आशा है विद्वानों को उससे उद्वेग न होगा ।

विनीता
मीनाक्षी प्रसाद
कुमारी मीनाक्षी प्रसाद

वैशाख पूर्णिमा,
सम्वत् - २०३८

संकेत सूची

संकेत - सूची

अ०पु०	----	अग्निपुराण
अभि०	----	अभिज्ञानशाकुन्तलम्
अ०सं०	----	अर्थ संग्रह
ई० प्र०	----	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा
ई० प्र० वि०	----	ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्श
ईशावा०	----	ईशावास्योपनिषद्
उत्तर०	----	उत्तररामचरित
उ०मे०	----	उत्तर मेघ
ऋ०	----	ऋग्वेद
ऋ०पु०सू०	----	ऋग्वेद पुरुष सूक्त
कु० ,कुमार०	----	कुमारसम्भवम्
कू० पु०	----	कूर्म पुराण
कौ०	----	कौषीतकि
कनो०,के०उ०	----	केनोपनिषद्
कठ०, क०उ०	----	कठोपनिषद्
का० प्र०	----	काव्य प्रकाश
छा०,छा०उ०	----	छान्दोग्योपनिषद्
त० सं०	----	तर्क संग्रह
तै० उ०	----	तैत्तिरीय उपनिषद्

नी०पु०	----	नीलमत पुराण
न्या० सू०	----	न्याय सूत्र
नैषध०	----	न्सम नैषधीय चरित
ना० शा०	----	नाट्य शास्त्र
ना० पु०	----	नारदीय पुराण
प० सा०	----	परमार्थसार
प०पु०	----	पद्मपुराण
पू०मे०	----	पूर्वमेघ
पा०सू०	----	पातञ्जल सूत्र
प्र० ह०	----	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
भा०पु०	----	भागवत पुराण
भा०गी० , गी०	----	भगवद्गीता
ब्र०सू०	----	ब्रह्मसूत्र
वृ ह०	----	वृहदारण्यक
वृ० उ०	----	वृहदोपनिषद्
मी० न्याय प्र०	----	मीमांसा न्याय प्रकाश
मुण्ड०, मु०उ०	----	मुण्डकोपनिषद्
मनु०	----	मनुस्मृति
महा०	----	महाभारत
मालविका०	----	मालविकाग्निमित्रम्

मा०मा०	----	मालतीमाधवम्
मा०पु०	----	मार्कण्डेय पुराण
यो०सू०	----	योगसूत्रम्
यजु०	----	यजुर्वेद
यो०वा० मु०	----	योगवासिष्ठ मुमुक्षु
याज्ञ० स्मृ०	----	याज्ञवल्क्य स्मृति
रघु०	----	रघुवंशम्
विक्रम०	----	विक्रमोर्वशीयम्
वि०पु०	----	विष्णुपुराण
वा०पु०	----	वायु पुराण
शिशु०	----	शिशुपालवधम्
शु० य०	----	शुक्लयजुर्वेद
स०द०सं०	----	सर्वदर्शनसंग्रह
सां० का०	----	सांख्यकारिका

:: -÷- ::

++++++++++++
प्रथम अध्याय
++++++++++++

दर्शन एवं काव्य -- एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

विषय प्रवेश, दर्शन शब्द का अर्थ, धर्म एवं दर्शन, दर्शन शास्त्रों की प्रवृत्ति का उद्धेश्य, भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदाय, भारतीय दर्शन का सिंहावलोकन -- चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य-योग न्याय-वैशेषिक, मीमांसा वेदान्त, भारतीय दर्शन के सामान्य सिद्धान्त, काव्य का लक्षण, प्रयोजन तथा हेतु, दर्शन एवं काव्य का समन्वय तथा संस्कृत कवियों की काव्य के माध्यम से दर्शन परम्परा की स्थूल दृष्टि ।

दर्शन एवं काव्य -- एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का प्रतिपाद्य विषय है "कालिदास के काव्यों में भारतीय दर्शन का प्रभाव" । अतः दर्शन एवं काव्य दोनों पर सम्यक् विचार कर लेना समीचीन है । इस अध्याय में सर्वप्रथम "दर्शन" ही विवेच्य बना है । दर्शन संस्कृत वांगमय की परिधि में एक बिन्दु स्वरूप है , अतः प्रारम्भ परिधि के विस्तृत क्षेत्र से ही करना उपयुक्त होगा । संस्कृत वांग्मय के लिए साधारणतया संस्कृत साहित्य शब्द का प्रयोग होता है ।

दर्शन शब्द का अर्थ है -- "दर्शनशब्दो दृश् धातोर् ईक्षणार्थकान् निष्पन्नः सामान्येन चाक्षुषं प्रत्यक्षम् अभिदधत् अपि विचारदृशाऽन्तर्दृष्ट्या वा पदार्थ-निभालने वर्तमानो दृश्यतेऽनेनेतिकरणव्युत्पत्तया विचारशास्त्रम् इति ख्यातम् आधत्ते ।"[१]

इस प्रकार दृश् (दृशिर् प्रेक्षणे) का अर्थ प्रेक्षण है । प्रेक्षण से तात्पर्य प्रकृष्ट रूप से देखना है । अतः ज्ञानदृष्टि या दिव्य दृष्टि से देखना ही दर्शन शब्द का अभिधेय है । इस आधार पर जिसके द्वारा तत्त्व दर्शन अथवा आत्मदर्शन हो , उसे

१- डा० शिवप्रसाद भारद्वाज -- "संस्कृत निबन्धरत्नाकर" , पृ० ६० ।

दर्शन कहा गया है । उपनिषद्काल में इस "आत्म दर्शन" के अर्थ में दर्शन शब्द का प्रयोग होने लगा था तथा आत्म दर्शन ही प्रमुख दर्शन था । शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध उपनिषद् में कहा भी गया है ।[1] इस श्लोक में दृष्टये शब्द दर्शन अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद्[2] में भी दर्शन शब्द का आत्मदर्शन अर्थ में प्रयोग हुआ है । मनु[3] तथा याज्ञवल्क्य ने आत्मदर्शन को सम्यग्दर्शन या आत्मदर्शन के अर्थ में प्रयोग किया है । वस्तुतः सत्य (ब्रह्म) का दर्शन अथवा अपने स्वरूप को पहचानना ही दर्शन कहा जा सकता है । जैन दर्शन में इसे सम्यग्दर्शन तथा बौद्ध दर्शन में सम्यग्दृष्टि के नाम से अभिहित किया जाता है ।

दर्शन को शास्त्र कहा गया है ।[4] शास्त्र की व्युत्पत्ति दो धातुओं से है शास् = आज्ञा करना तथा शंस् = प्रकट करना या वर्णन करना । शासन करने-वाले शास्त्र विधिरूप तथा निषेध रूप होने के कारण दो प्रकार के हैं । श्रुति तथा स्मृति प्रतिपादित कार्य अनुष्ठान करने योग्य है तथा निन्दित कर्म कलाप सर्वथा हेय है । अतः शासन अर्थ में शास्त्र शब्द का प्रयोग धर्मशास्त्र के लिए उपयुक्त है । शंसक शास्त्र अथवा बोधक शास्त्र है जिसके द्वारा वस्तु के सच्चे स्वरूप का वर्णन किया जाए । शासन शास्त्र क्रियापरक है किन्तु शंसक शास्त्र ज्ञानपरक है । शंसक शास्त्र के अर्थ

१- हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ ईशावा०

२- आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः छा० उ० ।

३- सम्यक् दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ मनु स्मृति ६.७४

४- शासनात् शंसनात् शास्त्रं शास्त्रमित्यभिधीयते ,
शासनं द्विविधं प्रोक्तं शास्त्रलक्षणवेदिभिः ,
शंसनं भूतवस्त्वेकविषयं न क्रियापरम् ॥

में ही शास्त्र का प्रयोग दर्शन शब्द के साथ होता है । धर्मशास्त्र कर्त्तव्याकर्त्तव्य का प्रधानतया विधान करने से पुरुष परतन्त्र है , किन्तु दर्शनशास्त्र वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादक होने से वस्तुतन्त्र है । अतः धर्म एवं दर्शन में पर्याप्त साम्यता प्राप्त होती है । वस्तुतः दर्शन एवं धर्म , तत्त्वज्ञान तथा भारतीय जीवन का गहरा सम्बन्ध है । त्रिविध ताप से संतप्त जनता की शान्ति के लिए, क्लेशमय विश्व से आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति के लिए ही भारत में दर्शन शास्त्र का आविर्भाव हुआ है । दर्शनशास्त्र के द्वारा सुचिन्तित आध्यात्मिक तथ्यों के ऊपर ही भारतीय धर्म की दृढ़ प्रतिष्ठा है , क्योंकि धार्मिक आचार के द्वारा कार्यान्वित हुए बिना दर्शन की स्थिति निष्फल है तथा दार्शनिक विचार के अभाव में परिपुष्ट धर्म की सत्ता अप्रतिष्ठित है । जीवन तथा धर्म के ऊपर प्रकृष्ट प्रभाव डालने के कारण ही दर्शन की लोकप्रियता है ।

दर्शन शास्त्रों की प्रवृत्ति का क्या उद्देश्य है? प्राणिमात्र की प्रवृत्ति सुख के प्रति है तथा वह क्षणमात्र के लिए भी दुःख की इच्छा नहीं करता । सांसारिक दुःखों से उद्विग्न होने पर भी कतिपय व्यक्तियों की आत्महत्या के प्रति जो प्रवृत्ति होती है , वह भी सुख के ही मोह से होती है ।[1] किन्तु सुख क्या है ? इस प्रश्न का समाधान साधारण जन समाज नहीं कर सकता वह कामोपभोग में तत्पर रहकर इन्द्रियों की तृप्ति को ही परम सुख मानकर चलता है किंतु तत्त्वज्ञ विद्वानों का कथन है कि वह दुःखमिश्रित होने के कारण त्याज्य है । अतः ऐहिक सुखोपभोग दुःख से पूर्ण होने के कारण विषमिश्रित मधु के तुल्य हैं , अतः उन्हें त्यागकर ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक सुख की खोज तथा उसकी उपलब्धि के लिए तत्त्वज्ञ विद्वान् स्वयं

१- "दुःखादुद्भजे लोकः सर्वस्य सुखमीप्सितम् " ।

प्रयत्नशील रहकर दुःखसागर में निमग्न हुए सामान्य जन के उद्धारार्थ उसका प्रचार तथा प्रसार करते हैं । अतः प्राचीन तपोनिष्ठ महर्षियों ने विश्व के स्वरूप को समझाने का जो प्रयत्न अपनी कुशाग्र बुद्धि के बल पर किया वह विचारशास्त्र के इतिहास में अत्यन्त गौरव की वस्तु है । इन अनेक रूपात्मक , क्षण-क्षण में विलक्षण रूप धारण करनेवाले पदार्थों के अन्तस्तल में विद्यमान रहनेवाली एकरूपता , अनेकता के अन्दर एकता का खोज निकालना, प्राचीन वैदिक ऋषियों की दर्शनशास्त्र को बहुमूल्य एवं महत्त्वपूर्ण देन है । प्राचीन दार्शनिकों ने ब्रह्माण्ड तथा पिण्डापिण्ड की नियामक सत्ता का ऐक्य सर्वतोभावेन स्वीकार किया है , अतः ब्रह्म एवं आत्मा की एकता प्रतिपादित हुई है , क्योंकि मनीषियों के मतानुसार ब्रह्माण्ड की नियामक सत्ता की संज्ञा ब्रह्म तथा पिण्डाण्ड की नियामक सत्ता की संज्ञा आत्मा है । ब्रह्म अलभ्य, अलौकिक और अद्भुत पदार्थ नहीं , प्रत्युत प्रत्येक प्राणी अपने अन्तःनियामक आत्मा के रूप में उसकी सत्ता का अनुभव किया करता है । अतः आत्मा का साक्षात्कार कर ब्रह्म को पहचानना तथा दुःखत्रय से मुक्ति प्राप्त करना ही दर्शन का उद्देश्य है ।

(भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदाय हैं । वस्तुतः भारतीय दर्शन अमृत नद है , जिसकी अनेक पुनीत विचार धाराएं भारत भू पर प्रवाहित हो रही हैं , जिसमें अवगाहन कर मानव जन्म जन्मान्तरों के कालुष्य से मुक्त होकर परम कैवल्य को प्राप्त कर लेता है । भारतीय दर्शन के विचारों का विकास विभिन्न सम्प्रदायों के रूपों में देखा जाता है , जिसके आधार पर उनका वर्गीकरण किया जाता है । प्रायः षड्दर्शन नाम के आधार पर दर्शनों की संख्या छः मानी गई है , किन्तु इस सम्बन्ध में आचार्यों में परस्पर मतभेद दृष्टिगत होता है । आचार्य शंकर ने अपने ग्रन्थ

"सर्वसिद्धान्तसंग्रह" में लोकायत , आर्हत , बौद्ध , न्याय , वैशेषिक , मीमांसा , सांख्य पातंजल , व्यास तथा वेदान्त -- इन दस दर्शन सम्प्रदायों का उल्लेख किया है । जिनदत्तसूरि के "षड्दर्शनसमुच्चय" में जैन , बौद्ध , मीमांसा , सांख्य , शैव तथा नास्तिक -- षट्दर्शनों का निर्देश है । माधवाचार्य के सर्वदर्शनसंग्रह में षोडश दर्शनों का विवेचन मिलता है । जयन्तभट ने "शिवमहिम्नस्तोत्र" की टीका में छः आस्तिक तथा छः नास्तिक दर्शनों का उल्लेख किया है । उपर्युक्त वर्गीकरण को समीचीन न मानकर भारतीय विद्वानों ने भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय को आस्तिक एवं नास्तिक दो वर्गों में विभाजित किया है ।[1] इस अर्थ में अस्ति एवं नास्ति शब्दों से "अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः"[2] सूत्र से "ठक" प्रत्यय होकर आस्तिक तथा नास्तिक शब्दों का निर्माण होता है , किन्तु इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को स्वीकार करने पर जैन तथा बौद्ध दर्शन की गणना भी आस्तिक दर्शनों में होने लगती है क्योंकि दोनों दर्शन परलोक में विश्वास रखते हैं , किन्तु यह अर्थ उचित नहीं । वस्तुतः जो वेदों को प्रमाण बुद्धि से देखते हैं , वे आस्तिक कहे जाते हैं तथा वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास न कर उसकी निन्दा करनेवाला नास्तिक दर्शन कहलाता है ।[3] वेदों की प्रमाणिकता मानने के कारण न्याय-वैशेषिक , सांख्य - योग , मीमांसा - वेदान्त आस्तिक तथा चार्वाक , बौद्ध तथा जैन नास्तिक दर्शन कहे जाते हैं ।

१- अस्ति परलोक इति मतिर्यस्य सः आस्तिकः ।
   नास्ति परलोक इति मतिर्यस्य सः नास्तिकः ।

२- पा० सू० ४-४-६०

३- किण्वादिभ्यः मद्शक्तिवत् -- स० द० सं० , पृ० १५ ।

चार्वाकों को लोकायत तथा जड़वादी संज्ञा से भी विभूषित किया गया है । इनके मतानुसार मन तथा चैतन्य की उत्पत्ति जड़ से होती है , इसी कारण इस दर्शन में आध्यात्मिकता की भावना ध्वनित नहीं होती है / लोकायतों के मतानुसार प्रत्यक्ष अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ही विश्वासयोग्य ज्ञान प्राप्त हो सकता है वही एक-मात्र यथार्थज्ञान है । अतः अनुमान एवं आप्तवाक् द्वारा सिद्ध ईश्वर , वेद , वैदिक कर्मकाण्ड भी स्वतः असिद्ध हो जाते हैं । विश्व चतुर्भूतों से निर्मित है तथा मृत्यूपरान्त वे पुनः भूतों में मिल जाते हैं । "चैतन्यविशिष्ट देह एव आत्मा" के आधार पर चैतन्य अभौतिक तत्त्व आत्मा का गुण नहीं है । आत्मा का भी प्रत्यक्ष नहीं होता[1] तथा शरीर से भिन्न अस्तित्व न रहने के कारण उसके नित्यत्व या अमरतत्त्व का प्रश्न नहीं उठता । मृत्यु के साथ ही साथ जीवन समाप्त हो जाता है अतः पुनर्जीवन , भविष्यजीवन , कर्मवाद - पुनर्जन्म , की कल्पना व्यर्थ है । नैतिक विचारों पर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि स्वर्ग की कल्पना उनके दर्शन में निराधार है , क्योंकि दुःखों से ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक मुक्ति प्राप्त नहीं होती । अतः दुःखमिश्रित सुख का भोग करना चाहिए । पुरुषार्थ में अर्थ एवं काम ही मान्य है तथा काम ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य होना चाहिए । यागादि कर्म तथा प्रेतात्माओं की तृप्ति के लिए वैदिक कर्मों का अनुष्ठान व्यर्थ है तथा यज्ञों में बलिदान पर कठोर कुठाराघात करते हैं । उनका एकमात्र उद्देश्य लौकिक सुख है ।[2]

१- किण्वादिभ्यः मदशक्तिवत् स० द० सं० पृ० ४

२- यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् न हि मृत्युरगोचरः ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥ स० द० सं० , पृ०३[illegible] ।

जैन दार्शनिकों ने प्रत्यक्षातिरिक्त अनुमान एवं शब्द की भी सत्ता स्वीकार की है । जैनों ने भी ज्ञान के दो भेद स्वीकार किए हैं -- अपरोक्ष तथा परोक्ष । अपरोक्ष ज्ञान दो प्रकार का हो सकता है -- अपेक्षाकृत अपरोक्ष तथा पारमार्थिक अपरोक्ष । पारमार्थिक अपरोक्ष अवधि , मनः पर्याय एवं केवल के भेद से त्रिवर्ग में विभाजित है । इसके अतिरिक्त मति एवं श्रुत दो प्रकार के लौकिक ज्ञान है ।

परामर्शसम्बन्धी मतों के अन्तर्गत स्याद्वाद तथा सप्तभंगीनय विशेष स्थान रखते हैं । तत्वमीमांसा के विषय में जैन दार्शनिकों के विभिन्न मत हैं । प्रथम मतानुसार जीव तथा अजीव दो तत्व हैं । अन्य दार्शनिक प्रपंच द्वारा पंचतत्वों को स्वीकार करते हैं । कुछ अन्य सप्ततत्त्व स्वीकार करते हैं ।

जैन दर्शन का प्रधान उद्देश्य बन्धन से मुक्ति है । तीर्थंकारों के जीवन तथा उसके उपदेश इसके प्रमाण हैं कि मोक्ष प्राप्ति सर्वथा सम्भव है ।[1] सम्यक् दर्शन , ज्ञान एवं चरित्र को जैन दार्शनिक त्रिरत्न अलंकरण रूप स्वीकार करते हैं ।

बौद्ध दर्शन का प्रारम्भ गौतम बुद्ध के उपदेशों से प्रारम्भ हुआ है तथा उनके उपदेशों के साथ चार आर्य सत्यों में निहित है । इन्हीं पर आधारित चार दार्शनिक सिद्धान्त अवलम्बित हैं -- (क) प्रतीत्य समुत्पाद , (ख) कर्म , (ग) क्षणिकवाद , (घ) अनात्मवाद ।

बौद्धदार्शनिक ने चार प्रकार की भावना से परम पुरुषार्थ का वर्णन किया है अतः माध्यमिक , योगाचार , सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक के नाम प्रसिद्ध हैं ।

1- "सम्यग्दर्शन चारिताणि मोक्षमार्गः" तत्त्वार्थाधिगमसूत्र

माध्यमिक अथवा शून्यवाद नागार्जुन से सम्बद्ध है । जिनके मतानुसार विश्व असत् या शून्य है तथा द्रष्टा , दृश्य-दर्शन सभी स्वप्नवत् भ्रम हैं तथापि शून्य का अभिप्राय ऐसा सत् है जो चतुष्कोटि से विलक्षण एवं अनिर्वचनीय है । व्यावहारिक समस्त वस्तुएं शून्य या असत् है , किन्तु उनकी पृष्ठभूमि में ऐसी सत्ता है जो अनौपचारिक तथा अविकृत है ।

योगाचार या विज्ञानवाद दिंगनाग , धर्मकीर्ति ,असंगादि आचार्यों की छत्रछाया में पुष्पित हुआ । विज्ञानवादियों के मतानुसार समस्त वाह्य पदार्थ असत्य हैं , किन्तु जो वस्तु वाह्य दृष्टिगत होती है वह चित्त की प्रतीति मात्र है । आलय तथा प्रवृत्ति विज्ञान इसके मुख्य सिद्धान्त हैं ।

सौत्रान्तिकानुसार मानसिक एवं वाह्य दोनों पदार्थ सत् है , यद्यपि वाह्यपदार्थों का ज्ञान अनुमान से होता है , उनके प्रत्यक्ष के लिए विषय चित्त , इन्द्रियों तथा सहायक तत्वों की अपेक्षा है । इनके परस्पर मिलने से मन में उत्पन्न होनेवाले विषय का विचार या अनुकृति प्राप्त होती है । मानसिक धारणाओं से ही मन वाह्यपदार्थों का अनुमान कर लेता है , ये मात्र वर्तमान की सत्ता स्वीकार करते हैं ।

वैभाषिक वाह्यवस्तुओं को अनुमेय स्वीकार न कर पूर्णतया प्रत्यक्षगम्य स्वीकार करते हैं क्योंकि प्रत्यक्षभाव में उनकी सत्ता दूसरे साधन से सिद्ध नहीं हो सकती । वैभाषिक क्योंकि समस्त कालों की सत्ता स्वीकार करते हैं , अतः "सर्वास्तिवादी" भी कहे गए हैं ।

धार्मिक प्रश्नों के आधार पर बौद्धमत द्विविध सम्प्रदायों में विभाजित

है -- हीनयान तथा महायान । दोनों में निर्वाण के उद्देश्य के प्रश्न पर मतभेद है ।

सांख्यदर्शन तत्त्वप्रधान दर्शन है । इसमें पंचविंशति तत्त्वों[1] पर सूक्ष्म एवं विस्तार के साथ विचार किया गया है । महर्षि कपिल इस दर्शन के प्रणेता हैं । सांख्य दर्शन प्रमाणत्रय , सत्कार्यवाद , लिंगशरीर का पोषक है । मूल प्रकृति नित्य जड़ तथा परिवर्तन शील है तथा गुणत्रय उसके उपादान हैं । द्वितीय तत्त्व पुरुष निरपेक्ष एवं नित्य है किन्तु अविद्या के कारण इन्द्रिय , मन तथा शरीर से पृथक् नहीं मानता । वस्तुतः वह स्वयं स्वतः चैतन्य , स्वयंभू , नित्य , सर्वव्यापी सत्ता है । पुरुष - प्रकृति के संयोग से ही सृष्टि प्रारम्भ होती है तथा विकार प्रकृति का परिणाम है किन्तु भ्रमवश पुरुष स्वयं को कर्ता तथा भोक्ता समझने लगता है यही बन्धन का कारण है । तत्वज्ञान द्वारा अपवर्ग की प्राप्ति होती यह सांख्यकारों का कथन है । सांख्य निरीश्वरवादी है ।

महर्षि पतंजलि योगदर्शन के प्रवर्तक है तथा योगदर्शन का मुख्य विषय योगाभ्यास है । योग सम्प्रज्ञात - असम्प्रज्ञात दो प्रकार की समाधियां स्वीकार करता है । चित्त की पंचभूमियां मानी गई है । योग के तीन प्रमुख मार्ग है - ज्ञानयोग , कर्मयोग तथा भक्तियोग । योगाभ्यास के अष्टांग है जिन्हें योगांग कहा गया है । योगाभ्यास द्वारा साधक को विशेष सिद्धियां प्राप्त होती है । योग दर्शन सेश्वर सांख्य है तथा ईश्वर को भक्ति का विषय माना गया है । प्रमाणत्रय तथा शेष पंचविंश

१- मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिर्पुरुषः ॥ सां० का० ३

तत्वज्ञान द्वारा मुक्ति आदि सिद्धांतों में सांख्य - योग में पूर्णतया समानता है ।

न्याय दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम हैं । न्याय वस्तुवादी दर्शन है तथा इसका प्रतिपादन विशेषतः युक्तियों के द्वारा हुआ है । नैयायिक चतुर्प्रमाणों की सत्ता स्वीकार करते हैं -- प्रत्यक्ष , अनुमान , उपमान एवं शब्द । न्यायदर्शन में आत्मा , देह , इन्द्रिय तथा उनके द्वारा ज्ञातव्य विषय बुद्धि , मन , प्रवृत्ति , दोष, प्रेत्यभाव , फल , दुःख तथा अपवर्ग इन विषयों को प्रमेय कहा गया है । अन्यान्य भारतीय दर्शनों के समान न्याय का लक्ष्य भी आत्मा को शरीर , इन्द्रियों तथा सांसारिक विषयों के बन्धन से मुक्त करना है । आत्मा शरीर तथा मन से भिन्न है । मिथ्या ज्ञान राग-द्वेष तथा मोह से प्रेरित होकर आत्मा अच्छे या बुरे कार्यों को करता है , फलस्वरूप उसे जन्म मरण के चक्र में फंसना पड़ता है । तत्वज्ञान द्वारा समस्त दुःखों का अन्त होता है , तब मुक्ति की प्राप्ति होती है , इसी अवस्था को अपवर्ग कहा गया है । मुक्तात्मा चैतन्यहीन तथा सुख दुःख से परे हो जाती है । नैयायिक ईश्वर के अस्तित्व को अनेक युक्तियों से सिद्ध करते हैं ।

महर्षि कणाद वैशेषिक दर्शन के प्रणेता हैं । यह दर्शन भी वस्तुवादी है तथा न्याय दर्शन के सिद्धान्तों से समानता रखता है । इसका मुख्य उद्देश्य प्राणियों को अपवर्ग प्राप्त कराना है । यहदर्शन प्रत्यक्ष एवं अनुमान - प्रमाणद्वय की सत्ता स्वीकार करता है तथा विशेष पदार्थ को स्वीकार करने के कारण उसे वैशेषिक संज्ञाप्राप्त है । ईश्वर तथा मोक्ष के विषय में दोनों दर्शनों में पूर्ण साम्य है ।

मीमांसा दर्शन का आरम्भ "मीमांसासूत्र" से हुआ है , जिसके रचनाकार महर्षि जैमिनि हैं । इसका चरम उद्देश्य वैदिक कर्मकाण्ड की पुष्टि करना है । कर्म-

विषयक होने के कारण इसे कर्मकाण्ड भी कहा गया है । वेद का प्रामाण्य सिद्ध करने के लिए प्रभा , प्रमाण का विशद विवेचन इस दर्शन में प्राप्त है । प्रामाण्यविचार में मीमांसकों के दो मत हैं । भाट्ट छः प्रमाणों की सत्ता मानते हैं किन्तु प्रभाकर पंच । मीमांसक "स्वतः प्रामाण्यवाद" को मानते हैं । भ्रम के विषय में प्राभाकर "अख्यातिवाद" तथा भाट्ट "विपरीतख्यातिवाद" को स्वीकार करते हैं । धर्म इनका अभीष्ट है तथा निःश्रेयस् अर्थात् नित्य निरतिशय आनन्दस्वरूप स्वर्ग की प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य है । समस्त यज्ञादि कर्मों का उद्देश्य स्वर्गप्राप्ति है ।[1] जीवात्मा के बन्धन एवं मोक्ष के विषय में अन्य आस्तिक दर्शनों से पर्याप्त समानता है ।

वेदान्त दर्शन की उत्पत्ति उपनिषदों से हुई हैं । उपनिषद् में वैदिक विचारधारा विकास के शिखर पर प्रतिष्ठित है जिन्हें बादरायण ऋषि ने ब्रह्मसूत्र में संकलित किया है । उपनिषद् में ब्रह्म मुख्य प्रतिपाद्य है जिसको "सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म", "सर्वं खल्विदं ब्रह्म", "नेह नानास्ति किंचन" द्वारा व्यक्त किया गया है । ब्रह्मसूत्र पर अनेक भाष्य लिखे गए हैं , जिनमें शंकराचार्य का अद्वैतवाद , रामानुज का विशिष्टाद्वैत, निम्बार्क का द्वैताद्वैतवाद , मध्वाचार्य का द्वैतवाद , वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद प्रधान है ।

समस्त भारतीय दर्शनों के सामान्य सिद्धान्त प्रायः समान हैं , क्योंकि सभी दर्शनों का एक मात्र उद्देश्य निरतिशय दुःख की निवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति है । महात्मा बुद्ध ने त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए चार आर्यसत्यों का अन्वेषण किया । इसी प्रकार अन्य दार्शनिक सम्प्रदाय भी दुःखोच्छेद के लिए दुःख , दुःखहेतु,

----

१- "स्वर्गकामो यजेत "

मोक्ष तथा मोक्षोपाय रूप चतुर्व्यूहात्मक सिद्धान्त पर विचार करते हैं। इसके अतिरिक्त कर्मवाद, पुनर्जन्म, आत्मा, ईश्वर, प्रमाण आदि दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त हैं। दर्शन का उद्भव वैदिक युग में ही हो चुका था। ऋग्वेद की ऋचाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस युग में मन्त्रद्रष्टा ऋषि विश्व के रहस्य की व्याख्या करने लगे थे। वैदिक युगीन उर्वरा भूमि में ही दर्शनों के अंकुर निरूपित हो गए थे तथा वे संहिता ब्राह्मण एवं आरण्यकों में विकास पाते हुए उपनिषदों में पल्लवित हो गए थे। उपनिषदों का प्रमुख सिद्धान्त "तत्त्वमसि" है, जिसमें जीव एवं ब्रह्म की एकता का तत्त्व प्रतिपादित है। प्रायः समस्त आस्तिक दर्शन "तत्त्वमसि" महावाक्य के यथार्थस्वरूप की व्याख्या करते हैं। /

"लोकोत्तरवर्णननिपुणकर्म काव्यमिति काव्यस्य सामान्यं स्वरूपम्"[१] भारत का प्रत्येक मान्य आलोचक अपनी दृष्टि से काव्य का स्वरूप निर्धारित करता है, अतः दृष्टियों की भिन्नता के कारण काव्य लक्षण में पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। सर्वप्रथम भगवान् व्यास ने अग्निपुराण में काव्य लक्षण का निर्देश किया है।[२] अग्निपुराण के पश्चात् भामह एवं दण्डी प्रभृति काव्याचार्यों ने जिन्हें अलंकारवाद का प्रवर्तक कहा जाता है, काव्यस्वरूप में अलंकार को ही सर्वस्व माना है।[३] भामह, उद्भट, रुद्रट, आनन्दवर्धन ने शब्द और अर्थ का सहभाव रूप काव्य स्वीकार किया है।[४] दण्डी ने

१- संस्कृत निबन्ध रत्नाकर : -- डा० राजकिशोर सिंह, धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री, पृ० ८३।
२- संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम् ॥ अ० पु०
३- अलंकृत शब्दार्थयुगल भामह
४- शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। आनन्दवर्धन

अग्निपुराण के अनुसार ही काव्यलक्षण स्वीकार किया है ।[1] रसगंगाधर के प्रणेता पंडित जगन्नाथ ने काव्य की परिभाषा भिन्न रूप से दी है ।[2]

×(अलंकारवाद के पश्चात् काव्य की समीक्षा से रीतिवाद का उद्भव हुआ है । रीतिवाद के अनुसार भी काव्य का स्वरूप विशिष्ट शब्दार्थ रचना है किन्तु पद रचना के इस वैशिष्ट्य में अलंकारों का सहयोग नहीं अपितु अलंकार सौन्दर्य का सहायक है । रीतिवादी आचार्य वामन का दृष्टिकोण एक दृष्टि से समन्वयात्मक हो गया है क्योंकि इसके अनुसार "काव्य" और "लोक" दोनों में सौन्दर्य ही ग्राह्यता अथवा उपादेयता का निमित्तभूत माना गया है । वामन के लिए अलंकार सौन्दर्य का वाचक है ।[3]

आनन्दवर्धन ने यद्यपि काव्य लक्षण की कोई परिभाषा प्रदान नहीं की, तथापि उनके कथन से ज्ञात होता है कि उन्होंने शब्द एवं अर्थ को ही काव्य का शरीर माना है ।[4] महाराज भोज ने काव्य लक्षण को अत्यन्त स्पष्ट तथा सरल बनाकर समस्त आवश्यक तत्त्वों का सन्निवेश कर दिया है ।[5] विश्वनाथ[6] तथा जयदेव[7] ने काव्य को भिन्न प्रकार से पारिभाषित किया है । भामह एवं वामन की काव्यविषयक धारणाओं के

१- "शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली" काव्यादर्श
२- "रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" रसगंगाधर
३- काव्यं ग्राह्यमलंकारात् । सौन्दर्यमलंकारः । स च दोषागुणालंकारहानादानाभ्याम् । रीतिरात्मा काव्यस्य । (काव्यलंकारसूत्रवृत्ति)
४- "शब्दार्थयुगलं तावत्काव्यम्" आनन्दवर्धन
५- निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलङ्कृतम् ।
रसात्मकं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति । स० क०
६- वाक्यं रसात्मकं काव्यम् । विश्वनाथ
७- निर्दोषालक्षणवती सरीतिगुण गुम्फिता ।
सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक् ॥ जयदेव

समन्वय में वक्रोक्तिवाद की उत्पत्ति हुई है , जिसके प्रणेता कुन्तक हैं । वक्रोक्तिवाद के अनुसार काव्य का साथभूत तत्व वक्रोक्ति ही है । यह विशिष्ट शब्दार्थ साहित्य रूप काव्य को कवि कौशल सिद्ध करती है ।[1]

इस प्रकार ज्ञात होता है कि चमत्कारपूर्ण , रसात्मक , गुणालंकार युक्त निर्दोष वाक्य को काव्य कहते हैं । अन्य विद्वज्जनों ने भिन्न रूप में काव्य को पारिभाषित किया है । मम्मट का काव्यस्वरूप निरुपण काव्यविषयक प्राचीन और नवीन धारणाओं और भावनाओं का सामंजस्यपूर्ण समन्वय है ।[2] मम्मट के पूर्ववर्ती काव्याचार्य जहाँ अपनी क्से काव्य लक्षण का अन्त करते हैं , मम्मट का काव्य लक्षण वहां से प्रारम्भ होता है तथा मम्मट के उत्तरवर्ती मम्मट कृत काव्य लक्षण की आलोचना - प्रत्यालोचना में ही अपने काव्य लक्षण की रूपरेखा रचते प्रतीत होते हैं ।)X

"प्रयोजनममुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते" न्यायानुसार मन्दबुद्धि व्यक्ति भी निष्प्रयोजन कार्य में प्रवृत्त नहीं होते । अतः काव्य प्रयोजन विचार की परम्परा एक प्राचीन परम्परा है । काव्य कला है तथा कविकर्म एक लोकोत्तर कर्तव्य कर्म है -- इस दृष्टि से काव्य में कवि , काव्य चिन्तक तथा काव्य रसिक के प्रयोजन की प्रायः एकरूपता मानी गई है । इस मान्यता में भी कार्य काव्य की लोकोत्तरता ही कारण है । सर्वप्रथम प्रयोजक विचारक नाट्याचार्य भरतमुनि हैं ।[3] भरतमुनि के नाट्य

१- शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी ।
   बन्धेव्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी । कुन्तक
२- तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि । मम्मट का० प्र०
३- वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम् । विनोदजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ।
   दुःखार्त्तानां श्रमार्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम् ।
   विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ॥ ना० शा० १

प्रयोजन दर्शन में लोकायत मत की सुखप्राप्ति की गन्ध नहीं , अपितु वैदिक दार्शनिक विचारधारा की सुख शान्ति की भावना छिपी है । भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित यह नाट्य प्रयोजन ही सर्वप्रथम आलंकारिक आचार्य भामह की दृष्टि में काव्य के प्रयोजन के रूप में दिखाई देता है ।[1] आचार्य भामह ने चतुर्वर्ग सम्बन्धी शास्त्रों और कलाओं में व्युत्पन्नता को जो काव्य के प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया है । वह नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि के आधार पर किया है ।[2] आचार्य भामह के पश्चात् काव्य प्रयोजन के विचारक आलंकारिकों में आचार्य वामन का नाम उल्लेखनीय है । वामन के अनुसार काव्य के दो प्रयोजन है -- दृष्ट प्रयोजन तथा अदृष्ट प्रयोजन । दृष्ट प्रयोजन का तात्पर्य प्रीति और अदृष्ट प्रयोजन का तात्पर्य कीर्ति है ।[3] संभवतः चतुर्वर्ग व्युत्पत्ति और कला व्युत्पत्ति को काव्य के अतिरिक्त अन्य विद्याओं और उपविधाओं का भी प्रयोजन मानकर आचार्य वामन ने इन्हें काव्य प्रयोजन के रूप में नहीं माना । आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार काव्यप्रयोजन प्रीति है ।[4]

वक्रोतिवादी आचार्य कुन्तक के अनुसार भी काव्य के प्रयोजनों में प्रीति ही महत्वपूर्ण प्रयोजन है , जिसका अभिप्राय सहृदय हृदय का आह्लाद है ।[5] इसी प्रकार

१- धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ,
   करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् -- १.२
२- न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला
   न तत्कर्म न योगोऽसौ नाटके यन्न दृश्यते ॥ ना० शा० २१.१२२
३- "काव्यं सद्दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्"
४- तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम् -- ध्वन्यालोक १-१
५- धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः
   काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः । वक्रोतिजीवित १-४

रस तात्पर्यवादी काव्याचार्य भोजराज के अनुसार भी कीर्ति एवं प्रीति ही काव्य के तात्त्विक प्रयोजन है ।[1] प्रीति का अभिप्राय काव्यार्थतत्त्व की भावना से सम्भूत आनन्द है जैसा कि सरस्वतीकण्ठाभरण के व्याख्याकार रत्नेश्वर का विश्लेषण है ।[2] काव्य प्रयोजन विचार की इस प्राचीन सम्पत्ति का मम्मट ने विस्तारपूर्वक विवेचन किया है ।[3] मम्मट ही सर्वप्रथम अलंकारिक हैं, जिन्होंने काव्य के छः प्रयोजन का निर्देश तथा निरुपण किया है । उन्होंने काव्य प्रयोजन के भिन्न-भिन्न मतों का अपने सद्यः परनिवृति वाद की दृष्टि से समन्वय सिद्ध किया है । मम्मटाचार्य कृत काव्य प्रयोजन में समस्त काव्यकारों के प्रयोजन निर्दिष्ट है जिसका विवेक रसिकता और सहृदयता की दृष्टि है ।

आधुनिक काव्यालोचन में किसी कविता का विश्लेषण उनके रचनाकार के व्यक्तित्व का विश्लेषण माना जाता है । संस्कृत की प्राचीन काव्यालोचना भी जिसे हम काव्य शास्त्र के रूप में देखते हैं, किसी काव्य का रहस्य उसके स्रष्टा के व्यक्तित्व में देखती रही । अलंकारशास्त्र में जिसे काव्य हेतु विवेक कहा करते हैं वह कवि के काव्यमय व्यक्तित्व का विश्लेषण है । अलंकार शास्त्र के सामाजिक व्यक्तित्व में कविता की उत्पत्ति का रहस्यान्वेषण नहीं करता, अपितु कवि के आत्मिक अन्तस्तत्त्व में ही कविता का उद्भव ढूंढा करता है ।

प्राचीन आलंकारिकों की यही मर्यादा रही है कि वे काव्य को इस दृष्टि का

१- कविः ....: ..... कीर्तिं च विन्दति । स० क० १-२
२- प्रीतिः सम्पूर्णकाव्यार्थस्वादसमुत्थः आनन्दः, काव्यार्थभावनादशायां कवेरपि सामाजिकत्वांगीकारात् -- स० क० रत्नदर्पण १-२
३- काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिवृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे । का० प्र० १.२

रसमय प्रतिरूप मानते रहते हैं तथा कवि को रसमय काव्य जगत् का स्रष्टा। जिस प्रकार स्रष्टा और सृष्टि में शक्तिमान् और शक्ति प्रचय की दृष्टि से अभेद ही रहता है वैसे ही कवि और काव्य में। वैदिक ऋषियों की ही तत्त्व दृष्टि रही है कि वे इस सृष्टि को ही काव्य और कवि को स्रष्टा मानते हैं। वैदिक युग की यही मान्यता काव्य साहित्य के युग में भी अवतीर्ण हुई और काव्य को सृष्टि और कवि को स्रष्टा माना गया है। भारतीय दर्शन में सृष्टि और स्रष्टा के मध्य कार्य-कारणभाव का जो सूक्ष्म सूक्ष्मतर - सूक्ष्मतम विवेक होता आया है, वही काव्य-शास्त्र में काव्य और कवि के पारस्परिक संबन्ध में भी प्रतिफलित होता रहता है।

सबसे प्राचीन आलंकरिक भामह ने कविता के उद्‌भव में कवि के व्यक्तित्व का जो रहस्य देखा उसे भी अपनी रचना काव्यालंकार में उल्लिखित किया है।[1] जिसे वस्तुतः सर्वतोभावेन काव्य कहा जाता है वह एक विशेष प्रकार की कविशक्ति कवि प्रतिभा का ही उन्मेष है। यह कविप्रतिभा सर्वत्र प्राप्त नहीं होती किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि लोग काव्य क्रिया के प्रति निराश हो जाएं। काव्य क्रिया के प्रति सभी को प्रयत्नशील होना चाहिए और इस प्रयत्नशीलता का अभिप्राय है -- शब्द स्वरूप और अर्थ स्वरूप का पूर्ण परिचय, शब्दार्थ तत्त्व वैज्ञानिकों का सान्निध्य लाभ और कवि कृतियों का अवलोकन किं वा अनुसन्धान। भामह के इस काव्य हेतु विवेक में काव्य की उत्पत्ति प्रतिभा में लिपटी छिपी दिखाई देती है। यही विचार दण्डी के सम्बन्ध में भी प्रतीत होता है, क्योंकि उनका कथन भी इसी प्रकार है।[2]

१- काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः, शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम्,
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः। काव्यालंकार १.५

२- नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः॥ काव्यादर्श १-१-३

भामह के अनुसार तो काव्य और काव्य प्रतिभा में एक प्रकार का कार्य-कारणभाव स्पष्ट प्रतीत होता है , किन्तु दण्डी के अनुसार काव्य के हेतु तत्वों में प्रतिभा के साथ-साथ व्युत्पत्ति और अभ्यास का भी स्थान है । भामह की विचारधारा ही ध्वनि तत्वदर्शी आनन्दवर्धन की दृष्टि में भी झलक रही है ।[1]

पश्चात्वर्ती अलंकारिकों ने भामह अथवा दण्डी की परम्परा का ही अनुसरण किया है । भामह की काव्य मर्यादा ध्वनिवाद अथवा वक्रोतिवाद के अनुकूल है तथा दण्डी की काव्य-मर्यादा को आचार्य वामन तथारुद्रट ने सुरक्षित रखी है । आचार्य वामन[2] तथा रुद्रट[3] ने काव्य के हेतु का इस प्रकार निरूपण किया है । ध्वनिवाद के आचार्य भामह की दिव्य धारण से मुग्ध है ।[4] आचार्य अनुभवगुप्त के काव्य-विद्या गुरु श्री भट्टतौत ने कवि को ऋषि कहा है , क्योंकि उसमें प्रतिभा रहा करती है ।[5] आचार्य मम्मट ने भी काव्य हेतु का विचार किया है ।[6]

१- सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥
ध्वन्यालोक १-६

२- लोको विद्या प्रकीर्णन्चेति काव्यांगानि । लोकवृत्तः लोकः शब्दस्मृत्यभिधानकोशच्छन्दो-विचिति कलाकामशास्त्र दण्डनीतिपूर्वा विद्या....... .... लक्ष्यज्ञत्वभियोगो वृद्धसेवा ऽ वेक्षणं प्रतिभानमवधानश्च प्रकीर्णम् ।
(काव्यालंकार सूत्रवृत्ति १-३-१-११)

३- त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः -- रुद्रट
काव्यालंकार १-१४

४- अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संक्रियते कवेः । यत्त्वशक्तिकृतः तस्य स झगित्यवभासते ।

५- प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा । भट्टतौत

६- शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे । का० प्र० १-३

काव्य प्रकार निर्णय भी काव्यालोचना का आवश्यक अंग है । जिस प्रकार भिन्न-भिन्न काव्यवादों में काव्य तत्त्व का भिन्न-भिन्न दृष्टि से निरूपण किया गया है उसी प्रकार भिन्न-भिन्न काव्यवादों ने काव्य का भिन्न-भिन्न दृष्टि से निर्णय लिया है ।

अलंकारवाद के आचार्यों ने काव्य के दो भेद किए हैं -- (क) पद्य काव्य (ख) गद्य काव्य । रीतिवादी वामन ने गद्य को ही काव्य की कसौटी मानी है । आचार्य दण्डी ने भामह के काव्य भेद में एक अन्य काव्यभेद का समन्वय कर उसे "मिश्र" की संज्ञा से अलंकृत किया । नाटयाचार्य भरतमुनि ने भी नाटक को काव्य कहा है । भामह दण्डी ने भाषा के भेद से भी प्रभेद परिगणन किया है । मम्मट का प्रतिपादित काव्य का प्रकार भेद यह है --- उत्तम काव्य , मध्यम काव्य , अवर काव्य

दर्शन एवं काव्य का विशद एवं सांगोपांग विवेचन के पश्चात् उनका समन्वयात्मक दृष्टिकोण से अध्ययन आवश्यक है । संस्कृत काव्यों में काव्य एवं दर्शन का पर्याप्त समन्वय प्राप्त होता है । साहित्य के उद्देश्य तत्त्व-उद्घाटन , परिष्कार एवं मनोरंजन हैं । दर्शन मात्र परिष्कार करता है । अतः दर्शन एवं कला का विकास एक समृद्ध , सुव्यवस्थित सामाजिक स्थिति का द्योतक है जहाँ जीवन के संघर्ष को कोई अवसर प्राप्त नहीं होता है । यहाँ साहित्य का प्रयोग काव्य के अर्थ में किया गया है । संस्कृत साहित्य काव्य होने के कारण उद्घाटन एवं मनोरंजन को परिष्कृत करने के लिए ही दर्शन का आश्रय लेता है तथा काव्यों में सभी दर्शन विशेषतः सांख्य दर्शन सम्भव है । साहित्य के अर्थ पर ध्यान देने पर भी इस कथन का प्रतिपादन होता है । शब्द एवं अर्थ का सहभाव ही साहित्य की परिभाषा है , वेद भी काव्यान्तर्गत

है । स्वयं को देव का अमर काव्य घोषित करता है । पश्चात्वर्ती काव्य शास्त्रियों ने साहित्य को काव्य रूप में स्वीकार किया तथा काव्य शास्त्र दर्शन के सिद्धान्तों का आश्रय प्राप्त कर ही खड़ा है । उसके मुख्य सिद्धांत रस एवं ध्वनि दार्शनिक भित्ति पर ही प्रतिष्ठित है । इसके अतिरिक्त अनेक अलंकार दार्शनिक कार्य-कारण सम्बन्ध पर आधारित है । हेतु , काव्यलिंग विषम , विभावना , असंगति आदि अनेक अलंकारों का जन्म ही दर्शन के कार्य कारण सम्बन्ध ज्ञान से हुआ है ।

किंतु काव्य एवं दर्शन में परस्पर गहन सम्बन्ध होते हुए उनमें पर्याप्त अन्तर है । दर्शन गद्यरूप है तथा ज्ञानसाहित्य के अन्तर्गत है तथा काव्य पद्यरूप है । काव्य हृदय की सम्पत्ति है और दर्शन मस्तिष्क की उपज । काव्य का साम्राज्य सौन्दर्य है और दर्शन का सौन्दर्य याथार्थ्य । इस दृष्टि से काव्य एवं दर्शन को किव भिन्न रूप में देखता है । अतः दर्शन का विश्लेषण एवं वर्गीकरण अवयवमूलक है , उसकी चित्तधारा अवयव प्रधान हैं , किंतु काव्य अवयवि प्रधान है ।

इस अन्तर के पश्चात् भी काव्य स्वयं को अधिक आकर्षक बनाने के लिए दर्शन के चाकचिक्य का आश्रय लेता है । काव्य की प्राण प्रतिष्ठा से लेकर उसकी कमनीय कलेवरता तक दर्शन ही उसे आधार प्रदान करता है । इस प्रकार दर्शन समस्त भारतीय साहित्य की शाखाओं के लिए प्रेरणादायक है । सभी इसके ज्ञान से अनुप्राणित होते हैं , अतः इसकी व्यापकता स्वतः सिद्ध है । समस्त जिज्ञासुओं के लिए दार्शनिक ज्ञान आवश्यक एवं अनिवार्य है । उदाहरणस्वरूप संस्कृत के समस्त महाकवियों के काव्यों के अध्ययन के पश्चात् ज्ञात होता है कि उनकी महत्ता आध्यात्मिक सघनता के साथ मिलकर ही पूर्ण सौन्दर्य को जन्म देती है । भारवि के किरातार्जुनीयम् , माघ के

शिशुपालवधम् तथा स्वयं कालिदास ने दर्शन को प्रधानता प्रदान की है और "नैषधीय-चरितम्" तो अद्वैत वेदान्त का पूर्ण परिचायक है । श्री हर्ष काव्य का पथ छोड़कर दर्शन में ही प्रविष्ट हो गए हैं । कुमारसम्भवम् में पार्वती का रूप उस बेला तक अभव्य है जबतक इसमें तपस्या का योग नहीं होता । प्राकृतिक चारुता और आध्यात्मिक अभ्युदय के योग से जो सौन्दर्य बनता है, उसमें विश्व का समस्त समन्वय खिंच आता है । गौरी के तप द्वारा शिव का आकर्षण इसी तथ्य का प्रतिपादक है । कालिदास का मुख्य उद्देश्य काव्य एवं दर्शन का अथवा प्रेम एवं तपस्या का समन्वय करना है । इसके अतिरिक्त उपनिषद् के दर्शन में काव्यात्मक स्वरूप का वर्णन है । दार्शनिक कवियों ने सत्य की गवेषणा करते हुए काव्य पक्ष का ही माध्यम लिया है । उपनिषदों की रचनाशैली की काव्यपरता देखकर इन्हें दार्शनिक काव्य में रखा गया है । दर्शन के कारण उपनिषद् जीवन के आध्यात्मिक तत्वों का अनुशीलन कराते हुए ब्रह्मानन्द की अनुभूति कराते हैं, साथ ही साथ कवियों की अन्तर्ज्योति के भावुकतापूर्ण उद्गार होने के कारण अपनी रमणीयता के माध्यम से काव्योचित रसास्वादन कराते हैं । उपनिषदों में सत्य के काव्यात्मक स्वरूप का वर्णन है । उसकी भाषा क्वचित् व्यंजनात्मक है । उपनिषदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कवि ने दिव्य दृष्टि से सत्य का दर्शन सम्भव माना है, यही दिव्य दृष्टि किसी वस्तु के काव्य पक्ष का दर्शन करने के लिए अपेक्षित है । उपनिषद् युग आते-आते संस्कृत भाषा काव्य के लिए सर्वथा उपयोगी बन चुकी थी तथा भाषा की अद्वितीय विशेषता प्रांजलता थी । उपनिषद् के काव्यात्मक ग्रन्थों के आधार पर तत्कालीन काव्य का स्वरूप कुछ-कुछ अनुमान किया जा सकता है । वर्ण्य विषय की उत्कृष्टता का आभास कराने के लिए

विरोधी गुणों का सामंजस्य करने में वे सफल थे ।[1] उपनिषद के दार्शनिक तत्वालोचन के साथ ही काव्य के अलंकारिक प्रयोगों के लिए ऐसी ही पदावली ग्राह्य रही होगी । काव्य की पृष्ठभूमि में जिस उच्च दर्शन की उनपेक्षा है , वह उपनिषदों में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित है । इन्हीं का आधार लेकर उपनिषद् युग के पश्चात महाभारत - रामायण महाकाव्यों की रचना हो सकी ।

उपनिषदों से पूर्ववर्ती वेद भी स्वयं को देव का अमर काव्य घोषित करता है । अतः वेद ने उपनिषद् की भाँति विश्व को मात्र दुःखमय रूप में ही नहीं देखा है प्रत्युत विश्व के सौन्दर्य को सुन्दरतम रूप में अंकित करने का प्रयास किया है । ऊषा का हास्य , सन्ध्या का राग , माता का प्रेम तथा प्रिया का निरपेक्ष समर्पण वेद में अतीव सुन्दरतम रूप में चित्रित हुए है । कारुण्य वदन्यता , त्याग तथा सेवा की सुन्दरतम सुकोमल अभिव्यक्ति यहाँ प्राप्त है ।

सुप्रसिद्ध पुरुषसूक्त में वैदिक ऋषियों ने सम्पूर्ण जगत् को एक रूप में देखा तथा वहाँ अद्वैत की अनुभूति हो रही है । नासदीय सूत में निर्गुण ब्रह्म का वर्णन मिलता है । जिस मूल सत्ता से सभी कुछ उत्पन्न हुआ है जो प्रत्येक वस्तु में विद्यमान है , उसे सत् अथवा असत् नहीं कहा जा सकता । यही सर्वप्रथम उपनिषद् सम्मत निर्गुण ब्रह्म के दर्शन होते हैं । ऋग्वेद के एक ही मन्त्र में वैदिक साहित्य के समस्त दार्शनिक तत्वों का संचय है ।[2]

१- यस्यामतं तस्य मतं , मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् । केनो० २-३

२- द्वा सुपर्णा सुयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति । मुण्ड० ३-१-१

महाकाव्य महाभारत रूपी सागर का मथित अमृत आध्यात्म शास्त्र भगवद्‌गीता में सुरक्षित है । इसमें सांख्य के प्रकृति-पुरुष के द्वित्त्व को पुरुषोत्तम की परिकल्पना द्वारा एकत्व में बदल दिया । उसके मतानुसार पुरुषोत्तम विश्व का आदिम बीज और अन्तिम तत्त्व है किन्तु वह सचेष्ट एवं गतिशील है । गति की प्रक्रिया में उसके दो रूप परा प्रकृति और अपरा प्रकृति है । परा प्रकृति पुरुष या जीव है तथा अपरा प्रकृति भौतिक जगत् का मूलरूप है इनमें सन्तुलन (सत्व) , गति (रज) और स्थिति (तम) समाई हुई है । ये गुणत्रय इसे क्षुब्ध करते हैं अतः ये अष्टमूर्ति रूप है । इनसे मन , प्राण और भूत के विविध रूप प्रकट होते हैं , जिनका उदय-विलय सृष्टि की लीला है । अतः द्वैत , अद्वैत , द्वैताद्वैत सभी अपने-अपने स्थल पर सत्य है । कुछ अंश अद्वैतवादी [1] प्रतीत होते है, तो कहीं विशिष्टाद्वैत[2] झलक रहा है और कोई श्लोक द्वैत[3] की पुष्टि कर रहा है तथा कुछ श्लोक अनिर्णायक हैं । उन्हें किसी भी मत में स्वीकार किया जा सकता है , अतः उन्हें किसी भी मत में स्वीकार किया जा सकता है , अतः गीता में अनेक दार्शनिक दृष्टियों का समन्वय मिलता है ।

इन क्वचित् उदाहरणों के आधार पर यही ज्ञात होता है कि काव्य एवं दर्शन में पर्याप्त भिन्नता होने के पश्चात् भी काव्य स्वयं को अधिक सजीव एवं

१- भ० गी० ४-१० , ३५ ; ५-७, ६-२८,३१,१४-१९

२- भ० गी० ५-१९,१४-२,१५-७

३- भ० गी० ४-८

आकर्षक बनाने के लिए दर्शन का आश्रय लेता है । दूसरे शब्दों में भारतीय दर्शन के मूलभूत ग्रन्थ काव्यरूप में ही प्राप्त होते हैं । अतः दर्शन एवं काव्य परस्पर अन्योन्याश्रित हैं , एक के अभाव में दूसरे का रहना असम्भव न हो , किन्तु अत्यधिक कठिन है । अतः दर्शन की उपयोगिता एवं उपादेयता अत्यधिक बढ़ जाती है । संभवतः सुप्रसिद्ध उक्ति दर्शन शास्त्र को लक्ष्य करके ही कही गई प्रतीत होती है ।[१]

१- "सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः"

+++++++++++++

द्वितीय अध्याय

+++++++++++++

पुराणोपनिषद्कालीन दर्शन, कालिदास और संस्कृत काव्य में दर्शन परम्परा

भूमिका, कालिदास का जीवनवृत्त, जन्मस्थान, व्यक्तित्व, कृतियाँ-- ऋतुसंहार, मेघदूतम्, रघुवंशम्, कुमारसम्भवम्, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, विक्रमोर्वशीयम्, मालविकाग्निमित्रम्, वेदों में दार्शनिक विचार, उपनिषदों में दार्शनिक विचार, कतिपय पुराणों में दर्शन, रामायण-महाभारत, कालिदास, अश्वघोष, भारवि, माघ, श्रीहर्ष तथा भवभूति के काव्यों में दर्शनतत्त्व ।

पुराणोपनिषकालीन दर्शन , कालिदास और संस्कृत काव्य में दर्शन परम्परा

भारतीय संस्कृत वाङ्मय का आदिस्रोत जिस सांस्कृतिक आयाम में विकसित हुआ , उसे इतिहासकारों ने आश्रम संस्कृति की संज्ञा दी । आर्थिक प्रगति की दृष्टि से वह कृषि युग था , जिसमें ग्रामीण संस्कृति विकसित हुई तथा राजनैतिक दृष्टिकोण से यह राजन्य युग था जो कुल संस्कृत का परिचायक है । वैदिक युग के धर्म साहित्य एवं कला में सादगी , उदात्त एवं आध्यात्मिकता परिव्याप्त है । अनेक स्थलों में काव्यमयी उक्तियाँ बिखरी पड़ी है , किन्तु विशुद्ध दर्शन के विकास के लिए अभी उर्वर भूमि प्रस्तुत नहीं हुई थी ।

लौकिक संस्कृत साहित्य का जन्म भले ही तमसा के निर्जन आश्रम में हुआ हो किन्तु उसका विकास संस्कृति के उस परिवेश में हुआ , जिसे हम आर्थिक दृष्टिकोण से कृषि तथा हस्तकला युग , राजनैतिक दृष्टिकोण से सम्राटों का युग सामाजिक दृष्टिकोण से चातुर्वर्ण्यव्यवस्था के विकास का युग एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण से विविध दार्शनिक धाराओं के विकास का युग कहते हैं । संस्कृति की इस पृष्टभूमि में संस्कृत

का जो साहित्य निर्मित हुआ -- रामायण , महाभारत उसके आदि प्रतीक हैं । यह साहित्य एक ओर सम्राटों के राजकीय वैभव में तथा दूसरी ओर आश्रमों की सादगी में विकसित हुआ । वैदिक संस्कृत का यह ग्रामीण भाव संस्कृत साहित्य तक आते-आते नागरिक स्वरूप में लिख गया उसी समय से भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठ उपलब्धियों का आरम्भ होने लगता है । इसीलिए यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि "भारतीय संस्कृति में जो सर्वश्रेष्ठ है उसकी अभिव्यक्ति संस्कृत साहित्य में हुई और संस्कृत साहित्य में जो सर्वश्रेष्ठ है , उसकी अभिव्यक्ति कवि शिरोमणि कालिदास में हुई है ।"

इतिहास की व्यापकता , भावों की उदात्तता , दर्शन की विशदता और गम्भीरता , शिल्पविधि का आचार्यत्व सभी दृष्टिकोण से कालिदास संस्कृत काव्य कला के सुमेरु माने जाते हैं । कालिदास को काव्य प्रणयन की प्रेरणा किन कवियों एवं किन काव्य पद्धतियों से मिली , इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक अधिक नहीं कहा जा सकता , क्योंकि कालिदास का युग अभी विवादास्पद है । किन्तु यह निश्चित है कि कालिदास के प्रेरणा-स्रोत राष्ट्रीय महाकाव्य रामायण - महाभारत में निहित थे । आचार्य पाणिनि तथा दार्शनिक सूत ग्रन्थोंकेपूर्वकर्तृ कहा जा सकता है । सांस्कृतिक वातावरण , भाव , भाषा तथा रचाना विधान प्रत्येक क्षेत्र में कालिदास ने इन ग्रन्थों से प्रेरणा प्राप्त की । कालिदास के ग्रन्थों में दर्शनतत्त्व के विश्लेषण के पूर्व उनके व्यक्तित्त्व उनकी कृतियों तथा रचना विधान वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालना उपयोगी होगा ।

जीवन -

कवि शिरोमणि कालिदास के जीवन के सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता । उनके वंश , माता-पिता , शिक्षा , गार्हस्थ्य जीवन तथा

आजीविका से सम्बन्धित सामग्री का अभाव है । भवभूति के समान उन्होंने अपना परिचय किसी भी ग्रन्थ में नहीं दिया है ।

उनके जीवन के सम्बन्ध में अनेक जनश्रुतियां प्रचलित हैं । कुछ विद्वज्जन कवि के नाम का अर्थ काली का सेवक मानते हैं । यह अनुमान किया जाता है कि संभवतः यह संज्ञा भी साधारणतया अपने अर्थ से निरपेक्ष रूप से कवि को उसके माता-पिता ने दिया हो । एक अन्य किंवदन्ती के अनुसार कवि आरम्भ में महामूर्ख थे , किन्तु बाद में विदुषी पत्नी द्वारा प्रताड़ित होकर देवी की उपासना की और उनके प्रसाद से इनकी काव्य शक्ति स्वतः अद्‌भूत हो गई । एक किंवदन्ती इनका सम्बन्ध लंका के राजा कुमारदास से स्थापित करती है और लंका में ही किसी गणिकागृह में मृत्यु बताती है । तृतीय किंवदन्ती के अनुसार इनकी मृत्यु धारा नगरी में हुई । किन्तु वास्तविकता है कि इन सभी जनश्रुतियों में कोई प्रामाणिकता प्रतीत नहीं होती , क्योंकि उनके जीवन के विषय में न कोई अन्तः प्रमाण मिल सका और न कोई वाह्य प्रमाण ही । अतएव निर्णय रूप में कुछ भी नहीं कहा जा सकता ।

जन्म-स्थान -

कालिदास के स्थितिकाल के समान ही उनकी जन्मभूमि भी अन्धकारमय है । उनका आविर्भाव किस देश एवं किस स्थान में हुआ -- इसका प्रामाणिक उत्तर देना अद्यापि कठिन है क्योंकि कवि की रचनाओं के अस्पष्ट अन्तःसाक्ष्यों के अतिरिक्त कोई भी अन्य ऐसे निश्चयात्मक प्रमाण उपलब्ध नहीं होते , जिसके आधार पर इन समस्याओं का उचित समाधान प्रस्तुत किया जा सके । कवि की रचनाओं के आधार पर उनके जन्म

स्थान के सम्बन्ध में चार मत प्रसिद्ध हैं ---

प्रथम मतानुसार उनका सम्बन्ध मगध देश से जोड़ा जाता है । रघुवंश में सुदक्षिणा को मागधी एवं दिलीप को मागधीपति सम्बोधित किया गया है । सुमित्रा को भी मगध राजकन्या कहा गया है । रघु दिग्विजय में मगधेश्वर की हार का वर्णन न कर कवि उनके प्रति आदर भाव प्रदर्शित करता है । इन्दुमती स्वयंवर में भी मगधेश्वर को प्रथम स्थान दिया गया है । इस मत के समर्थक विद्वानों का विचार है कि कवि के समय में और भी कई राजवंश पुष्पित एवं पल्लवित हो रहे थे तब फिर क्यों उक्त दोनों महारानियों का सम्बन्ध मगध से ही जोड़ा गया तथा मगध के प्रति विशेष लोभ क्यों प्रकट किया गया? ~~तथा मगध के प्रति विशेष लोभ क्यों प्रकट किया गया है~~ ।

इस मत के विरोध में विद्वानों का तर्क है कि सम्भवतः राज्याश्रित होने के कारण कवि को कर्त्तव्यवश मगध के दरबार में भी तथा अन्य स्थानों में भी रहना पड़ा होगा , अतएव कवि के हृदय में वहां के प्रति असाधारण श्रद्धा तथा भक्ति उत्पन्न हो गई होगी , जिसे उसने अपने ग्रन्थों में प्रकट किया , किन्तु इसके आधार पर उन्हें मगधनिवासी कदापि नहीं स्वीकारा जा सकता ।

दूसरा मत प्रो० लक्ष्मीधर कल्ला का है , जो कालिदास को काश्मीर निवासी घोषित करते हैं । उनका कथन है कि मेघ यक्ष का सन्देश लेकर उत्तर दिशा को जाता है और काश्मीर की स्थिति भी उत्तर में है । कवि द्वारा वर्णित भौगोलिक रचनाओं -- कण्वाश्रम , कश्यपाश्रम , गंगा , मालिनी , शचीतीर्थ , ब्रह्मसरादि सभी नीलमतपुराण के अनुसार काश्मीर में ही स्थित है । कुछ सामाजिक रीतिरिवाजों , व्यवहारों , विश्वासों जिसका वर्णन कवि ने किया है -- वे आज भी काश्मीर में प्रचलित

हैं इसके अतिरिक्त उनके ग्रन्थों में शैव धर्म के प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है , जो केवल काश्मीर की ही देन है । सूर्यपूजा , केसर तथा धान की खेती के तथ्यपूर्ण वर्णन भी इस बात को प्रमाणित करते हैं कि कालिदास काश्मीर निवासी थे ।

इसके उत्तर में हम कह सकते हैं कि कवि काश्मीर निवासी नहीं हैं । कवि द्वारा कथित भौगोलिक स्थानों का आधार नीलमत पुराण न होकर महाभारत है । इसके अतिरिक्त उक्त रीति रिवाज केवल कश्मीर तक ही सीमित नहीं और प्रत्यभिज्ञा दर्शन वाली उक्ति प्रो० कीथ , महामहोपाध्याय वा० वा० मिराशी प्रभृति विद्वान् स्वीकार नहीं करते हैं ।

तृतीय मत कालिदास को बंगाली स्वीकार करते हैं । इसका सर्वोत्तम उदाहरण वे यह प्रस्तुत करते हैं कि कवि ने धान की खेती का वर्णन सुन्दर रूप में किया है ।

किन्तु यह तथ्य न्यायोचित नहीं , क्योंकि कवि ने रघु की दिग्विजय के अवसर पर बंगाल की पराजय का वर्णन अत्यधिक निर्ममता से किया है । किसी व्यक्ति का अपनी जन्मभूमि के विषय में कठोर वचन लिखना रुचिकर प्रतीत नहीं होता क्योंकि मातृभूमि के प्रति व्यक्ति का प्रेम स्वाभाविक होता है ।

चतुर्थ मत उनके उज्जैन निवासी होने के पक्ष में है । ऋतुसंहार में ऋतुओं , प्राकृतिक दृश्यों तथा मानव जीवन का वर्णन मध्य भारत (मालव-प्रदेश) के जलवायु के अनुरुप हुआ है । यत्र तत्र विन्ध्याचल का स्पष्ट वर्णन मिलता है । मेघदूत में जिन नगरों , पर्वतों , नदियों , दृश्यों तथा मानव जीवन का चित्रण प्राप्त

होता है , उनमें अधिकांशतः मध्य भारत से सम्बन्धित हैं । उज्जयिनी महाकवि के लिए विशेष आकर्षण का केन्द्र है । महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री तथा डा० स्मिथ इसी मत के समर्थक हैं ।

उपर्युक्त मतों का पर्यवेक्षण करते हुए यह कहा जा सकता है कि कालिदास के निवास का औचित्य उज्जयिनी के साथ है और मालवा से भी उनका सम्बन्ध रहा होगा, क्योंकि कवि मेघ के अलकापुरी तक जाने का मार्ग निर्देशित करते हुए उज्जयिनी जाने को कहता है । इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि को उज्जैन के प्रति विशेष आकर्षण था और उसने अपने जीवन का अधिकांश वहीं व्यतीत किया होगा । अतः यह कहा जा सकता है कि कालिदास का जन्म उज्जैन में हुआ होगा ।

व्यक्तित्व -

कालिदास के ग्रन्थों का मन्थन करने से यह अनुमान होता है कि उनके जीवन का अधिकांश भाग समाज के उच्चस्तरीय परिवार या राजाश्रय में व्यतीत हुआ था । अतएव वह तत्कालीन समाज के शिष्ट व्यवहार , परिष्कृत भाषा तथा रीति-नीति में सिद्धहस्त थे । संस्कृत तथा प्राकृत भाषा पर उनका असाधारण अधिकार था । रस , छन्द, अलंकार के वह गूढ़ अध्येता एवं पण्डित थे । उपमा का चरम लक्ष्य उनके काव्यों में परिलक्षित होता है ।

कालिदास जाति के ब्राह्मण एवं परम शिवभक्त थे । कवि हृदय की कोमल संवेदनाओं से युक्त होते हुए भी दार्शनिक एवं राजनैतिक के ज्ञाता एवं वाक्पटु विद्वान थे । प्रकृति एवं मानवीय भावनाओं के सूक्ष्म निरीक्षक थे तथा भौगोलिक ज्ञान

के भण्डार थे । उनके ग्रन्थों में वैदिक संहिताओं , ब्राह्मण ग्रन्थों , उपनिषदों , दार्शनिक सूत्रों , रामायण - महाभारत , पुराण , मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों , सांख्य, न्याय-वैशेषिक आदि दार्शनिक ग्रन्थों तथा आयुर्वेद , ज्योतिष विद्या , अर्थशास्त्र , कामसूत्र , नाट्य,अलंकार,व्याकरण शास्त्रों , संगीत शास्त्र , छन्द शास्त्र तथा इतिहास का सूक्ष्म एवं यथोचित परिचय मिलता है ।

<u>कृतियां</u> -

संस्कृत साहित्य में वाग्देवतावतार कालिदास के काव्यों को सर्वोत्कृष्ट स्थल प्राप्त है। कवि ने दो खण्डकाव्यों (ऋतुसंहार , मेघदूतम्) दो महाकाव्यों (कुमारसम्भवम् , रघुवंशम्) तथा तीन नाटकों (अभिज्ञान-शकुन्तलम् , मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम्) की रचना की है । डा० मिराशी ने सेतुबन्ध या रावण वध को अपनी पुस्तक कालिदास में कवि की रचना मानी है किन्तु भाषादि में लालित्य , प्रसाद आदि के आधार पर वह प्रवरसेन लिखित सिद्ध हो चुकी है । इसी प्रकार डा० आफेक्ट ने अपनी "बृहत्संस्कृतग्रन्थावली" में कालिदास के नाम से प्रचलित तीस-पैंतीस ग्रन्थों का उल्लेख किया है किन्तु उन सभी ग्रन्थों का परीक्षण करने पर प्रतीत होता है कि उनमें से अनेक ग्रन्थ कालिदास के नाम पर गढ़े अथवा कालिदास के बहुत काल पीछे निर्मित हुए हैं । अतएव इन विभिन्न विवादों के भंवर में न पड़कर अधुना सर्वसम्मति प्राप्त उनके सप्त काव्यों का विवेचन उचित है ।

ऋतुसंहार -- महाकवि की प्रथम काव्य रचना है । सुतरां इसमें उनके अन्य काव्यों में उपलब्ध होनी वाली उच्चाशयता एवं अभिव्यक्ति की चारुता के दर्शन

नहीं होते । यह उनके उद्दाम यौवन के उद्गारों का मन्द्र कोष है , जो उनकी गीत्यात्मक प्रतिभा का प्रसाद पाकर रस से आर्द्र बन गया है । मेघदूत का माधुर्य इसमें वर्तमान अवश्य नहीं है किन्तु उसके प्रणयन की भूमिका के रूप में यह काव्य रसिकों का हृदय हरण करने में समर्थ है । संस्कृत काव्य में ऋतुओं पर लिखी जाने वाली एकमात्र सूचना ऋतुसंहार है । ऋतुसंहार में षट्सर्गों में क्रमशः ग्रीष्म , वर्षा शरद् , हेमन्त , शिशिर तथा वसन्तऋतु का गीत्यात्मक स्वरों में वर्णन हुआ है । प्रत्येक सर्ग में षोडश से अष्टविंश तक श्लोक संख्या मिलती है । प्रत्येक सन्दर्भ में प्रकृति की स्वतंत्र छवियों अथवा व्यापारों के तथा उस ऋतुविशेष से प्रेमी जनों के मानसों पर पड़ने वाले प्रभावों के चित्र अंकित किए गए हैं ।

विद्वानों के मतानुसार वात्स्यायन के "कामसूत्र" का आश्रय ग्रहण कर कवि ने ऋतुसंहार की रचना की । कामसूत्र के साधारणाख्य प्रथमाधिकरण के चतुर्थ अध्याय में नागरक वृन्द अथवा रसिक जनों की जीवन चर्या का वर्णन प्राप्त है । उद्यान क्रीड़ाओं के व्याज से प्रकृति के स्वतंत्र अवेक्षण से प्रसूत ललित चित्र चित्रित कर कुशल चितेरे ने अपनी तूलिका का चमत्कार दिखाया है ।

मेघदूतम् -- कालिदास की रचनाओं में मेघदूत को अत्यन्त ममतापूर्ण महत्त्व प्राप्त है । संस्कृत के गीतिकाव्यों में इस प्रसाद मधुरा शृंगारसंगोज्ज्वला रमणीय कृति को जो सम्मान प्राप्त है , वह किसी अन्य काव्य को उपलब्ध न हो सकता । पण्डितों ने इसे खण्ड काव्य की आख्या प्रदान की है , किन्तु कथासूत्र इसमें अत्यन्त क्षीण किंवा नगण्य है । वस्तुतः यह प्रेम से आर्द्र एवं कातर हृदय की मधुर उद्वेजनाओं का मन्द्र मनोरम कोष है । इन एक सौ बीस ललित पद्यों

में महाकवि ने कान्ता विश्लेषित यक्ष की वियोग व्यथा का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। कथानक इस प्रकार है--

अलकापुरी के अधीश्वर कुबेर ने अपने सेवक यक्ष को कर्तव्यच्युति के कारण एक वर्ष के लिए निर्वासित कर दिया है। निर्वासन की अवधि यक्ष भारत के दक्षिणांचल में अवस्थित रामगिरि नामक पर्वत पर व्यतीत करता है। आठ मास व्यतीत कर चुकने पर वर्षाऋतु के आगमन से उसके प्रेम कातर हृदय में अपनी प्राणदयिता यक्षिणी की स्मृतियां सहसा उद्वेलित हो जाती है तथा वह मेघ को दूत बनाकर उसके पास अपनी प्रणय सन्देश प्रेषित करता है।

प्रस्तुत काव्य को पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध इन दो खण्डों में विभाजित किया है। पूर्वार्ध (पूर्वमेघ) में यक्ष द्वारा रामगिरि से अलका तक के मार्ग का विशद वर्णन करवा कवि ने अपने भौगोलिक ज्ञान का प्रज्ञापूर्ण परिचय प्रदान किया है तथा उत्तरार्ध (उत्तर मेघ) में प्रेयसी की विरह विह्वल दशा का कथन कर अन्ततः अपना मर्म विदारक सन्देश प्रेषित किया है। इतने स्वल्प वृत्त को लेकर कवि ने अपनी प्रसन्न मधुरावाणी मन्दाकान्ता की झूलती चाल प्रदान कर अलौकिक रसधारा बहाई है। मेघदूत के अनुकूल मन्दाक्रान्ता पर कवि का अधिकार देख क्षेमेन्द्र का कथन है[1]--

मेघ अथवा प्राकृतिक वस्तुओं को दौत्य कर्म में नियोजित कर सन्देश प्रेषण की उद्भावना का मौलिक श्रेय कालिदास को मिलना चाहिए अथवा नहीं -- इस विषय में प्रचुर मतभेद है। प्रसिद्ध वंगीय विद्वान् हरिहरनाथ डे के अनुसार चीन का कवि स्यूमाङ्ग कालिदास के पूर्व मेघ को दूत बनाकर भेजने की कल्पना कर चुका था। प्रसिद्ध

१- "सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवल्गति"

टीकाकार मल्लिनाथ ने "मेघदूत" की कल्पना को वाल्मीकीय रामायण की उस घटना से गृहीत बताया है , जिसमें राम-सीता के लिए हनुमान द्वारा सन्देश प्रेषित करते हैं । प्रो० डा० भीखनलाल आत्रेय ने अपने निबन्ध "योगवासिष्ठमें मेघदूत" में दोनों की समानता स्पष्ट की है । अन्य मनीषियों ने मेघदूत के कथानक के उपजीव्य रूप में ब्रह्मवैवर्तपुराण को स्वीकार किया है । तथ्य जो हो, इतना निर्विवाद सत्य है कि कालिदास ने अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के द्वारा जिस रसोद्गारगर्भ काव्य की सृष्टि की है , वह मर्मस्पर्शीय है तथा रचनाओं में मूर्धन्य महत्त्व रखने योग्य है ।

रघुवंश -- "क इह रघुकारे न रमते" रघुवंश कवि की सर्वश्रेष्ठ एवं उत्कृष्ट कृति है जो उनकी परिपक्व प्रज्ञा एवं प्रौढ़ प्रतिभा का प्रतिबिम्ब है । संस्कृत के ग्रन्थकारों ने कालिदास को रघुकार पद से विभूषित कर नवीन उपमान प्रस्तुत किया है । रघुवंश में एकोनविंश सर्ग है , जिनमें उन्तीस सूर्यवंशीय नृपों का यशोगान है । दिलीप के पुत्र रघु नामक नृप की दानशीलता , शौर्यवीरता आदि का उल्लेख करते हुए उसी के वंशधर राजाओं का काव्यमय वर्णन इस काव्य में किया गया है , जिसमें मर्यादा पुरुषोत्तम राम भी हुए , अतः काव्य का नामकरण रघुवंश है । कथावस्तु इस प्रकार है कि राजा दिलीप की गो सेवा के परिणामस्वरूप रघु का जन्म होता है । रघु अपने अदम्य पराक्रम एवं शौर्य से सबको पराजित कर सम्पूर्ण भारत पर विजय प्राप्त करता है और अपनी अद्भुत दानशीलता से सबका कल्याण करते हैं । इसके अनन्तर अज-जन्म , इन्दुमती स्वयंवर , अन्य समवेत नृपों को परास्त कर रघुपुत्र अज का इन्दुमती से परिणय तथा माला गिरने से इंदुमती

की मृत्यु पर आज का हृदय विदारक विलाप वर्णित है । दश से पंचदश सर्गों में रामचरित वर्णित है । चतुर्दश सर्ग सीता के चरित्र से आलोकित है । इसके पश्चात् रघुवंश के अवशिष्ट सर्गों में रोचकता कम हो जाती है क्योंकि कालिदास ने इन अयोग्य नृपों के नाम परिगणना के अतिरिक्त कहने को कुछ शेष नहीं बचा रखा अतएव उनकी धुंधली आकृतियों का ही वर्णन मिलता है । एकोनविंश सर्ग का अंत अकस्मात् ही कवि ने कामुक एवं विलासी राजा अग्निमित्र के मार्मिक चित्रण के साथ किया है , अतः रघुवंश देखने में अपूर्ण प्रतीत होता है ।

प्रस्तुत महाकाव्य के सम्बन्ध में प्रायः ऐकमत्य है कि कालिदास ने इस ग्रन्थ की सामग्री मुख्यतः वाल्मीकि रामायण से ली है । वस्तुतः रघुवंशम् वाल्मीकि रामायण की अगणित भावमणियों का ही बहुमूल्य अथवा अमूल्य रत्नहार है , जिसे कालिदास ने अपने पूर्ण उन्मेष में अपने सरल वैदर्भी शैली में पिरोया है ।

कुमारसम्भव - महाकाव्यों की सरणि में कवि शिरोमणि कालिदास की लेखनी द्वारा प्रसूत कुमारसम्भव को प्रशंसनीय स्थान प्राप्त है । शिव-शिवा के विवाह एवं कार्तिकेय की उत्पत्ति इसका मूल है । तारक दानव के द्वारा आक्रान्त एवं पीड़ित देवताओं का ब्रह्मा के समीप गमन तथा ब्रह्मा द्वारा आदेशित "उमा शंकर के परिणय फलस्वरूप कार्तिकेय का जन्म जो तारक बध में समर्थ होगा"--, कथनानुसार काम-देव से देवताओं का अनुग्रह की वे समाधिस्थ शिव के हृदय में पार्वती के प्रति प्रेमभाव जाग्रत करें । कामदेव के द्वारा असमय ही वसन्तागमन, पुष्पों का सुरभित होना आदि चित्रित है । शंकर की तपस्या भंग , फलस्वरूप क्रोधित शिव द्वारा तृतीय नेत्र की ज्वाला से कामदेव को भस्मकर अन्तर्हित होना , रति का विलाप

तथा कामदेव के भस्मीभूत होने पर उमा के कठोर तप का वर्णन है । शिव का ब्रह्मचारी रूप में वहां गमन तथा उमा की परीक्षा एवं परिणय की प्रतिज्ञा करना, सप्तर्षिगणों द्वारा दोनों का परस्पर विवाह रूप मंगल अनुष्ठान एवं विवाहोपरान्त दाम्पत्य जीवन का वर्णन है ।

कुछ मनीषियों का कथन है कि कथानक की समाप्ति यहीं हो गई । अधुना कुमार सम्भव में सप्तदश सर्गों की उपलब्धि मिलती है । इसके विपरीत कुछ का कथन है कि कवि द्वारा प्रथम अष्ट सर्ग ही प्रणीत हैं, किन्तु उन्होंने काव्य क्यों पूर्ण नहीं किया, इस पर अनेक विचार प्राप्त हैं । कुमारसम्भव के कथानक के आधार ग्रन्थों के सम्बन्ध में विद्वानों में प्रचुर मतभेद पाया जाता है । कतिपय स्थलों में उपलब्ध अर्थसाम्य के आधार पर अनुमान किया गया है कि कालिदास ने शिवपुराण तथा स्कन्द पुराण में वर्णित कार्तिकेय की कहानी से अपनी कथासामग्री ली है । अन्य विद्वानों का कथन है कि कवि ने रति के मर्म द्रावक विलाप की प्रेरणा कवि ने संभवतः रामायण के तारा विलाप तथा महाभारत में कुरुक्षेत्र के समरांगण में वृद्धा गान्धारी के नेतृत्व में विधवाओं से ली होगी । ब्रह्मपुराण, मत्स्यपुराण, कथासरित्सागर में प्राप्त शिव-पार्वती की कथा कुमारसम्भव से सामंजस्य रखती है ।

अभिज्ञान - शाकुन्तलम् -- कालिदास की काव्य सरस्वती का सर्वोत्तम प्रसाद शाकुन्तलम् है । शाकुन्तल का चित्रपट अत्यन्त व्यापक तथा समृद्ध है । एक नवप्रस्फुटित यौवना प्रकृति किशोरी है जो आश्रमस्थ लता - वीरुधों की सेवा परिचर्या करती है तथा अंततः राजमहिषी बन जाती है -- यह कथानक का पर्यवसान बिन्दु है । कवि ने जिस कला से प्रस्तुत रचना को इस अमोघ रसायन से सिंचित

किया है वह निस्सन्देह अत्यन्त रमणीय है ।

कविशिरोमणि ने शाकुन्तल का मूल कथानक महाभारत के आदिपर्व में वर्णित शकुन्तलोपाख्यान से ग्रहण किया है । एवं उसमें दो महत्त्वपूर्ण नवीनताएं समन्वित कर दुष्यन्त के कामुक , भीरु और स्वार्थी चरित्र को धवल बना दिया है । मुद्रिकावाले प्रसंग की योजना में अनेक यूरोपीय पण्डितों का विश्वास है कि कालिदास ने यह कल्पना बौद्ध जातकों से ग्रहण की होगी । प्रसिद्ध विद्वान् डा० विंटरनित्स का कथन है कि कालिदास ने अपनी कथावस्तु पद्मपुराण से ली होगी । वाल्टर रुबेन के मतानुसार कवि ने आद्योपान्त रामायण महाकाव्य का अनुसरण किया है । कतिपय विद्वानों का कथन है कि शाकुन्तल पर भास के नाटकों का प्रभाव पड़ा है । अस्तु कालिदास ने अपनी मौलिक कल्पनाओं के आधार पर "शाकुन्तल" को विश्व का सर्वथा अनूठा , प्रशस्य एवं स्पृहणीय बना दिया है ।

मालविकाग्निमित्रम्-- कवि की प्रथम नाट्य रचना है , अतः इसमें वह लालित्य , माधुर्य तथा भावगाम्भीर्य दृष्टिगोचर नहीं होता।विदिशा नरेश अग्निमित्र तथा विदर्भराज की भगिनी मालविका की प्रणय कथा ही नाटक का मूल प्रतिपाद्य विषय है । सम्पूर्ण दृश्य आदि से अन्त तक विदिशा के राजप्रसाद या उसके प्रमदवन की सीमा में ही उपन्यस्त हुए हैं । अन्ततः मालविका और अग्निमित्र परिणय सूत्र में आबद्ध हो जाते हैं तथा नाटक समाप्त हो जाता है । इस नाटक का आधार ऐतिहासिक माना गया है । कथानक के सम्यक् संघटन के लिए पंडितों का अनुमान है कि कवि ने गुणाढ्य की बृहत्कथा से सहायता ली होगी ।

विक्रमोर्वशीयम् - कवि की रचनाक्रम की दृष्टि से कालिदास की द्वितीय

नाट्य कृति है । इसमें नायक मानवी पुरुरवा तथा नायिका उर्वशी देवीय की प्रणय कथा अंकित है । शास्त्रीय शब्दावली में इसे त्रोटक कहा जा सकता है क्योंकि इसमें पंच अंक हैं और इसके नायक नायिका मानवी एवं देवीय दोनों कोटियों से सम्बन्ध रखते हैं ।

भारतीय साहित्य में इस कहानी की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है । ऋग्वेद के दशम मण्डल ९५ वें सूक्त में पुरुरवा उर्वशी का संवाद प्राप्त है । शतपथ ब्राह्मण में उर्वशी तथा पुरुरवा के परिचय तथा गन्धर्वों के छल के कारण उनके विच्छेद का वर्णन मिलता है । शतपथ की यह कथा कुछ भिन्नता लेकर विष्णु पुराण , भागवत पुराण और मत्स्यपुराण में भी मिलती है । वास्तविकता जो हो कवि ने विभिन्न पुराणों में उपन्यस्त आख्यान के विविध रूपों में एवं तत्वों पर गम्भीर विचार कर उसे मनोज्ञ स्वरूप प्रदान किया है , इसमें विवाद का अवकाश नहीं ।

संस्कृत काव्य में दर्शन परम्परा और कालिदास संस्कृत वांमय के विकास क्रम को दर्शन की दृष्टि से चार युगों में विभक्त कर सकते हैं ---

(क) वेदोपनिषद वांगमय

(ख) पुराण एवं रामायण - महाभारत

(ग) कालिदास (जिसका प्रतिनिधित्व वे स्वयं करते हैं)

(घ) कालिदास का परवर्ती युग (जो भारवि से प्रारम्भ होता है)

(क) <u>वेदोपनिषद वाङ्मय</u>

(१) विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ "वेद" है । "वेद" शब्द से उन समस्त

वाङ्मय का ग्रहण होता है , जिसके अंतर्गत संहिता , ब्राह्मण , आरण्यक , उपनिषद आदि सभी का समावेश है । "मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः" परिभाषायुक्त वेद के दो भाग हैं -- मन्त्र तथा ब्राह्मण । किसी देवता की विशेष स्तुति में प्रयुक्त होनेवाले वाक्य मंत्र कहलाते हैं तथा ब्राह्मणों में ब्राह्मण , आरण्यक तथा उपनिषदों का ग्रहण होता है । भारतीय परम्परानुसार वेद अपौरुषेय है ।

(अ) ऋत का सिद्धान्त -- ऋत वेदों का प्रमुख सिद्धान्त है तथा ऋत का अर्थ नियम या व्यवस्था है ।[1] ऋत से अनुशासित होकर सूर्य प्रतिदिन नियमित रूप से उदित होता है । चन्द्रमा प्रकाश देता है , वायु गतिमान होती है , ऋतुएं परिवर्तित होती हैं आदि । जगत् के प्रत्येक पदार्थों में जो व्यवस्था पायी जाती है उसे ऋत कहते हैं । यह जगत् उसी ऋत की छाया है जिसका उल्लंघन देवता भी नहीं कर सकते । सृष्टि की आदि में सर्वप्रथम ऋत तत्व ही उत्पन्न हुआ इसी ऋत से जगत् की सृष्टि होती है ।[2]

(आ) एकेश्वरवाद या अद्वैतवाद -- मानव के मस्तिष्क की तार्किक कल्पना ही दर्शन की जन्मदात्री है । मानव के हृदय में नाना प्रकार के विचार उठते हैं तथा उसे नाना-स्वरूपात्मक जगत् को देखकर जिज्ञासा होती है । इसी जिज्ञासा ने दर्शन को जन्म दिया अतः जिज्ञासा ज्ञान की जननी तथा ज्ञान के विकास का सोपान है । इस जिज्ञासा का संकेत ऋग्वेद के "कस्मै देवाय हविषा विधेम" में प्राप्त है ।[3] इस प्रश्न के उत्तर

१- ऋतं च सत्यम् - ऋ०
२- ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत् । ऋ०
३- ऋ० १०-१२१-१

में ऋषि ने एकेश्वरवाद का निरूपण किया है ।[1] पुरुष सूक्त में भी एकेश्वरवाद की स्पष्ट रूपरेखा प्राप्त होता है । वहां पुरुष (ईश्वर) [2] के लिए कहा गया है, वह आदिशक्तिमान् एकमात्र सत् है [3], उसे इंद्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम आदि कहते हैं ।[4]

(इ) आत्मा -- वेदों की एकेश्वरवाद की भावना से अभिप्रेत जिज्ञासुओं के मन में निश्चयतः यह आशंका होती है कि वह एकदेव कौन है ? ऋषि का कथन है कि वह एकदेव हिरण्यगर्भ और प्रजापति है । वही सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, उसने ही द्युलोक एवं पृथ्वीलोक को धारण किया, वही एकमात्र सत्ता विश्व की आत्मा है । यह दृश्य-मान जगत् उस प्रजापति का अवयव है तथा समस्त प्रकृति का आदिकारण है । वह न द्युलोक, न भूलोक, न सूर्य का प्रकाश है । वह सर्वोपरि सत्ता है जो सभी में विद्यमान है, उसे ही जगत् की आत्मा कहा गया है । जब वह आत्मा माया से युक्त होता है तब नाना रूप धारण करता है और जब वह प्रत्येक शरीर निहित बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है, वह जीव कहलाता है । आत्मा के दो रूप हैं मायाविशिष्ट जीव तथा मायारहित आत्मा । अद्वैत के प्रतिष्ठापक मूल सिद्धान्त की रूपरेखा यहां दृष्टि-होती है, साथ ही साथ द्वैततत्त्व का दर्शन भी होता है ।[5] ऋग्वेद में शब्द ब्रह्मवाद

१- यो देवेष्वधिदेव एक आसीत्

२- पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् - ऋ० १०-९०-२

३- तदेकं सत्

४- इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः । ऋ० १-१६४-४६

५- द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यः अभिचाकशीति ॥
ऋ० १०-१६४-२०

का भी सुन्दर वर्णन प्राप्त है । शब्दात्मक ब्रह्म माया के द्वारा स्वयं को जगत् की नाना वस्तुओं के रूप में प्रकाशित करता है तथा विश्व की समस्त वस्तुएं इसी शब्द ब्रह्म के ही प्रतिरूप हैं ।[1] वेदों में शब्द ब्रह्म अथवा परब्रह्म को महादेव कहा गया तथा रूपक द्वारा स्पष्ट किया गया है ।

(ई) कर्मविचार -- दार्शनिक जगत् में कर्म की गति विचित्र मानी गई है । वैदिक ऋषियों ने भी कर्म को महत्त्व प्रदान किया है ।[2] वेदों में यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ कर्म माना गया है । पुण्यापुण्य भेद से कर्म के दो रूप हैं । पुण्य कर्मों से सुख और पाप कर्मों से दुःख की प्राप्ति होती है । वेदानुसार यज्ञानुष्ठान से पाप कर्मों के फल का नाश होता है तथा अच्छे कर्मों के फल से पुण्य का उदय होता है । वेदों में चोरी , हिंसा, व्याभिचार , झूठ , छल आदि को निषिद्ध कर्म माना गया है ।

(उ) नैतिक आदर्श -- ऋग्वेद में नैतिक आदर्शों के प्रति विशेष झुकाव है । सत्य-निष्ठा , आत्म संयम एवं जीवों के प्रति दया आदि जीवन के नैतिक आदर्श हैं । वैदिक काल में लोभ , छल , व्याभिचार आदि नैतिक दृष्टि से हेय समझे जाते थे । नैतिकता की दृष्टि से ऋग्वेद का अक्षसूक्त[3] अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

(ऊ) पुनर्जन्म एवं परलोक -- ऋग्वेद में पुनर्जन्म की धूमिल रेखा दृष्टिगत होती

१- चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यां आविवेश ।। ऋ०

२- कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः । शु० य०

३- ऋ० १०-३४-१३

है । सम्भवतः वैदिक कालीन ऋषियों ने पुनर्जन्म के सम्बन्ध में इतना विचार नहीं किया है , जितना परवर्ती काल में प्राप्त होता है । ऋग्वेद के यमसूक्त[1] में इसके संकेत प्राप्त होते हैं जिसके अनुसार आत्मा अमर है । आत्मा शरीर से पृथक् है तथा मृत्यूपरान्त अग्नि केवल शरीर का ही नाश करती है । वैदिक ऋषियों की मान्यता के अनुसार आत्मा मृत्यूपरान्त यम के राज्य में पहुंचता है जहाँ पितरों का निवास है । वहाँ आत्मा के लिए स्थान नियत है । वह पितरों से मिल जाती है तथा अतिशय आनन्द की प्राप्ति होती है । अथर्ववेदानुसार[2] यह आत्मा रथ पर आरुढ होकर अथवा पक्षी के समान उड़कर दिव्यलोक में पहुँचता है ।

(ए) सृष्टि -- जगत् के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह सर्वव्यापक परमात्मा जब माया से युक्त होता है तब अपनी शक्तियों से नाना रूप में जगत् का निर्माण करता है । वेदों में जगत् की सृष्टि के सम्बन्ध में नाना प्रकार की कल्पनाएं दृष्टिगोचर होती हैं । सामान्यतः प्रजापति को जगत् का स्रष्टा कहा गया है । वह प्रजापति क्वचित् इन्द्र रूप में , अन्यत वायु अथवा सूर्य रूप स्तुत्य है । ऋग्वेद के एक सूक्तानुसार सूर्य को जगत् का आत्मा कहा गया है ।[3] वही सूर्य जगत् का स्रष्टा है उसे प्रजापति के रूप में कल्पित किया गया है वह एक होते हुए भी अनेक संज्ञा से युक्त है ।[4] सृष्टि का रहस्य ज्ञात करने के लिए नासदीय सूक्त महत्त्वपूर्ण है ।[5]

१- ऋ० १०-५८
२- आप्राद्यावापृथ्वी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्तुषश्च - ऋ० १-११५-१
३- ऋ० १-१६४-४६
४- ऋ० १-१६४-४६
५- ऋ० १०-१२१-१ से ८ नासदीय सूक्त

सृष्टि तत्व के प्रतिपादन की दृष्टि से पुरुष सूक्त भी महत्वपूर्ण है ।[1] उसके अनुसार जगत् की सृष्टि प्राकृतिक उत्पत्ति मानी गई है तथा देवों को मात्र सहायक उपकरण माना गया है । पुरुष का शरीर उसका उपादान कारण है । उस विराट् पुरुष के विभिन्न अवयव जगत् के विभिन्न भाग हैं । उस विराट् पुरुष का मस्तक आकाश , नाभि वायु , चरण भूलोक , मन चन्द्रमा , चक्षु सूर्य एवं निःश्वास को पवन रूप में कल्पित किया गया है । अथर्ववेद में काल को समस्त जगत् का स्रष्टा माना गया है तथा अन्यत्र एक सूक्त में रोहित को सृष्टि का प्रथम तत्व माना गया है । एक ऋषि ने जगत् स्रष्टा को त्वष्टा के समान माना है । जिस प्रकार त्वष्टा काष्ठादि से भवन का निर्माण करता है उसी प्रकार प्रजापति जगत् का निर्माण करता है । यदि सर्वशक्तिमान् ईश्वर जगत् के निर्माण के लिए प्रवृत्त हुआ , तो उस समय उसका स्थान कहां था ? उसे निर्माण सामग्री कहां से प्राप्त हुई ? उसने पृथ्वी तथा आकाश का निर्माण कब किया ?[2] वह कौन सा वन था और कौन सी लकड़ी थी , जिससे उसने द्यावापृथ्वी का निर्माण किया । ऋषि इन प्रश्नों का उत्तर देता है कि उस जगत्स्रष्टा ईश्वर के चारों ओर नेत्र , मुख , भुजाएं एवं पाद हैं । वह अपनी भुजाओं से द्यावापृथिवी का निर्माण करता है । वही परब्रह्म परमेश्वर ही वृक्ष एवं काष्ठ है , जिससे उसने द्युलोक तथा पृथ्वी लोक का निर्माण किया था ।[3]

इस प्रकार अनेक विचार वेदों में प्राप्त हैं जो विचारधारा उपनिषदों में

१- ऋ० १०-९०-२ पुरुष सूक्त
२- ऋ० १०-८१-२
३-ऋ० १०-९१-३ , १०-८२-६,७

पल्लवित हुई और उसे विभिन्न रूपों में कल्पित किया गया ।

औपनिषदिक दर्शन

भारतीय वाङ्मय में उपनिषदों का स्थान महत्त्वपूर्ण है । वैदिक सूक्तों में जिस दार्शनिक विचारधारा का प्रारुप मिलता है , उसका विकसित रूप उपनिषदों में ही दृष्टिगोचर होता है । समस्त दर्शन उपनिषदों की दार्शनिक विचारधारा से ही प्रसूत है तथा समस्त धार्मिक सम्प्रदायों की जन्मभूमि भी यह उपनिषद भूमि है । जो विद्या समस्त अनर्थों के उत्पादक सांसारिक क्रिया कलापों का नाश करती है , संसार के कारणभूत अविद्या (माया) के बन्धन को शिथिल करती है तथा ब्रह्म का साक्षात्कार कराती है , उसे उपनिषद् कहते हैं ।[1] उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय आत्म विद्या है । ब्राह्मण ग्रन्थों में इस शब्द का प्रयोग जीवात्मा के अर्थ में उपलब्ध होता है । "आत्मन्" और "ब्रह्मन्" उपनिषद् में एक दूसरे के पर्यायवाचक हो गए हैं , अतः आत्मा और परमात्मा का ऐक्य प्रतिपादन करना ही उपनिषदों का मुख्य सिद्धान्त है ।

आत्मा -

आत्मन् शब्द का अर्थ प्राण है । कठोपनिषद् के भाष्य में शंकराचार्य का कथन है कि सर्वत्र व्याप्त , अक्षर , गृहीता तथा विषयों का उपभोग -- इन कारणों से इसे आत्मा कहा गया है । नचिकेता - यम संवाद में आत्मा का स्वरूप

१- "उपनिषीदति सर्वानर्थकरसंसारं विनाशयैति , संसारकरणभूतामविद्यां च शिथिलयति, ब्रह्मं च गमयति इति उपनिषद्"-- संस्कृत साहित्य का इतिहास , वाचस्पति गैरोला, पृ० १३९ ।

निरूपित है -- आत्मा अमर , नित्य , शाश्वत तथा अत्यन्त पुराण है , अणुतम और महानतम है । इस आत्मतत्त्व को सम्पूर्ण वेद "ऊँ" पद के माध्यम से व्यक्त करते हैं ।[1] छान्दोग्योपनिषद् में इन्द्र-प्रजापति के संवाद द्वारा आत्म के स्वरूप का चित्रण किया गया है ।[2] आचार्य शंकर ने भी आत्मा को , चेतना को प्रकाशित करानेवाला किन्तु स्वयं चेतना के अविषय रूप में व्याख्या की है । मण्डूकोपनिषद में शुद्धात्मा को तुरीय कहा गया है । उपनिषदों में आत्मा की चतुः अवस्थाओं का निरूपण किया गया है -- जाग्रत , स्वप्न , सुषुप्ति और तुरीय । प्रथम त्रय को क्रमशः विश्व तैजस् तथा प्राज्ञ कहा गया है । आत्मा की उच्चतम अवस्था चतुर्थवस्था तुरीय है , यह विशुद्ध चैतन्य की अवस्था है । वह आत्मजीवन आत्मज्ञान के सम्मुख विषय रूप में नहीं रहा गया । आत्मा न तो वस्तुपरक सत्य है और न हि विशुद्ध व्यक्तिपरक वस्तु ही है । व्यक्ति वस्तु सम्बन्ध की सार्थकता मात्र विषयों के विश्व में तार्किक ज्ञान के क्षेत्र में है । आत्मा प्रकाशों का प्रकाश है तथा जगत् में जो प्रकाश है , वह उसी के द्वारा है । वह सतत स्थाई , प्रकाश है , गतिहीन , परिवर्तनहीन , द्रष्टा साक्षी चेतना है ।

ब्रह्म -

परमसत्य , परमतत्त्व को ब्रह्म कहा गया है ।[3] उपनिषदों के अनुसार

१- कठ० २-१-१, १-२-१८ , १-२-१९ , १-२-२०
२- छा० उ० ८-७-१
३- यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् ब्रह्मेति । रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वा तै० उ० ३-१

ब्रह्म सच्चिदानन्द रूप है । ब्रह्म के दो रूपों का निर्देश उपनिषदों में मिलता है -- निर्गुण तथा सगुण । निर्गुण ब्रह्म परब्रह्म है तथा सच्चिदानन्द रूप और निरुपाधिक होने के कारण अनिर्वचनीय है , उसे प्राप्त कर आत्मा आनन्द युक्त हो जाती है ।[1] वह परब्रह्म सत् है , केनोपनिषद्[2] में परब्रह्म का सुन्दर विवेचन मिलता है । मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्मविषयक कथन इस प्रकार है "वह ब्रह्म अदृश्य अग्राह्य , अनादि , रूपरंग से रहित तथा चक्षु-श्रोत्र से रहित , वही अक्षर , अविनाशी , आनन्दरूप , अजर तथा अमर कहा गया है ।[3] वृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य गार्गी के प्रश्न का उत्तर देते हुए उस अक्षर ब्रह्म को आवाङ्मनसगोचर बताया है तथा कार्य कारण से रहित गुण से युक्त कहा गया है । नेति-नेति इस प्रकार वर्णित आत्मा अगृह्य , अशीर्य तथा असंग है ।[4] अमृत रूप ब्रह्म विश्व में परितः व्याप्त है तथा विश्व ब्रह्म ही है , सगुण ब्रह्म को अपर ब्रह्म कहा गया है ।[5] यह नित्य , विभु , सर्जक , पालक तथा संहारक है , सोपाधिक होने के कारण वर्णनीय है । छान्दोग्योपनिषद् में सगुण ब्रह्म का विवेचन "तज्जलान्" शब्द द्वारा किया गया है ।

<u>ब्रह्म एवं आत्मा -</u>

उपनिषदों में ब्रह्म तथा आत्मा का समन्वय किया गया है तथा मुण्डकोपनिषद्

~~रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वा~~ तै० ३-२

१- आनन्दी भवति तै० ३-२-८

२- के० उ० १-४-८

३- मु० उ० १-१-६, २-२-२ , २-२-७ , २-२-११

४- वृ० उ० ४-२-४

५- सन्मात्रं हि ब्रह्म वृ० उ०
   तदेतदक्षरं ब्रह्म मु० उ० २-२-२
   आनन्दरूपममृतं विभाति मु० उ० २-२-७

में एतद्विषयक विचार प्राप्त होते हैं ।[1] इस कथन से यद्यपि द्वैत की प्रतीति हो रही है किन्तु इसी उपनिषद् के अग्रिम वचनों से दोनों की अद्वैतता सिद्ध होती है "यह अमृत (अविनाशी) ब्रह्म ही परितः व्याप्त है तथा यह विश्व ब्रह्म ही है तथा इस ब्रह्म को ज्ञातकर ही ब्रह्ममय बना जा सकता है ।[2] वृहदारण्यकोपनिषद्[3] में भी इस प्रकार का अर्थ प्रस्फुटित हो रहा है । छान्दोग्योपनिषद् में श्वेतकेतु के उपाख्यान द्वारा जीव और ब्रह्म की ऐक्यता का निरुपण किया गया है ।[4] माण्डूक्योपनिषद् में भी आत्मा ब्रह्म है "यह कहा गया है ।[5] तत्त्वमसि द्वारा भी पारमार्थिक रूप से एक है । ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि दोनों में एकत्व देखकर ही व्यक्ति शोक मोह से मुक्त हो जाता है ।[6]

ब्रह्म और जगत्

उपनिषदों में जगत् को मिथ्या कहा गया है , जगत् के प्रलय एवं उत्पत्ति के स्थान पर उसके मूल में एक परमतत्त्व माना गया है , जिसे उपनिषदों में ब्रह्म कहा गया है । ब्रह्म सत्य तथा जगत् मिथ्या है ।[7] अतः विश्व का निमित्त

१- मु० उ० ३-१-१
२- मु० उ० २-२-११, २-३-९
३- अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः वृ० उ० २-५-१९
 ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् । तदात्मानमेवावोचद् अहं ब्रह्मास्मीति - वृ० उ० १४-१०
४- छा० उ० ६-८७ , ७-२५-२, ३-१४-१, ८-१४-१
५- सर्वमेतद् ब्रह्म । अयमात्मा ब्रह्म मु० उ० २
६- तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः - ईश० ७
७- ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या

तथा उपादान कारण ब्रह्म है । मुण्डकोपनिषद् में मकड़ी की उपमा द्वारा इसकी विवेचना की गई है ।[1] तैत्तरीयोपनिषद् में भी कहा गया है कि " उस परमात्मा से सूक्ष्म आकाश , आकाश से वायु , वायु से अग्नि , अग्नि से जल , जल से पृथ्वी , पृथ्वी से औषधियां , औषधियों से अन्न , अन्न से वीर्य , वीर्य से पुरुष उत्पन्न हुआ ।[2] .

पुनर्जन्म और कर्मसिद्धान्त

पुनर्जन्म का सिद्धान्त कर्म सिद्धान्त का ही विकसित रूप परिलक्षित होता है । औपनिषदिक विचारधारा के अनुसार मानव जन्म मरण एवं आवागमन की विभीषिका से भयभीत होकर उससे मुक्ति प्राप्त करने की चेष्टा करता है[3] और उससे उन्मुक्त होकर अमृतत्व प्राप्त करता है । दर्शनानुसार व्यक्ति पुण्यापुण्य कर्म के सिद्धान्त के आधार पर ही फल को प्राप्त करता है । अतः उपनिषदों में निष्काम कर्म को महत्त्व दिया गया है । शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही मानव का उत्थान या पतन होता है । इसी कर्म सिद्धान्त के आधार पर पुनर्जन्म सिद्धान्त का विकास माना जाता है । इसी कर्म सिद्धान्त के आधार पर उपनिषदों का दृढ़ विश्वास है कि मृत्यु के पश्चात् आत्मा विद्यमान रहती है , वृहदारण्यक में सुन्दर दृष्टान्त द्वारा इसको स्पष्ट किया गया है । इसी उपनिषद में स्वर्णालंकारों की उपमा आत्मा और शरीर से दी गई है । प्रत्येक व्यक्ति को कर्मों के फल का भोग परलोक और इहलोक में करना पड़ता है । छान्दोग्यो-

---

१- यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति यथा सतः पुरुषात्केशं लोमानि तथा क्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ।

२- तै० उ० २-१

३- "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" ईश०

पनिषद[1] में देवयान-पितृयान दो मार्गों का उल्लेख मिलता है । बृहदारण्यक[2] में ब्रह्मलोक की प्राप्ति तत्त्वज्ञान द्वारा होती है जहाँ से पुनः लौटना नहीं पड़ता । वेदविहित कर्मों से चन्द्रलोक की प्राप्ति होती है और पुण्य क्षीण होने पर लौटना पड़ता है । कौषीतकि[3] के अनुसार देह त्याग के अनन्तर समस्त प्राणी चन्द्रलोक जाते हैं वहाँ से कुछ पितृयान द्वारा ब्रह्मलोक को तथा आकर नानायोनियों में जन्म लेते हैं । केनोपनिषद[4] में देवयान को उत्तरमार्ग तथा पितृयान को दक्षिण मार्ग कहा जाता है ।

मुक्ति -

उपनिषदों के अनुसार जब आत्मा उस परमपद को प्राप्त कर शाश्वत सुख को प्राप्त करता है तथा मृत्यु तथा दुःख के परे अमृतत्व को प्राप्त करता है और जन्म मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है , उसे ही आत्मा की मोक्षावस्था कहा गया है । उपनिषदों में ज्ञान को मोक्ष का साधन माना गया है क्योंकि ज्ञान द्वारा ही अज्ञान अथवा अविद्या का नाश होता है ।[5] उपनिषदों में कहीं - कहीं यह भी कहा गया है कि जब आत्मा परब्रह्म का साक्षात्कार कर अपने स्वरूप का ज्ञान कर लेती है तब उसकी यह स्वरूपस्थिति ही मोक्ष कहलाता है ।[6] वस्तुतः मुक्ति का प्रमुख साधन

१- छा० उ० ५-१०-१८
२- बृ० उ० ३-२-१३ ; ३-२-१३, ६-२-१५,१६
३- कौ० १०-२-२
४- के० उ० १-९-१०
५- "अविद्यास्तमयो मोक्षः"
६- आत्मनः स्वरूपेणावस्थान मोक्षः

विद्या है । विद्या द्वारा अमृततत्व की प्राप्ति होती है जो मोक्ष की अवस्था है ।[1] इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर भी वह फिर इस जन्म-मरणशील संसार को प्राप्त नहीं करता है ।[2] इस प्रकार अमृतत्व की प्राप्ति हो जाने पर ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर हृदय की ग्रंथियां खुल जाती हैं ।[3] उपनिषदों में मुक्ति तीन प्रकार की मानी जाती है -- क्रममुक्ति, सद्योमुक्ति तथा जीवन्मुक्ति । जो आत्मा क्रम से देवयानमार्ग से होकर ब्रह्मलोक में पहुंचकर ब्रह्मलोक की प्राप्ति होने पर मुक्ति मिलती है उसे क्रममुक्ति कहते हैं तथा देहपात के अनन्तर ब्रह्मलोक की प्राप्ति होने पर मुक्ति मिलती है, अतः इसे विदेह मुक्ति भी कहते हैं ।[4] जब आत्मा को ब्रह्मज्ञान हो जाने पर ब्रह्मप्राप्ति या मुक्ति प्राप्ति के लिए अन्यत्र नहीं जाना पड़ता, उसके प्राण अन्यत नहीं जाते, ब्रह्मरूप होने के कारण ब्रह्म में लीन हो जाते है, उसे सद्यो-मुक्ति कहते हैं । ब्रह्मनिष्ठ आत्मज्ञानी को देहपात के पूर्व ही इस जीवन से मुक्ति प्राप्त होती है, उसे जीवन्मुक्ति कहा गया है । गीता में इसे ही ब्राह्मी स्थिति कहा गया है ।[5] कठोपनिषद् में भी इसके विषय में कहा गया है ।[6] वस्तुतः ब्रह्म का साक्षात्कार तथा अमरतत्व की प्राप्ति इसी जीवन में तथा इसी शरीर में होनी चाहिए,

---

१- "विद्ययाऽमृतमश्नुते"
२- न पुनरावर्तते छा० उ० ८-१५-१
३- भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया मु० २-२-८
४- न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्नोति बृ० उ० ४-४-६
५- गी० २-७२
६- यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ।
क० उ० २-३-१४

यही जीवन का परम लक्ष्य है । उपनिषदों में इस परम लक्ष्य की प्राप्ति के अनेक उपाय बताए गए हैं जिसके श्रवण , मनन , निदिध्यासन से इस जन्म में परमपद को प्राप्त कर परमब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सकता है ।

कतिपय पुराणों के दार्शनिक विचार

ब्रह्मसूत्र तथा उपनिषद् के विषय में दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण प्रणाली का मत पुराण की परम्पराओं में सुरक्षित है । उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र की शंकर द्वारा की गई व्याख्या में पुराण में पाए जाने वाले अर्ध वस्तुवादी अर्थबोधन से बहुत दूर हट गया है । संभवतः इसीलिए शंकर पुराण का उल्लेख नहीं करते किन्तु जब शंकर द्वारा अर्थबोधन का प्रकार पूर्वगामी पुराणों में प्राप्त नहीं होता और अन्य कारणवशात् कुछ उपनिषदों के अति अद्वैतवाद को अन्य कारणों से सरल कर दिया है , तो यह माना जाता है कि पुराण और भगवद्गीता में प्राप्त वेदान्त मत सामान्य रूप से ब्रह्मसूत्र और उपनिषद् दर्शन का अतिप्राचीन दृष्टिकोण है । सभी पुराणों में सर्ग और प्रतिसर्ग का वर्णन आवश्यक है और इन्हीं खण्डों में दार्शनिक विचार भी प्राप्त होते हैं ।[१] यहां कतिपय प्रमुख पुराणों में विद्यमान दार्शनिक विचारों को संक्षेप में समन्वित करने का प्रयास किया गया है ।

विष्णुपुराण के अनुसार ब्रह्म की प्रथम अभिव्यक्ति पुरुष मानी गई है । इसके पश्चात् व्यक्ताव्यक्त तथा काल का स्थान है । प्रधान , पुरुष , व्यक्त और काल

१- सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंच लक्षणम् ॥ कू० पु० १-१२

का मूलकारण विष्णु की परमावस्था को माना गया है , यहाँ विष्णु ब्रह्म की प्राप्ति होती है ।[1] परम सत्य शुद्ध सत्ता है , जो केवल नित्य सत्ता की ही स्थिति कही जा सकती है । यह सर्वज्ञ है और वह सब कुछ है (सर्वेश्वरवाद) , अतः इसे वासुदेव कहा गया है ।[2] वह निर्मल है क्योंकि उसमें कोई वाह्य वस्तु नहीं , जिसे फेंक दिया जा सके ।[3] वह चार रूपों में स्थित है -- व्यक्त , अव्यक्त , पुरुष और काल , अपनी लीला से ये चार रूप उत्पन्न हुए हैं ।[4] प्रकृति को सदसदात्मिका[5] और त्रिगुणात्मिका[6] कहा गया है । आरम्भ में ये चार तत्व होते हैं , ब्रह्म , प्रधान , पुरुष और काल[7] का कार्य सर्जन काल में पुरुष-प्रकृति का संयोग तथा प्रलय में अलग रखना है । समस्त व्यक्त पदार्थ अन्तिम प्रलय के अन्त में प्रकृति में विलीन होते हैं , अतः प्रकृति को प्रतिसंचार कहते हैं ।[8] काल अनादि है अतः प्रलय के समय भी रहता है तथा प्रकृति पुरुष को संयुक्त किए रहता है और सर्गारम्भ वेला में दोनों को विभक्त करता है , उस समय परमात्मा अपने संकल्प से प्रकृति एवं पुरुष में प्रविष्ट होता है और सर्जन प्रारम्भ करने वाला क्षोभ उत्पन्न करता है ।[9]

१- आपोनारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥ मनु० १-१०
२- सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः ,
ततः स वासुदेवेति विद्वभिः परिपठ्यते ॥ वि० पु० १-२-१२
३- हेयाभावाच्च निर्मलम् - वि० पु० १-२-१३
४- व्यक्तं विष्णुस्तथाव्यक्तं पुरुषः काल एव च - वि० पु० १-२-१८
५- वि० पु० १-२-१९
६- वही ।
७- वही , १-२-२३
८- वही , १-२-२४,२५
९- वही , १-२-२९

जब परमात्मा प्रकृति और पुरुष में प्रविष्ट होता है तब उसका सान्निध्य मात्र ही सर्जन के लिए पर्याप्त है , इसकी उपमा विष्णुपुराण में सुगन्धित पदार्थ से दी गई है।[१] परमात्मा क्षोभ एवं क्षोभ्य दोनों है तथा इसी कारण विरोध और विकास द्वारा सर्ग होता है । यहां भी सर्वेश्वरवाद की प्राप्ति होती है , सभी उसकी अभिव्यक्तियां हैं और प्रत्येक में वह विद्यमान है । अणु जीवात्मा है ।[२] विष्णु या ईश्वर विकार रूप से विद्यमान है अर्थात् वह व्यक्त रूप में है और पुरुष तथा ब्रह्म रूप में भी।[३] यहां क्षेत्रज्ञाधिष्ठानात् में व्याख्याकारों ने क्षेत्रज्ञ से पुरुष का तात्पर्य माना है , किन्तु यहां प्राप्त सन्दर्भ तथा सांख्यमत इसका समर्थन नहीं करता है । प्रस्तुत सन्दर्भ ईश्वर को लक्ष्य करता है तथा प्रकृति में प्रवेश द्वारा तथा उसके सान्निध्य द्वारा अधिष्ठातृत्व का प्रसंग प्राप्त होता है ।[४] प्रधान से महत्तत्व उत्पन्न होता है , उस वेला में प्रधान द्वारा आवृत्त होता है और आवृत्त होकर सात्विक , राजसिक और तामसिक महत् के रूप में विभक्त होता है । प्रधान महत् को त्वचा द्वारा बीज के स्थान आवृत्त करता है ।[५] इस प्रकार आवृत्त महान् से वैकारिक , तैजस् और भूतादि या तमस् अहंकार विविध रूप से उत्पन्न होते हैं । इस भूतादि अहंकार जो महत् द्वारा आवृत्त है शब्द तन्मात्र सहज स्वीकार , स्वविकार उत्पन्न होते हैं उसी प्रक्रिया द्वारा शब्द से आकाश भूततत्त्व उत्पन्न होता है । पुनः भूतादि शब्द तन्मात्र आकाश को आवृत्त कर लेता

१- वि० पु० १-२-३०
२- वही , १-२-३१
३- वही , १-२-३२,३३
४- वही , १-२-२९,३०,३१,३२
५- प्रधानतत्त्वेन समं त्वचा बीजमिवावृत्तम्"
वि० पु० १-२-३४

है । आकाश इस प्रकार उपाधिग्रस्त हो स्पर्श तन्मात्र को उत्पन्न करता है जो त्वरित ही स्थूल वायु उत्पन्न करता है । भूतादि पुनः आकाश , शब्द , स्पर्श तन्मात्रों और विभक्त वायु को आवृत्त करता है जो पुनः रूप तन्मात्र को उत्पन्न करता है और त्वरित ही ज्योति उत्पन्न करता है ।[1] स्पर्शतन्मात्र और वायु रूप तन्मात्र को आवृत्त करता है । इस प्रकार उपाधिग्रस्त होकर विभक्त स्थूल ज्योति रस तन्मात्र को उत्पन्न करता है जिससे पुनः स्थूल रूप उत्पन्न होता है । उसी प्रकार रस तन्मात्र तथा रूपतन्मात्र आवृत्त होकर विभक्त स्थूल सूप गन्ध तन्मात्र को उत्पन्न करता है जिसमें पुनः स्थूल पृथ्वी उत्पन्न होती है । तन्मात्र गुणों की अव्यक्त उपाधियां है , इसीलिए इसमें गुण प्रकट नहीं है , अतः इन्हें अविशेष कहा है , ये शान्त-घोर और मूढ त्रिगुण धर्म प्रकट नहीं करते , इस कारण भी इन्हें अविशेष कहा गया है ।[2]

तेजस् अहंकार से पंचज्ञानेन्द्रियां तथा कर्मेन्द्रियां उत्पन्न होती हैं । वैकारिक अहंकार से मनस् उत्पन्न होता है । ये तत्व सुसंगति तथा एकता से कार्य करते हैं और तन्मात्र अहंकार और महत् के साथ परमात्मा के परमनियन्त्रण में विश्व की एकता बनाते हैं । जब विश्व वृद्धि पाता है तब वे अण्डाकार रूप में हो जाते हैं जो क्रमशः जल के बुदबुद के समान अन्दर से विस्फोट करते हैं और यह विष्णु रूप ब्रह्म का भौतिक शरीर कहलाता है । विश्व बाह्य परिधि पर आप , अग्नि , वायु, आकाश और भूतादि से आवृत्त रहता है और इसके बाद महत् और अव्यक्त द्वारा

१- आकाशः आकाशमयो भूतादिः स्पर्श तन्मात्रं ससर्ज ।
२- वि० पु० १-२-४४

जो पृथ्वी से दसगुणा दीर्घ है । इस प्रकार सप्तावरण है । योग्य समय पर पुनः तमस् के आधिक्य से परमात्मा विश्व को रुद्र रूप से भक्षण करता है तथा ब्रह्मारूप से सर्जन करता है , अन्ततोगत्वा परमात्मा विश्व का सर्जक-सर्जन तथा रक्षक-संहारक भी है ।

यद्यपि ब्रह्म निर्गुण , अज्ञेय तथा निर्मल है तथापि अपनी शक्ति द्वारा सर्जक बन सकता है । वस्तुतः शक्ति या बल तथा द्रव्य का सम्बन्ध विचारातीत है ।[१] व्यक्ति कदापि इस सम्बन्ध क्रम को सिद्ध नहीं कर सकता । पृथ्वी हरि की प्रार्थना करती हुई उसका इस प्रकार वर्णन करती है " इस जगत् में जो भी कुछ दृश्य है , वह आपकी अभिव्यक्ति है , सामान्य मनुष्य इसे भौतिक जगत् मानने में भूल करता है , समस्त जगत् ज्ञानरूप है , उसे विषय मानना भूल है ।[२] ज्ञानी इसे चिद्रूप मानते हैं तथा परमात्मा का स्वरूप मानते हैं , जो शुद्ध ज्ञानरूप है । जगत् को भौतिक मानना और ज्ञान की अभिव्यक्ति न मानना ही भूल है । अन्यत्र विष्णुपुराण में ऐसा प्रसंग प्राप्त है कि परमात्मा ही एक निमित्त कारण है तथा उपादान कारण जगत् के पदार्थ की शक्तियां है , जो उत्पन्न की जाने वाली हैं । इन शक्तियों के जगत् रूप में प्रकट होने के लिए मात्र निमित्त कारण की आवश्यकता रहती है । परमात्मा निमित्त मात्र है तथा सान्निध्य मात्र से निमित्त है । जगत् का उपादान कारण जगत् के पदार्थों की शक्ति में विद्यमान है ।

१- वि० पु० १-३-१,२

२- वि० पु० १-४-३९

अन्यत्र सृष्टि का वर्णन भिन्न रूप से प्राप्त होता है ।[1] ईश्वर ने सृष्टि रचना का विचार किया तथा एक जड़ रूप सृष्टि तमस् , मोह , महामोह , तामिस्र और अन्धतामिस्र के रूप में प्रकट हुई इन्हें अविद्या भी कहा गया । इनमें पंच प्रकार के वृक्ष -- गुल्म , लता , विरुत , तृण , तथा वृक्ष समन्वित हैं , इनमें अन्तः और वाह्य चेतना नहीं होती , इन्हें संवृतात्मन कहा जा सकता है । इसके पश्चात् पशु-पक्षियों को उत्पन्न किया जिन्हें तिर्यक् कहा गया , ये तमस् से पूर्ण हैं , अतः "अवेदिनः" कहलाते हैं । तिर्यक् रचना के पश्चात् देवताओं की रचना हुई, जो सर्वदा सुखी रहते हैं तथा अपने विचार , अन्तर्वेदना तथा वाह्य विषय को जान सकते हैं तथा परस्पर वार्तालाप भी कर सकते हैं , इसके पश्चात् मनुष्यों की रचना की इन्हें अर्वाक् स्रोत्र कहते हैं , जो देव रचना के ऊर्ध्व स्रोत्र भी है , इस प्रकार नौ प्रकार की रचना है । प्रथम तीन को अबुद्धिपूर्वक कहते हैं , जिनमें महत् , तन्मात्र और भूतस् शारीरिक इन्द्रियां रूपी भौतिक रचनाएं हैं । चतुर्थ वर्ग वृक्ष , पंचम वर्ग तिर्यक् षष्ठ ऊर्ध्वस्रोत्र सप्त अर्वाक् स्रोतस् सर्जन है । अष्ठ अनुग्रह सर्ग है[2] तथा नवम सर्ग की संज्ञा कौमार है । संभवतः यह ईश्वर के मानस पुत्र सनत्कुमारादि के सर्जन से सम्बन्ध रखता है । प्रलय भी चार प्रकार के हैं -- नैमित्तिक या ब्राह्य , प्राकृतिक , आत्यन्तिक तथा नित्य है । नैमित्तिक प्रलय ब्रह्मा की निद्रा है ,

----

१- वि० पु० १-४-४०,५१,५२,६५
२- वा० पु० ६-६-८, ६-५८-५
मार्कण्डेय पुराण में अनुग्रह पंचम सर्ग है ।
कूर्मपुराण में भूतसर्ग पंचम सर्ग है - ७-११

प्राकृतिक प्रलय में विश्व प्रकृति में विलीन होता है , आत्यन्तिक परमात्मा के ज्ञान से होता है अर्थात् जब योगी स्वयं को परमात्मा में लय करता है , चतुर्थ नित्य प्रलय, निरन्तर विनाश है ।

वायु-पुराण में आत्यन्तिक सिद्धान्त का उल्लेख है जो परमात्मा की प्रथम कार्यकारी प्रवृत्ति से है , जिसे "कारणं अप्रमेयम्" कहा गया है , इनकी अनेक संज्ञाएं हैं -- ब्रह्म , प्रकृति , प्रसूति , आत्मन् , गुह , योनि , चक्षुष् , क्षेत्र , अमृत , अक्षर , शुक्र , तपस् , सत्वं तथा अतिप्रकाश । ये दूसरे पुरुष को आवृत्त करते हैं -- यह दूसरा पुरुष संभवतः लोक-पितामह है । राजस् के आधिक्य एवं काल के संयोग से क्षेत्र से सम्बन्धित आठ प्रकार के विकार के स्तर से उत्पन्न होते हैं[1], इस सम्बन्ध में वायु पुराण भी प्राकृतिक , नैमित्तिक तथा आत्यन्तिक प्रलय का उल्लेख करता है ।[2] वायु पुराण में पदार्थों का विकास शास्त्र निर्देश तथा बुद्धि द्वारा ज्ञात होता है[3] तथा प्रकृति समस्त संवेद्य गुणों से रहित है तथा त्रिगुणात्मिका काल रहित अज्ञेय है । मूलावस्था अर्थात् गुणों की साम्यतावस्था में सभी पदार्थ तमस् से व्याप्त रहते थे किन्तु सर्गारम्भ में क्षेत्रज्ञ से संयुक्त होने से महत् उत्पन्न होता है , यह महत् सत्व की सहायता से उत्पन्न होता है तथा शुद्ध सत्ता को व्यक्त करता है । महत् को मनस् , महत् , मति , ब्रह्मा , पुर , बुद्धि , ख्याति , ईश्वर , चिति , प्रज्ञा, स्मृति , संवित् और विपुर भी कहा गया है ।[4]

१- वा० पु० २-११
२- वा० पु० ३-२३
३- इच्छास्त्र युक्तया स्वमति प्रयत्नात् नमस्तमाविष्कृत धी-धृतिभ्यः वा० पु० ३-२४
४- वा० पु० ४-१६

महत्प्रज्ञा सर्जनेच्छा से प्रेरित होकर रचना प्रारम्भ करती है तथा धर्माधर्म तथा अन्य तत्त्वों की उत्पत्ति होती है [1], क्योंकि सभी प्राणियों के स्थूल प्रयत्न महत् में सूक्ष्मावस्था में रहते हैं, अतः उसे महान् कहा गया है। इससे सभी की वृद्धि होती है अतः इन्हें ब्रह्म कहा गया। वह समस्त विश्व को सूक्ष्म देखता है अतः ईश्वर है। सभी प्रत्यक्ष इसी से उत्पन्न है अतः इसे प्रज्ञा कहा है, सभी ज्ञानावस्थाएं तथा सभी प्रकार के कर्म तथा उनके फल कर्मानुरूप निश्चित होने के लिए इसी में संगृहीत होते हैं, अतः यह चिति है, क्योंकि वह भूतकाल को स्मरण रखता है अतः स्मृति कहा गया है। समस्त ज्ञानों का ज्ञान, सर्वव्यापी संवित् ज्ञान है। समस्त संघर्षात्मक अभीष्ट वस्तुओं के अभाव के कारण विपुर है तथा सूक्ष्म शरीर में निवास करने के कारण पुरुष है। रजस् के आधिक्य से महत् अहंकार को उत्पन्न करता है, तमस् के आधिक्य से भूतादि उत्पन्न होते हैं जिससे तन्मात्र उत्पन्न हुए हैं। शून्य रूप आकाश का सम्बन्ध शब्द से है, भूतादि के परिणाम से शब्द तन्मात्र उत्पन्न होता है। जब भूतादि शब्द तन्मात्र को आवृत कर लेते हैं, तब स्पर्श तन्मात्र उत्पन्न होता है, उसी प्रकार अन्य भूत और उनके गुण उत्पन्न होते हैं। तन्मात्राओं को अविशेष कहा गया है। वैकारिक अथवा सात्विक अहंकार से पंच ज्ञानेन्द्रियां, पंचकर्मेन्द्रिय तथा मनस् उत्पन्न होते हैं।[2] ये गुण परस्पर सहकार से कार्य करते हैं तथा पानी के बुदबुद के समान ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करते हैं। इसी ब्रह्माण्ड से क्षेत्रज्ञ, ब्रह्मा

१- वा० पु० ४-२५
२- यहां रजस् अहंकार का कोई कार्य नहीं है, जिससे कर्मेन्द्रियां उत्पन्न होती हैं।

या हिरण्यगर्भ उत्पन्न होता है । परमात्मा प्रत्येक प्रलय के समय अपना शरीर छोड़ता है तथा नवीन सर्ग के समय नवीन शरीर धारण करता है ।[1] ब्रह्माण्ड अप , तेज , उष्णता , वायु , आकाशादि भूत , महत् और अव्यक्त से आवृत्त रहता है । अष्टविध प्रकृति है तथा ब्रह्माण्ड संभवतः अष्टावरण है ।[2] वायु पुराण में रजस् को सत्व और तमस् में प्रवृत्त्यात्मक रूप से विद्यमान रहने की उपमा तिल में तेल से दी गई है । इसके पश्चात् महेश्वर का प्रधान और पुरुष में प्रवेश तथा रजस् द्वारा प्रकृति की साम्यावस्था में क्षोभ का उल्लेख मिलता है।[3] गुणक्षोभ से देवत्रय उत्पन्न होते हैं -- रजस् से ब्रह्म , तमस् से अग्नि तथा सत्व से विष्णु । अग्नि का काल से भी एकत्व किया गया है । माहेश्वर योग का भी वर्णन प्राप्त है ।[4] यह पंचधर्म प्राणायाम , ध्यान , प्रत्याहार , धारण और स्मरण से युक्त है । प्राणायाम तीन प्रकार के हैं -- मन्द , मध्यम , उत्तम । ध्यान द्वारा ईश्वर के गुणों का ध्यान करना चाहिए । प्रत्याहार अपनी इच्छाओं का नियमन है । धर्म मन को नासिका के अग्रभाग पर ध्यान केन्द्रित करना है । ध्यान द्वारा सूर्य अथवा चन्द्र के समान अप्रतिहत प्रकाश प्राप्त होता है । अनेक प्रकार की सिद्धि जो योगी को प्राप्त होती है , उसे उपसर्ग कहा गया है और इन सिद्धियों से दूर रहने का आग्रह किया है । ध्यान के विषय पृथ्वी , मनस् और बुद्धि से उत्पन्न तत्त्व है । योगी को इन प्रत्येक तत्वों का

१- वा० पु० ४-५८
२- वही , ४-७७,७८
३- वही , ५-९
४- वही , अ० ११-१५

क्रम से ध्यान कर त्याग करना चाहिए । जब इन सातों से आसक्ति समाप्त हो जाती है , वह सर्वज्ञ , सन्तोष , अनादिज्ञान , स्वातन्त्र्य , अनवरुद्ध एवं अनन्त शक्ति युक्त महेश्वर को ध्यान करता है । अतः योग का अन्तिम हेतु महेश्वर जैसी ब्रह्म प्राप्ति है[१] जिसे अपवर्ग भी कहते हैं ।[२]

मार्कण्डेय पुराण में योग को ज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति कहा है जो एक ओर मुक्ति तथा ब्रह्म से तादात्म्य है , तो दूसरे पक्ष में प्रकृति के गुणों से वियोग है ।[३] सभी दुःख मोह से उत्पन्न होते हैं । मोह निवृत्ति से ममत्व का भी नाश हो जाता है , जो सुख की प्राप्ति कराता है । मुक्ति प्राप्त कराने वाला ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है तथा अन्य समस्त अज्ञान है । धर्मपालन तथा अन्य कर्त्तव्य पालन द्वारा पाप और पुण्य के फल का अनुभव लेने से , अपूर्व के फल के संग्रह से और दूसरों के पूर्ण हो जाने से कर्म का बन्धन होता है। अतः कर्म से मुक्ति इससे विरोधी प्रक्रिया से ही हो सकती है , प्राणयम से पाप नष्ट होते हैं ।[४] अन्तिम स्थिति में योगी ब्रह्ममय से एक हो जाता है यथा जल-जल में मिश्रित हो जाता है ।[५] यहां योग के चित्तवृत्तिविरोध का उल्लेख नहीं मिलता है । वासुदेव यहां परमब्रह्म है , जिसने अपनी रचना की इच्छा से काल की शक्ति द्वारा सभी रचा है । इसी शक्ति

१- यहां योग में वृत्ति निरोध का प्रसंग नहीं ।
२- मार्कण्डेय पुराण का अरिष्ट अध्याय
३- ज्ञानपूर्वो वियोगो यो ऽ ज्ञानेन सह योगिनः ।
   सा मुक्ति ब्रह्मणा चैक्यम् अनैक्यम् प्रकृते गुणैः । मा० पु० ३९-१
४- प्राणायाम तथा योग की प्रक्रिया वायु पुराण से साम्यता रखती है ।
५- मा० पु० ४१-४२

द्वारा पर ब्रह्म ने स्वयं में से पुरुष तथा प्रकृति को भिन्न-भिन्न किया तथा उसका संयोग किया । इन सर्जन क्रम में सर्वप्रथम महत् , ततो अहंकार इनमें से गुणत्रय उत्पन्न होता है । तमस् से पंच तन्मात्र तथा पंचभूत , रजस् से दशेन्द्रियां तथा बुद्धि और सत्त्व में से इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता तथा मनस् उत्पन्न हुए ।[1] इसके पश्चात् वासुदेव को समस्त पुरुष , प्रकृति तथा विकारों में व्याप्त बताया गया है , अतः वह व्यापक तथा अतीत है । इनमें व्याप्त रहकर भी दोषों से रहित है । सच्चा ज्ञान वह है जो वासुदेव से उत्पन्न सभी रूपों को , प्रकृति , पुरुष प्रभृति को समझता है तथा वासुदेव को भी शुद्ध तथा पररूप से जानता हो ।[2] पद्मपुराण में ब्रह्म भक्ति का उल्लेख है जो कायिक , वाचिक या मानसिक , लौकिक या वैदिक और आध्यात्मिकी है । आध्यात्मिकी भक्ति भी दो प्रकार की है -- सांख्य भक्ति तथा योगभक्ति ।[3] चतुर्विंश तत्त्वों का ज्ञान तथा इनका परम तत्त्व पुरुष से भेद तथा प्रकृति और जीव का ज्ञान सांख्य भक्ति है ।[4] भक्ति यहां विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त है ।[5]

नारदीय पुराण में नारायण को परम सत्य माना गया है अर्थात् धार्मिक दृष्टि से वह स्वयं में से सर्जक ब्रह्मा को , रक्षक एवं पालक विष्णु को और संहारक रुद्र को रचता है ।[6] परमसत्य महाविष्णु है[7] वह अपनी विशिष्ट शक्ति द्वारा सृष्टि

१- स्क० पु० २-९-२४ , १-१०
२- स्क० पु० ६५-७४
३- प०पु० १-१५-, १-६४, १-७७
४- प०पु० १००-१८६
५- प०पु० ८७-११०
६- ना० पु० १-३-४
७- ना० पु० १-३-६

रचता है । यह शक्ति दोनों प्रकार कीसदसत् है , दोनों विद्या तथा अविद्या है । जब जगत् महाविष्णु से पृथक् देखा जाता है , यह दृष्टि स्वयं स्थिति अविद्यागत है , किन्तु दूसरे पक्ष में ज्ञाताज्ञेय के भेद का ज्ञान नष्ट हो जाता है और एकमात्र एकता का ज्ञान ही रहता है , यह विद्या के कारण है ।[1] जिस प्रकार हरि जगत् में व्याप्त और ओतप्रोत है[2], उसी प्रकार उसकी शक्ति भी ओत-प्रोत है । जिस प्रकार उष्णता का धर्म अपने आधार अग्नि में व्याप्त रहता है , उसी प्रकार हरि की शक्ति उससे भिन्न नहीं रह सकती ।[3] शक्ति व्यक्ताव्यक्त रूप से समस्त जगत् में व्याप्त है , प्रकृति-पुरुष तथा काल उसकी अभिव्यक्तियां हैं[4] क्योंकि यह शक्ति महाविष्णु से भिन्न नहीं । इसके अतिरिक्त प्रथम सर्ग की बेला में महाविष्णु सर्जनेच्छा रखते हुए पुरुष , प्रकृति तथा काल का रूप धारण करते हैं । पुरुष के सान्निध्य से क्षुब्ध होकर प्रकृति से महत् प्रकट-होता है तथा महत् से बुद्धि एवं बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है ।[5] अन्तिम सत्ता को वासुदेव भी कहा है जो परम ध्येय और परम ज्ञान है ।[6] जगत् में उत्पन्न समस्त जीव को दुःखत्रय का भोग करना पड़ता है तथा परमात्मा की प्राप्ति ही इसकी आत्यन्तिक निवृत्ति का एकमात्र उपाय है ।[7] परमात्मा प्राप्ति के दो उपाय

१- ना० पु० १-२-७
२- ना० पु० १-३-७९
३- ना० पु० १-२-१२
४- ना० पु० १-३-१३
५- ना० पु० १-३-१७
६- ना० पु० २८-३१
७- ना० पु० ८०
७- ना० पु० अध्याय ३-२६ तथा अध्याय ३३-४८

हैं ज्ञानमार्ग तथा कर्म मार्ग । ज्ञानशास्त्र के अध्ययन द्वारा विवेक प्राप्त होता है ।[1]

योग का वर्णन भी द्वितीय अध्याय में प्राप्त है , इसे ब्रह्मलय कहा है । मानस् ही बन्धन और मोक्ष का कारण है । बन्धन विषयों से अनुरक्ति है , मुक्ति उनसे असंगता है । जब आत्मा मन को चुम्बक के समान खींचकर उसकी प्रवृत्ति के अधः के प्रति निर्देशित करता है और अन्त में ब्रह्म से संयुक्त करता है , यही योग है ।[2]

विष्णु की तीन प्रकार की शक्तियां है -- परा अपरा तथा कर्म ।[3] समस्त शक्तियां विष्णु की हैं तथा उनकी ही शक्ति से सभी जीव कर्म में प्रवृत्त होते हैं ।[4] भक्ति को श्रद्धा अर्थ में प्रयुक्त किया है तथा इसे जीवन के समस्त कर्मों के लिए आवश्यक समझा गया है ।

कूर्म पुराणानुसार परमात्मा पहले अव्यक्त , अनंत , अजेय और अन्तिम निर्देशक के रूप में रहता है । किन्तु वह अव्यक्त , निष्क्रिय और विश्व का कारण भी है तथा सदसत् प्रकृति से उसका एकीकरण भी किया गया है । इस रूप में वह पर-ब्रह्म कहा गया है जो गुणत्रय की साम्यावस्था है , इस अवस्था में पुरुष मानों उसमें समाया रहता है । इसे प्रकृतिलय की अवस्था भी कहा गया है । परब्रह्म की इस अव्यक्ता-वस्था में वह ईश्वर रूप में व्याप्त होने लगता है तथा अपने अन्तरंग संयोग से

१- ना० पु० ४,५ तथा १-४६, २१-२४
२- ना० पु० ४७-७
३- ना० पु० ४७-४९
४- ना० पु० १-४

पुरुष - प्रकृति में प्रवेश करता है । ईश्वर को तटस्थ क्षोम्य और गतिशील क्षोभक दोनों माना गया है । इसी कारण ईश्वर को स्वकुंचन और विस्तार द्वारा प्रकृति के समान व्यवहार वाला कहा गया है । प्रकृति-पुरुष की क्षुब्धावस्था से महत् का बीच उत्पन्न होता है । पुरुष और प्रधान स्वरूप (पुरुष प्रधानात्मक) है , इससे महत् की उत्पत्ति होती है जो आत्मन् , मति , ब्रह्मा , प्रबुद्धि , ख्याति , ईश्वर , प्रज्ञा , धृत्ति , स्मृति और संवित् कहलाता है । इस महत् से त्रिविध अहंकार उत्पन्न होते हैं ये वैकारिक , तेजस् तथा भूतादि है । इस अहंकार को अभिमान, कर्त्ता , आत्मन् भी कहा है । इसके अतिरिक्त विश्व मनस् के समान एक मनस् की कल्पना की गई है , जो अव्यक्त से अचिरात् ही उत्पन्न होता है तथा इसे प्रथम विकार माना गया है जो तामस अहंकार से उत्पन्न कार्यों की अधिनियंत्रणा करता है ।[1] इस मनस् को तेजस् और वैकारिक अहंकार से उत्पन्न इन्द्रिय रूप मनस् से भिन्न मानना चाहिए । तन्मात्र और भूत के विकास के प्रकार के दो प्रकार प्राप्त होते हैं इससे प्रतीत होता है कि कूर्मपुराण का पुनः संस्करण हुआ होगा ।

रामायण - महाभारत

रामायण महर्षि वाल्मीकि कृत संस्कृत साहित्य का प्रथम काव्य है । ऐसी मान्यता है कि किसी व्याध द्वारा क्रौंचयुगल में एक के मारे जाने पर क्रौंची की व्यथा

१- मनस्त्वव्यक्तजं प्रोक्तं विकारः प्रथमः स्मृतः ।
येनासौ जायते कर्त्ता भूतादींश्चानुपश्यति ॥ कू० पु० ४-२१

देखकर महर्षि का हृदय पिघल गया तथा श्लोक के रूप में फूट पड़ा जो भारतीय काव्य का प्रथम पद है । महर्षि वाल्मीकि ने राम के माध्यम से संतुलित समाज, व्यवस्थित राष्ट्र , मर्यादित आचार और संयत व्यवहार की आधारशिला पर धर्म का सुदृढ़ प्रासाद स्थापित किया है । रामायण की भाँति महाभारत भी लोक धर्म का अमूल्य ग्रंथ है ।

महाभारत में प्रमुख रूप से जीवन की तीन दृष्टियों का अध्ययन है -- नियतिवादी , प्रज्ञावादी और आध्यात्मवादी दृष्टिकोण । आध्यात्म शास्त्र भगवद्गीता में सुरक्षित है । परम्परानुसार कृष्ण ने कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में अर्जुन का मोह दूर करने के लिए इसका प्रवचन किया , किन्तु वर्तमान रूप में यह किसी चतुर विचारक की रचना है , जिसका लक्ष्य समस्त मतों , दृष्टियों , सिद्धान्तों और पद्धतियों का समन्वय कर सम्पूर्ण सत्य का दर्शन करना है । उसमें सांख्य[1] के प्रकृति पुरुष के द्वित्व को पुरुषोत्तम की परिकल्पना कर एकत्व में बदल दिया । उसके मतानुसार पुरुषोत्तम विश्व का आदिम बीज और अन्तिम तत्व है , किन्तु वह सचेष्ट एवं गतिशील है । गति की प्रक्रिया में उसके दो रूप परा प्रकृति और अपरा प्रकृति है । परा प्रकृति पुरुष या जीव है तथा अपरा प्रकृति भौतिक जगत् का मूलरूप है , इनमें सन्तुलन (सत्व) गति (रज) और स्थिति (तम) समाई है । ये गुणत्रय इसे क्षुब्ध करते हैं, अतः ये अष्टमूर्ति पृथ्वी , पृथ्वी-जल , अग्नि-वायु , आकाश , मन , बुद्धि , अहंकार रूप है । इनसे मन , प्राण और भूत के विविध रूप प्रकट होते हैं , जिनका उदय विलय सृष्टि की लीला है । अतः गीता में अनेक दार्शनिक दृष्टियों का

१- गीता द्वितीय अध्याय

समन्वय मिलता है । इसके अतिरिक्त गीता ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोग की शिक्षा देती है तथा उनका सम्मत कर्मयोग निष्काम कर्मयोग है ।[1]

महाकवि कालिदास

ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में महाकवि कालिदास का स्थितिकाल स्वीकार करना दर्शन सम्मत है । कालिदास की रचनाओं में काव्य एवं दर्शन का समन्वय है ।पाठक एक ओर काव्य का रसास्वादन करता है , दूसरे पक्ष में उसके दार्शनिक विचारों और तत्वों से भी अवगत होता जाता है । कालिदास का व्यक्तित्व समन्वयवादी है । रघुवंश , कुमारसम्भव तथा मेघदूत , शाकुन्तल में उनकी दार्शनिक तथा धार्मिक मान्यताओं की झलकियां प्राप्त होती हैं ।

कालिदास का परवर्ती युग

अश्वघोष - अश्वघोष वस्तुतः दार्शनिक था और अपने काव्यों में सर्वत्र दर्शन को अभिव्यक्त किया है । अश्वघोष ने मोक्ष मार्ग परार्थ्य को काव्य के धर्म द्वारा प्रकट किया है , इससे दार्शनिक और धार्मिक तत्वों का ग्रहण उसी प्रकार सहज सम्भव हुआ , जिस प्रकार तीखी दवा को ग्रहण करने के लिए मधु की आवश्यकता पड़ती है । काव्य धर्म मधु है , मोक्षोपदेश कड़वी दवा है , अतः कविता के माध्यम से मोक्षोपदेश

१- गीता - ४-१०, ३५, ५-७, ६-२८-३१, १४-१९ , ५-१९, १४-२, १५-७, ४-८ आदि ।

मधुमिश्रित तीखी दवा पिलाना है , मुक्ति की चर्चा करने वाली कविता शान्ति के लिए है , वहां विलास का स्थान नहीं ।[1]

भारवि – कालिदास के पश्चात् संस्कृत साहित्य में वृहत्त्रयी उल्लेखनीय है । वृहत् त्रयी में भारवि की अमर कृति "किरातार्जुनीयम्" सर्वप्रथम है । काव्य संसार में नवीन एवं अनुपम शैली के आविर्भावक होने के हेतु भारवि की ख्याति पर्याप्त रूप से विस्तृत है । भारवि अर्थ गौरव के लिए प्रसिद्ध है ।[2] भारवि ने नीतिकुशलता का ही अधिक परिचय प्रदान किया है ।

माघ – द्वितीय मान्य काव्य अपनी विशिष्ट काव्य शैली के लिए प्रख्यात " शिशुपाल वध" महाकवि माघ की अमर कृति है । "मेघे – माघे गतं वयः" किसी प्राचीन आलोचक शिरोमणि की यह उक्ति काव्य की लोकप्रियता का उत्कृष्ट निदर्शन है । महाकवि माघ का पाण्डित्य सर्वगामी है । समस्त शास्त्रों के विषय में है । वेद तथा दर्शनों से लेकर राजनीति तक विशिष्ट परिचय इनके काव्यों में प्राप्त होता है । माघ का श्रुतिविषयक ज्ञान प्रशंसनीय है । सांख्य के तत्त्वों का निदर्शन अनेक स्थलों पर पाया जाता है । प्रथम सर्ग में नारद ने श्री कृष्णचन्द्र की जो स्तुति की है वह पूर्णतया सांख्यानुकूल है , सुस्पष्टतः वहां सांख्यसम्मत पुरुष तथा प्रकृति द्वितत्त्वों का उल्लेख है ।[3] योगशास्त्र की प्रवीणता

१– इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भाकृतिः ,
श्रोतृणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात् कृता ।
यन्मोक्षात्कृतमन्यत हि मया तत्काव्यधर्मात्कृतम्,
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुक्तं हृद्यं कथं स्यादिति । सौन्दरानंद

२– "भारवेरर्थगौरवम्"

३– बहिर्विकार प्रकृतेः पृथग्विदुः पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः । शिशु० १–३३

भी दृष्टिगत होती है ।[1] "मैत्र्यादिचित्तकर्मविदो विधाय[2] आदि पद में चित्त परिकर्म, सबीज योग, सत्त्वपुरुषान्यताख्याति - योगशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं । आस्तिक वैदिक दर्शनों के अतिरिक्त नास्तिक दर्शनों में भी माघ का ज्ञान उच्चकोटि का था तथा वे बौद्ध दर्शनों से भी भलीभांति परिचित थे ।[3]

<u>श्रीहर्ष</u> - बृहत्त्रयी में "किरातार्जुनीयम्" तथा "शिशुपाल वध" के अनन्तर नैषधीय चरित है, यह संस्कृत काव्य साहित्य का जाज्वल्यमान हीरक है जिसके सम्मुख अन्य काव्य रत्नों की आभा मलिन हो जाती है । श्रीहर्ष इस महाकाव्य के प्रणेता है जो अद्वैतवादी थे । उनके विचारानुसार समस्त मतों में अद्वैततत्त्व ही अधिक उचित है, अन्य मतों की बात भी सत्य हो सकती है, किंतु वेदान्त प्रतिपादित अद्वैततत्त्व ही सत्यता है -- यह अभिव्यक्ति उनके महाकाव्य के त्रयोदश सर्ग के षट्विंशति श्लोकाध्ययन से ज्ञात होती है । श्रीहर्ष अन्य समस्त दार्शनिक विकल्पों को भ्रम अथवा अज्ञान का क्षेत्र मानते हैं । पारमार्थिक ज्ञान को वे चतुष्कोटिविनिर्मुक्त मानते है । सामान्य लौकिक व्यक्तियों को वे भ्रान्त दिशा का आश्रय लेता समझते है जो चतुष्कोटिविनिर्मुक्त अद्वैत

१- तस्य सांख्यपुरुषेण तुल्यतां बिभ्रतः स्वयमकुर्वतः क्रिया : शिशु० १४-१९

२- मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदो विधाय, क्लेशप्रहाणमिव लब्धसबीजयोगाः ख्यातिं च
सत्त्वपुरुषाऽन्यतयाधिगम्य वांछन्ति तामपि समाधिभृतो निरोद्धुम् । ४-४५

३- सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वांगस्कन्धपंचकम् ।
सौगतानामिवात्मान्यो नास्ति मंत्रो महीभृताम् । शिशु० २-२८

४- साप्तुं प्रयच्छति न पक्षचतुष्टये तां,
तल्लाभशंसिनि न पंचमकोटिमात्रे ।
श्रद्धां दधे निषधराड्विमतौ मतानां
मद्वैततत्त्वं इव सत्यतरेऽपि लोकः ॥ नैषध० १३-३६

ब्रह्म तत्व के होते हुए भी अन्य तत्वों के प्रति उन्मुख होते हैं । दमयन्ती के सम्मुख पंच नल है तथा वह किसी निश्चय पर नहीं पहुंच सकती । आरम्भ के चार नल चतुष्कोटिगत प्रातिभासित तत्वों के समान है जो पंचम कोटि में स्थित (चतुष्कोटिविनिर्मुक्त) नल (ब्रह्म) तक दमयन्ती को उसी प्रकार नहीं पहुंचने देते यथा संसार में सत् , असत् , सदसत् या सद्सद्विलक्षण इन चार प्रकार के दार्शनिक मन्तव्यों को लेकर चलने वाला जनसामान्य या भ्रान्त दार्शनिक उस अद्वैततत्त्व तक नहीं पहुंच जाते । चार्वाक , बौद्ध , वैशेषिक , सांख्य योग , मीमांसा , अद्वैत वेदान्त का प्रकाण्ड पाण्डित्य नैषध से व्यक्त होता है तथा सप्तदश सर्ग दार्शनिक रूप को ही स्पष्ट कर रहा है ।[1]

<u>भवभूति</u> - "उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते " पदवी विभूषित भवभूति संस्कृत साहित्य के सुप्रसिद्ध नाटककार हैं । संस्कृत के नाटककारों में यदि कोई कविवर कालिदास की समता प्राप्त कर सकता है तो वह भवभूति है । मालतीमाधव की प्रस्तावना में स्पष्ट लिखा है कि वेद , उपनिषद् , सांख्य-योग के सिद्धान्त प्रकरण में प्राप्त होता है । उत्तररामचरित से भी इनकी प्रचण्ड दार्शनिकता का ज्ञान होता है । उनके नाटकों में उनके वैदिक ज्ञान की गरिमा सूचित होती है । उत्तर रामचरित के चतुर्थ अंक में "न मां सो मधुपर्को भवति"[2] की सूचना मिलती है । महावीर चरित में सूर्यवंश के कुलपुरोहित वसिष्ठ का वर्णन करते समय ऐतरेय ब्राह्मण के अंतिम अध्याय में

१- १७-३७ से ४८ , ९-७१ , ३-३२ , ४-१८, १६-२४ , ४-२२ से ३५, २-७८, १३-३६ आदि ।

२- उत्तर रामचरित चतुर्थोऽङ्क पृ० ९६

उल्लिखित पुरोहित प्रशंसा के "राष्ट्रगोपः पुरोहित" के कई पद्यों को उसी प्रकार नाटक में रखा है । उपनिषद् तत्व के वे परम वेत्ता थे "क्रियाकल्पेन मरुताम्"[१] श्लोक द्वारा भवभूति ने अपने औपनिषदिक अद्वैतवाद का संक्षेप में सुन्दर तात्त्विक वर्णन किया है । उत्तररामचरित में जनक के मुख से "असूर्या नाम ते लोकाः" आदि प्रसिद्ध ईशावास्य श्रुति की व्याख्या कराई है । मालती माधव में योगशास्त्र का प्रकृष्ट ज्ञान प्राप्त होता है । समधिकवज्ञनाडी चक्रमध्यस्थिता में भवभूति ने योग एवं तन्त्र के ज्ञान का अनुपम मेल दिखाया है । सर्वत्र दर्शनभाषा के पारिभाषिक शब्द अनायास प्राप्त है , जिससे नाटककार का दर्शन ज्ञान चिन्तन स्पष्ट है ।

इस प्रकार का ज्ञात होता है कि संस्कृत काव्यों में दर्शन परम्परा सर्वदा प्राप्त होती है । कालिदास ने भी सौन्दर्य का आकण्ठ एवं आप्राण आस्वादन किया है किंतु मूल्यों की तुला पर उसे कभी आत्यन्तिक महत्त्व प्रदान नहीं किया । सौन्दर्य सागर के सम्पूर्ण आवर्त-विवर्तों में पाठक अथवा भावक को निमज्जित कराकर कालिदास उसे शिवं के पुनीत आदर्शों की ओर मोड़ देते हैं और अन्ततः लौकिक प्रेयस् के ऊपर पारलौकिक श्रेयस् का अमर सन्देश सुना जाते हैं । हमारा परम-लक्ष्य पुनर्भव से मुक्ति और परमानन्द की उपलब्धि है । कालिदास ने भारतीय दर्शन का जो भव्य एवं सहज रूप अपने काव्यों में निर्देशित किया है , वह नितान्त सजीव है उन्हीं तत्वों को प्रस्तुत करने का मेरा प्रयास है ।

१- उत्तर० ६-६

+++++++++++++
तृतीय अध्याय
+++++++++++++

कालिदास के काव्यों में दर्शन तत्व

प्रथम सोपान

वेदान्त दर्शन एवं कालिदास-- विषय प्रवेश ,अध्यास, ब्रह्म(ईश्वर),जगत् की सृष्टि एवं मुक्ति का स्वरूप , मेघदूत में वेदान्ततत्व ,विक्रमोर्वशीयम् में वेदान्त तत्व ।

वेदान्त दर्शन एवं कालिदास

वेद भारत का आदि साहित्य है । वेदोपरान्त जिन दार्शनिक विचारों का विकास हुआ उसके बीज सूक्ष्मरूप में वेदों में ही निहित है । वेद में दो विचार धाराएं प्राप्त होती हैं -- कर्मविषयक विचार तथा ज्ञानविषयक विचार । वेदान्त में ज्ञानकाण्ड का विशद एवं पूर्ण विवेचन प्राप्त होता है तथा इस प्रकार वेदान्त नामक विशाल तथा विस्तृत दर्शन की सृष्टि हुई । दार्शनिक तत्वों का एकत्रीकरण उपनिषदों में प्राप्त होता है । वेद एवं उपनिषदों के पश्चात् सूत्र साहित्य की उत्पत्ति हुई । दार्शनिक विचारों का सुव्यवस्थित तथा क्रमबद्ध रूप सर्वप्रथम सूत्र-साहित्य में ही प्राप्त होता है । सूत्र शब्द का शब्दशः अर्थ सूत है । किन्तु यहां उपर्युक्त, प्रसंग में सूत्र का अर्थ संक्षिप्त , स्मृति सहायक उक्ति है ।[1] सूत्र ग्रन्थ विषय भेदानुसार अध्ययन , पाद , अधिकरण आदि में विभक्त रहता है । महर्षि बादरायण के ब्रह्मसूत्र में वेदों विशेषतः उपनिषदों के दार्शनिक विचारों का संग्रह है तथा उन्हें एक सुव्यवस्थित रूप

१- लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षर पदानि च ।
सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः ॥ भामती १-१-१

दिया गया है । वेद तथा उपनिषद् के दार्शनिक विचारों के विरुद्ध जो आक्षेप प्रस्तुत किये गये है उनका समाधान भी ब्रह्मसूत्र में किया गया है । ब्रह्मसूत्र ही वेदान्त का सर्वप्रथम क्रमबद्ध ग्रन्थ है । सूत्र अत्यन्त संक्षिप्त , सारगर्भित एवं व्यापक होते हैं ।[1] अनेक विषयों को सूचित करने के कारण इन्हें सूत्र कहा गया है किन्तु उनका अर्थ सहज बोधगम्य नहीं होता था । अतः उनकी व्याख्या के लिए टीकाएं हुई । सूत्र ग्रन्थ की टीका को भाष्य कहते हैं ।[2] यहां यह भी उल्लेखनीय है कि कभी-कभी अनेक भाष्यकारों द्वारा व्याख्यायित किये जाने के कारण एक ही सूत्र ग्रन्थ के भी अनेक भाष्य हुए । भाष्यकारों ने अपने-अपने भाष्यों में स्वमतों की पुष्टि की है । उदाहरणार्थ शंकर , रामानुज , श्रीकण्ठ , मध्व , वल्लभ , निम्बार्क , बलदेव आदि भाष्यकारों ने ब्रह्म सूत्र के भिन्न-भिन्न भाष्य लिखे । भाष्य - भेदानुसार वेदान्त के अनुयायियों की अलग-अलग गोष्ठियां बनीं तथा वेदान्त की अनेक शाखाएं आज भी विद्यमान हैं । भाष्ययुग के भाष्यों कीभी व्याख्याएं लिखी गई ।

निखिलकविकुलचूड़ामणि कालिदास का प्रादुर्भाव उसी काल में हुआ था, जिस काल में भाष्यों की रचना नहीं हुई थी । उनके सम्मुख मूल सूत्र ही प्राप्त थे यही कारण है कि कवि द्वारा किसी सम्प्रदाय विशेष यथा केवलाद्वैत , विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत , शुद्धाद्वैत प्रभृति वेदान्त सम्प्रदायों में से किसी सम्प्रदाय विशेष के

१- अल्पाक्षरम् असंदिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभम् अनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥ भामती

२- सूत्रार्थो वर्ण्यते येन पदैः सूत्रानुसारिभि : ।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ॥ भामती

प्रति निसर्गतः आकर्षण प्राप्त नहीं होता । इस विचारधारा के पोषकतत्त्व महामना अरविन्द के ग्रन्थ में भी प्राप्त हुए हैं ।[1] वस्तुतः कवि संभवतः स्वयं शिवोपासक थे तथा तत्वज्ञान के सन्दर्भ में उपनिषद् ब्रह्मसूत्र एवं भगवद्गीता के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है ।

शंकराचार्य के मायावाद के बीज उपनिषदों में विद्यमान है तथापि मायावाद का पूर्ण विवेचन अन्य दार्शनिकों ने नहीं किया । इसी कारण कालिदास के के ग्रन्थों में माया का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है तो किंचित् आश्चर्य नहीं होता । संभवतः एक प्रसंग[2] के अतिरिक्त अन्य कहीं माया का सिद्धान्त या जीव और ब्रह्म

१- " .... The centuries before the rise of Buddhism and the advent of Shankar became, thought not agnostic and sceptical for they rejected violently the doctrine of charvak, yet profoundly scientific and outwards going over in their spiritualism. It was therefore the great age of formulised metaphysics, science, law, art and the sensusous luxury which accompanies the arts.

Nearer the beginning than the end of this period, when India was systematising her philosopies and developing her arts andsciences before its full tendencies have asserted themselves in same spheres, before it has taken the steps its attitude protended, Kalidas a arose in Ujjain and gathered up in himself its present tendencies while he fore-showed many of its future development" A.K. PP 13-14

2- स ब्रह्मभूयं गतिमाजगाम रघु० १८-२८ ।

"Like shakespeare also he seems not to have cared deeply for religion. In creed he was a vedantist and in ceremony perhaps a Siva-Worshipper" AK. P. 14

के एकीकरण की मान्यता प्राप्त नहीं होती कालिदास के पूर्वकालीन ब्रह्मसूत्र तथा भगवद्‌गीता में भी मायावाद के पोषक विचार प्राप्त नहीं होते ।

शंकराचार्य के मायावाद के विपरीत कविकुलगुरु प्रचलित वेदान्त और सर्वव्यापक ब्रह्म का उल्लेख करते हैं ।[1] उनके नान्दीपाठ उपनिषदों एवं भगवद्‌गीता के भावों से अनुप्राणित है । कवि " वेदान्तेषु" द्वारा स्पष्टतः उपनिषदों को इंगित करते हैं । ईश्वर अर्थात्‌ जगत्‌ के स्थूल तथा सूक्ष्म कारण से जगत्‌ की उत्पत्ति और प्रलय में सारी सृष्टि का उसमें लयीकरण के सम्बन्ध मे उद्धरण का स्मारक हैं ।[2] किन्तु उपनिषदों के जगत्‌ के कारण स्वरूप ब्रह्म की भावना की एकरूपता नहीं रखते ।[3] इन्हीं विचारों के प्रति ब्रह्मसूत्रों में भी संकेत किया है ।[4] रघुवंश में विष्णु की लम्बी प्रार्थना है ।[5] उसमें विष्णु की प्रशंसा विश्व के स्रष्टा , उनकी

१- "वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणं"
वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी ।
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः ॥ विक्रम० १-१

२- नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते ।
अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधा स्थितात्मने ॥ रघु० १०-१६

आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना ।
आत्मा कृतिना च त्वमात्मन्येव प्रलीयसे ॥ कुमार० २-१०

तथा रघु० १०-२०, कुमार २-५, ६, ७, ८, ९

३- यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते , येन जातानि जीवन्ति , यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति।
तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति । तै० उ० ३-१

४- जन्माद्यस्य यतः १-१-२
योनिश्च हि गीयते १-४-२७

५- रघु० १०-१६ से ३१

स्थिति तथा संहारकर्त्ता के रूप में की गई है ।[1] वेदान्त दर्शन के अनुसार निराकार और गुणातीत निर्गुण ब्रह्म की एकमात्र सत्ता है । सृष्टि रचना के लिए त्रैगुण्य की अपनी कल्पना के पूर्व कवि केवलात्म[2] के रूप में परमात्मा के भावक को ध्यान में रखता है । उपनिषद् सृष्टि के पूर्व इस एकात्मा तत्त्व की विद्यमानता के विचार को दुहराती है ।[3] ब्रह्म जब इन्द्रियग्राह्य जगत् की सृष्टि करना चाहता है । वह रजोगुण में प्रगट होता है और पुरुष ब्रह्मा प्रथम अवस्था में पुरुष तथा स्त्री[4] के अलग-अलग रूप में अपने को बांटने वाला स्रष्टा बन जाता है तथा विकास की प्रक्रिया में अन्यत्र सत्वगुण से समन्वित तथा विष्णु (पालक) बना जाता है । अंततः वह तृतीय गुण तमस् को धारण कर शिवस्वरूप प्रत्यक्ष होता है , जो संहारकर्त्ता का रूप है । यह एक ही ब्रह्म है , जो त्रिदेव[5] का रूप प्रदर्शित करता है ।

१- नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते ।
अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधा स्थितात्मने । रघु० १०-१६

२- नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने ।
गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे ॥ कुमार० २-४

३- सदेव सोम्येदमग्र आसीत् । एकमेवाद्वितीयम् । छा० ६-२-१
आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् -- ऐत० २-१-१-१
तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम् -- बृह० २-५-१९

४- स्त्रीपुंसावात्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया ।
प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां गतः ॥ कुमार० २-७

५- एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम् विष्
विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद्वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ ॥ कुमार० ७-४४

जगद्योनि[1] वाक्यांश में पुनः सृष्टि रचना का वेदान्तीय सिद्धान्त के प्रति संकेत मिलता है , क्योंकि वहां ईश्वर के जगत् के उपादान और निमित्त कारण व्याख्यायित होने से उससे भिन्न किसी अन्य की सत्ता जगत् में नहीं हो सकती ।[2] शिव को अष्टमूर्ति की उपाधि प्रदान करने तथा पृथ्वी, अप, तेज , वायु, आकाश , सूर्य, चन्द्र तथा ब्राह्मण नामक प्रकृति के आठ तत्वों के साथ उसके एकीकरण में अनेकेश्वरवाद प्रदर्शित होता है ।[3] विष्णु की उपमा सर्वोच्च आदर्श से की गई तथा फलतः हिमालय के साथ जो समस्त पर्वतों में उच्चतम है । यह धारणा भागवद्गीता के दशमाध्याय के विचार से सामंजस्य प्रस्तुत करती है जहाँ भगवान् कृष्ण स्वयं जो विश्व को सर्वोत्तम अंश बतलाते हैं ।[4] उसी पद्धति का अनुसरण करते हुए ब्राह्मा को[5] पिताओं का पिता , देवों का देव, सभी से दूर से भी दूर तथा सृष्टाओं का सृष्टा कहा है , उसी प्रकार वह हवि एवं होता, भोज्य-भोक्ता , ज्ञान और ज्ञाना तथा ध्याना

१- जगद्योनिरयोनिस्त्वं जगदन्तो निरन्तकः ।
   जगदादिरनादिस्त्वं जगदीशो निरीश्वरः ॥ --कुमार० २ ९
   विश्वयोनिस्तिरोधने -- कुमार० २-६२
   योनिश्च हि गीयते -- ब्र० सू० १-४-२७

२- कुमार० २-१०

३- तत्राग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वयमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्तिः । --कुमार० १-५७
   एतदतिरिक्त --कुमार० ६-२६, रघु० २-३५, अभि० १-१, मालविका० १-१
   भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
   अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ -- गी० ७-४

४- स्थाने त्वां स्थावरात्मानं विष्णुमाहुस्तथा हि ते ।
   चराचराणां भूतानां कुक्षिराधारतां गतः । -- कुमार० ६-६७
   यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः । -- गी० १०-२५

५- त्वं पितृणामपि पिता देवानामपि देवता ।
   परतोऽपि परश्चासि विधाता वेधसामपि ॥ -- कुमार० २-१४

ध्येय है ।[1] यह विचार स्पष्टतः गीता के विचारों से समानता रखते हैं ।[2] अनादि आकाश में वह व्यापक है तथा मन से परे है ।[3] ऋग्वेद पुरुष सूक्त के भावों का अनुकरण करके सम्पूर्ण द्युलोक, पृथ्वी और दशम दिशाओं को व्याप्त करने के पश्चात् भी ब्रह्मा का विस्तार अधिक रहा है ।[4] विष्णु के अणिमा प्रभृति अष्ट गुण है जिसके द्वारा वह अपने आकार का विस्तार कर सकता है ।[5] वह हृदय में निवास करता हुआ भी दूर, निष्काम होने पर भी तपस्वी, दयालु होकर भी शोकरहित तथा पुरातन होते हुए भी क्षीणतारहित माना जाता है ।[6] वह विचार उपनिषदों से समानता रखता है ।[7] सर्वज्ञ होकर भी वह स्वयं अज्ञात है, सबकी उत्पत्ति हेतु होने पर भी वह आत्मनिविष्ट है, सबका स्वामी होता हुआ भी स्वयं स्वामीरहित है, वह एक है, किन्तु वह समस्त रूपों को धारण करता है ।[8] व्यक्तियों पर दयाभाव करके वह अवतार लेने को पृथ्वी पर आता है तथा नर की भाँति आचरण करता है ।[9]

१- त्वमेव हव्यं होता च भोज्यं भोक्ता च शाश्वतः ।
वेद्यं च वेदिता चासि ध्याता ध्येयं च यत्परम् ॥ --कुमार० २-१५
२- ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ -- गी० ४-२४
३- यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । -- तै० ३-२-४-९
४- स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम् । -- ऋ० पु० सू० १०-९०-१
५- तां तामवस्थां प्रतिपाद्यमानं स्थितं दश व्याप्य दिशो महिम्ना ।
विष्णोरिवास्यानवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्ता वा । -- रघु० १३-५
६- हृदयस्थमनासन्नमकामं त्वां तपस्विनम् ।
दयालुमनघस्पृष्टं पुराणमजरं विदुः ॥ -- रघु० १०-१९
७- तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके -- ईशो० ४-५
८- सर्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः ।
सर्वप्रभुरनीशस्त्वमेकस्त्वं सर्वरूपभाक् ॥ -- रघु० १०-२०
९- अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः ।
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव ॥ -- रघु० १०-२४

इस विचार का उद्‌गम स्थल गीता ही ज्ञात होता है , जिसमें अवतार सम्बन्धी इसी प्रकार के उद्‌गार प्रकट किए गये हैं[1], वह लोकपालन में समर्थ है तथापि उदासीनता धारण किया रहता है , वह विचार भी गीता से ही प्रभावित प्रतीत होता है ।[2] कवि की उस उक्ति में जहाँ वह विष्णु को समस्त मार्गों का अन्तिम मार्ग बताता है , जिस पर पूर्ण आत्म-समर्पण तथा अपने समस्त कर्मों का त्याग भक्ति के लिए आवश्यक व्याख्यायित किया है , इसमें भी उस ग्रन्थ का अनुकरण दीख पड़ता[3] कवि का कथन है कि परमानन्द के मार्ग यद्यपि अनेक है[4] तथा धर्मग्रन्थों में विविध प्रकार से वर्णित हैं तथापि वे केवल उसीमें आकर मिलते हैं , जिन पुरुषों की सांसारिक भोग कामना पूर्णरूपेण क्षीणता को प्राप्त कर चुकी है तथा जिन्होंने अपने हृदय को उसमें लीन कर दिया है । अपने समस्त कर्मों को उस पर अर्पित कर दिया है , उनकी परमगति प्राप्ति के लिए वही एक शरण है । वह वाक्यांश जिसमें अन्तर्यामी ब्रह्म का भाव व्यक्त हुआ है वह पूर्णतया कठोपनिषद् से सामञ्जस्य रखता है ।[5] ईश्वर की प्राप्ति भक्तियोग से होती है इस अर्थ की अभिव्यंजना कवि की रचना में अन्यत्र प्राप्त है । इसी विचार के समानान्तर विचार गीता में भी प्रति-विम्बित होते हैं ।[6] अक्षर ब्रह्म का विवेचन जो कालिदास की रचनाओं में प्राप्त है ,

----

१- अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ --गी० ४-६

२- पर्याप्तोऽसि प्रजाः पातुमौदासीन्येन वर्तितुम् ॥ --रघु० १०-२५

३- त्वय्यावेशितचित्तानां त्वत्समर्पितकर्मणाम् ।
गतिस्त्वं वीतरागाणामभूयः संनिवृत्तये ॥ -- रघु० १०-२७
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥--गी० ९-२७

४- बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धहेतवः ।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥ -- रघु० १०-२६

५- अन्तर्गतं प्राणभृताम् , सर्वगतान्तरात्मा । -- कठो०
अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् । -- ब्र० सू० १-२-१८ ।

६- वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी,

वह भी गीता से ही साम्यता रखती है ।[1] गीता के तृतीय अध्याय में प्राप्त अवतारवाद की पंक्तियां विष्णु के अवतार से साम्य रखती हैं ।[2] "त्वय्यावेशितचित्तानां त्वत्समर्पितकर्मणाम्" इन भक्तिपूर्ण अर्पण करने की अभिव्यंजना गीता में भी प्राप्त हो रही है ।[3] अन्यत्र भी कुछ अर्थ अथवा शब्द साम्य प्राप्त है ।[4]

अध्यास

अध्यास शब्द "अधि" उपसर्गपूर्व "अस् भुवि" अथवा "आस्" धातु से घञ् प्रत्यय करने से बना है ।[5] व्युत्पत्ति के आधार पर इसका अर्थ "होना" है किन्तु दर्शन

यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः ।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते ,
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः ॥ -- विक्रम० १-१
अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ -- गी० ८-१४

१- अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते । -- गी० ८-३
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् । --कुमार० ३-५०

२- अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किंचन विद्यते ।
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः । --रघु० १०-३१
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ -- गी० ३-२२

३- रघु० १०-२७
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ।-- गी० ९-२४
मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ -- गी० ७-१

४- रघु० १०-२० तथा गी० ४-६
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ।।-- गी० ४-१०

५- अवसन्नोऽवमतो वा भासोऽवभासः । प्रत्ययान्तरबाधश्च अध्यावसादोऽवमानो वा एतावता मिथ्याज्ञानमित्युक्तं । ब्र० सू० शा० भा० पृ० ४

में यह शब्द पारिभाषिक है । अतः इसका विशिष्ट अर्थ है । जिसे विभिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न शब्दों में व्यक्त किया है ।[१] यथा शुक्ति में रजत का आरोप अध्यास का सर्वोत्तम उदाहरण है । शंकराचार्य ने अध्यास को पारिभाषित करते हुए लिखा कि "स्मृतिरूपवाली, अपने वास्तविक अधिष्ठान से भिन्न अधिष्ठान पर पूर्वदृष्ट वस्तु की प्रतीति अध्यास है ।[२] अध्यास का स्वरूप अवभास शब्द से स्पष्ट किया गया है । अध्यास परकाल में बाधित हो जाता है किन्तु सत् वस्तु त्रिकाल में बाधित नहीं होती । रज्जु की सर्परूप प्रतीति पश्चात् में बाधित होती है तथा सूर्यबिम्ब हट जाने पर शुक्ति का की चमक नहीं रह जाती , यह बाधमय प्रतीति ही अवभास है । विभिन्न दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न रूपों में अध्यास का निरूपण किया है किन्तु कालिदास द्वारा प्रतिपादित अध्यास वेदान्त सम्मत है । "अभिज्ञानशाकुन्तलम्" के षष्ठांक में शाप के कारण विस्मृत दुष्यन्त शकुन्तला का परित्याग कर पश्चात्वर्ती नाटकचक्र में अंगुलीयक रूप अभिज्ञान द्वारा उसका स्मरण कर पश्चाताप की अग्नि में जल रहा है । सम्प्रति विदूषक के साथ वार्ता में उसका कथन है "वयस्य शकुन्तला का वह मिलन स्वप्न था या माया ? वह भ्रम था या किसी पुण्य का फल था जिसका भोग समाप्त हो चुका था ।[३]

१- केचित्तु यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रम इति ।
तं केचिदन्यत्रान्यधर्माध्यास इति वदन्ति ।
अन्ये तु यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षते ।"
--ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् चतुःसूत्र्यन्तम्, पृ० १७-१८

२- "स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः"

३- स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु क्लिष्टं नु तावत्फलमेव पुण्यम् ।
असंनिवृत्त्यै तदतीतमेते मनोरथानामतटप्रपाताः ॥ -- अभि० ६-१०

शकुन्तला के साथ आनन्दपूर्वक व्यतीत काल अवर्णनीय होने के साथ-साथ क्षणिक था , जिसको स्वप्न, माया मतिभ्रम और अल्पपुण्य का फल कहा गया । स्वप्न , पूर्वानुभूत सुख भी कुछ ही काल तक रहा पुनः सर्वदा के लिए दुर्लभ हो गया । सर्व-प्रथम सत्कृत कर्मों का संचित फल पुण्य होता है अल्पपुण्य से अल्प फल प्राप्त होता है शाकुन्तल के प्रथमांक में शकुन्तला के सौन्दर्य वर्णन में भी दुष्यन्त ने "पुण्यफल" पद का प्रयोग किया है ।[1] बारम्बार "नु" का प्रयोग सूचित करता है कि नृप उस सुख का वर्णन करने में कठिनता का अनुभव कर रहे हैं --उसका अवर्णनीय होना इसका कारण है । अभी तक चर्चा चल रही थी कि वह सुख पुनः प्राप्त होगा अथवा नहीं , किन्तु नृप का विषाद उसके हृदय का विषाद के सागर में निमज्जित कर रहा है । मनोरथ व्यर्थ है वे कदापि सत्य सिद्ध नहीं होते । इनका निर्माण तथा भग्न होना ही प्रकृति का नियम है । अभी जो मनोरथ सत्य तथा सम्भव प्रतीत हो रहा था वही अधुना असम्भव हो गया । नवीन मनोरथ बनते हैं और गिरकर नष्ट हो जाते हैं । संस्कृत हस्तलिपियों में पदों को अलग-अलग कर लिखने की रीति न होने के कारण ही "मनोरथान्" और अतरप्रताप" का अर्थ गिरना हो जाएगा । इस प्रकार तट का अर्थ तीर तथा प्रताप का अर्थ कूल है । जिस प्रकार किनारे से किसी का गिरना उसे नदी में अविलीन कर देता है , उसी प्रकार मनोरथ विलीन हो रहे हैं यह अर्थ भी समन्वित हो जाता है । पद्य में विशेषतः तृतीय चरण में उत्कण्ठा का अतिशय है और चतुर्थ चरण दिल को डूबा देता है ।

१- अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं ।
— अभि० २-१०

अतः यदि व्यापक परिभाषानुसार अल्पकाल के लिए जो सत्य रहे या वह स्वप्न , माया या भ्रम प्रतीत हो तो अस्वप्न (जाग्रत दशा) की प्रमाण के अभाव में और अभ्रान्ति में देखी गई वस्तुएँ अस्थाई होने पर स्वप्नादि कही जाती है । वेदान्त विश्व को मिथ्या कहते हैं । उसका कारण है कि स्वप्न मन की कल्पना मात्र है , माया से मन संमोहित कर स्वप्नावस्था में पहुँचा दिया जाता है और भ्रम में असत् को सत् समझ लिया जाता है । किंतु असत् होने पर भी ये दशाएँ सत् बनकर अनिर्वचनीय आनन्द ही प्रदान करती हैं । उसी प्रकार नृपेश का शकुन्तला से प्रथम मिलन के कुछ क्षण अस्थाई होने पर भी अनिर्वचनीय है । उसी नाटक के सप्तमांक में भी इसी अनिर्वचनीय ख्याति के प्रति आकर्षण कवि व्यक्त करता है । दुष्यन्त का मारीचि के सम्मुख अपने विस्मृत को इस रूप में व्यक्त करता है --"सर्वप्रथम उसे मिथ्या ज्ञान या भ्रम हुआ , जिससे विपरीत प्रतीति हुई । उसने गज के अगज (यहाँ पत्नी को अपत्नी) माना तथा गमनोपरान्त संशय हुआ कि गज था अथवा नहीं (प्रकरण में पत्नी थी अथवा नहीं) संशय में तत्वज्ञान तथा मिथ्याज्ञान समानरूप से मिले रहते हैं । कभी ऐसा प्रतीत होता है मानो तथ्य बिल्कुल सत् है फिर तुरन्त पश्चात् प्रतीत होता है कि मानो यह पूर्णतया असत् है । अन्ततः पदचिह्न (यहाँ अंगुलीयक) के आधार पर अनुमान प्रमाण से तत्वज्ञान की प्राप्ति होती है कि गज था (प्रकरण में प्रिया थी) ।[1]

वेदान्त सम्मत अनिर्वचनीय ख्याति को कालिदास ने स्वीकार किया है । विभिन्न दार्शनिकों ने "अध्यास" को भिन्न-भिन्न रूप पारिभाषित किया है ।[2] वेदान्तियों

१- यथा गजो नेति समक्षे तस्मिन्नपक्रामति संशयः स्यात् ।
पदानि दृष्ट्वा तु भवेत्प्रतीतिस्तथाविधो मे मनसो विकारः ॥-- अभि० ७-३१

२- आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा ।
तथाऽनिर्वचनीयख्यातिरित्येतत् ख्याति पञ्चकम् ॥
योगाचारो माध्यमिकास्तथा मीमांसकोऽपि च ।
नैयायिकोऽद्वैतिनश्च ख्यातीरेता क्रमाज्जगुः ॥ -- सु० शा० भा० , पृ० ६

का कथन है कि शुक्तिकादि में जो रजत की प्रतीति होती है , उसे सत् की कोटि में नहीं रखा जा सकता क्योंकि उसका बाध हो जाता है कि और मिथ्या भी नहीं कहा जा सकता , क्योंकि उसकी प्रतीति होती है । अतः रजत सत्त्वेन अथवा असत्त्वेन निर्वक्तुम् अशक्य है अतः वह अनिर्वचनीय है । वेदान्तानुसार न मात्र भ्रम स्थल में रजत् अनिर्वचनीय है , प्रत्युत विश्व के समस्त पदार्थ इसी कोटि में आते हैं । शुक्ति में जब रजत की प्रतीति होती है तब वहाँ एक अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति होती है , जिसे आध्यासित रजत कहते हैं । उस अनिर्वचनीय अथवा आध्यासित रजत की उत्पत्ति स्वीकार करने के लिए स्वप्नदशा वर्णन करने वाले उपनिषद् वाक्य को वेदान्ती प्रस्तुत करते हैं[1] जिसका अनुमोदन कवि शिरोमणि द्वारा कृत है ।

ईश्वर (ब्रह्म)

भारतीय दर्शन का प्रधानतम प्रतिपाद्य विषय ईश्वर है । वैदिक काल से ही ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गई है । ईश्वर समस्त चराचर जगत् में व्याप्त है तथा उसकी सत्ता जगत् में ही सीमित नहीं प्रत्युत उसके परे है । वह विश्वातीत तथा विश्वव्यापी दोनों है । ईश्वर का यह उभयात्मक रूप उपनिषदों तथा अनुवर्ती वेदान्त साहित्य में प्राप्त होता है । इतना अवश्य स्वीकृत है कि समस्त उपनिषदों की ईश्वरविषयक कल्पना भिन्न-भिन्न है । वेदान्त दर्शन का सामान्यतः ईश्वर सर्वेश्वर है अर्थात् सभी वस्तुओं में विद्यमान । किन्तु इसे यदि तर्क की कसौटी पर रखा जाए तो प्रश्न होता है कि यदि

१-न तत्र रथाः न रथयोगाः अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते ।
-- ब्र०सू० शा० भा० , पृ० ७

ईश्वर ही समस्त विश्व में व्याप्त है तो क्या ईश्वर मात्र विश्व व्याप्य है अथवा व्यापक अतः सर्वेश्वरवाद अथवा केवलोपादानेश्वर शब्द का प्रयोग उपर्युक्त मत के लिए समीचीन है। किन्तु वेदान्त का ईश्वर विश्वरूप नहीं प्रत्युत विश्वातीत भी है अतः वेदान्त के ईश्वरवाद को निमित्तोपादानेश्वर कहना अधिक उचित प्रतीत होता है। कविकुलगुरु कालिदास का अभिमत ईश्वर पूर्णतया वेदान्त सम्मत है, जिसका विशद विवेचन उन्होंने अपनी समस्त रचनाओं में किया है। यहाँ ध्यातव्य है कि उपनिषदों तथा पश्चात्कालीन वेदान्तसाहित्य में ब्रह्म पद का प्रयोग परमतत्त्व अथवा मूलसत्ता के अर्थ में भी प्राप्त है तथा सृष्टिकर्ता के अर्थ में भी व्यवहार्य है, जिन्हें उपास्य समझा गया। इस द्वितीय अर्थ के लिए प्रायः ईश्वर पद प्रयुक्त होता है, किन्तु ईश्वर एवं ब्रह्म विभिन्न सत्ताएँ नहीं प्रत्युत एक ही हैं।

निखिलकविकुलचक्रचूडामणि कालिदास ने सर्वत्र एक ब्रह्म की स्थापना की है। कवि ने लोकविश्वास के अनुसार बहुदेवताओं की सत्ता स्वीकार की है तथा जनसाधारण के दृष्टिकोण से बहुदेववादी भी कहे जा सकते हैं किन्तु इसी बहुदेववादिता के आधार पर ही एकेश्वरवाद का सुदृढ स्तम्भ कवि द्वारा निर्मित है, क्योंकि जहाँ कालिदास किसी मुख्य देवता यथा ब्रह्मा, विष्णु अथवा शंकर की स्तुति करते हैं, उस काल में शेष देवताओं का विस्मरण कर उसी को समस्त विश्व का स्रष्टा, पालक और संहारक बना देते हैं। अतः देवताविशेष की सर्वशक्तिमत्ता तथा समस्त देवताओं में मौलिक एकता की विद्यमानता में विश्वास रखने पर ही एकेश्वरवाद का सृजन हुआ है। ब्रह्मा की स्तुति के प्रसंग में कवि एक ही ब्रह्मा को सृजन, पालक तथा संहारक रूप में स्वीकार कर लेता है। उनकी स्तुति में कवि उन्हें परमतात्त्विक शक्तियों से युक्त करता है वहीं

प्रकृति की अवस्थात्रय सर्ग, स्थित तथा प्रलय का कारण है । सृष्टि के पूर्व केवलात्मा रूप में है तथा गुणत्रय उसमें विद्यमान हैं । वह अज तथा कारणरहित, अनन्त तथा विश्व का अन्त है । स्वयं अनादि वह जगत् का आदि है , प्रभुरहित सभी का प्रभु है । वह स्वयं को जानता है तथा अपनी रचना स्व ॰ करता है , उसे स्वयं से प्रेरणा मिलती है तथा अन्ततः स्वयं में विलीन हो जाता है । वह इच्छानुसार तरल-ठोस, स्थूल-सूक्ष्म गुरु-लघु तथा प्रकट अन्तर्हित होता है । वह उस वाणी का कारण है जिसका आदि प्राण है , यज्ञ उसका कर्म है तथा स्वर्ग जिसका परिणाम है । रागातीत तथा परमश्रेष्ठ है तथा पिताओं का पिता, देवाधिदेव, सर्वातीत और स्रष्टाओं का स्रष्टा है । कालिदास ब्रह्म तथा विष्णु का एकत्व भी सिद्ध करते हैं ।[1]

इसी प्रकार रघुवंश के दशम सर्ग में विष्णु को सर्वोच्च स्थल प्रदान किया गया है तथा उसे चतुर्मुख ब्रह्मा से एकीकरण किया गया है ।[2] वे मन-वाणी से परे तथा आदि में जगत् का स्रष्टा, पुनः पालनकर्ता तथा अन्त में संहारक होने से त्रिष्णु रूपत्रय धारण करनेवाले हैं । जिस प्रकार वृष्टि का जल मूलतः एकरस होता हुआ भिन्न-भिन्न भूमियों में बहुविध स्वादयुक्त हो जाता है , उसी प्रकार परिवर्तनशील वह सत्व, राजस् तथा तमस् के त्रिविध गुणों से मिलकर भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ धारण कर लेता है । स्वयं अमाप्य समस्त विश्व को नाप लेता है स्वयं कामनाहीन समस्त कामनाओं की पूर्ति करता है । स्वयं अजेय सभी पर विजय प्राप्त करता है तथा स्वयं अगोचर समस्त दृश्य जगत् की कारण है । ऋषि घोषणा करते हैं कि वह हृदय में निवास करता हुआ

१- कुमार० २-४ से १४
२- रघु० १०-१६, १७,१८,१९,२०

भी निकट नहीं है । निष्काम होते हुए भी तपःशील, दयालु तथा दुःख से अपरामृष्ट है । पुराण होकर भी नाशरहित है । यद्यपि वह सर्वज्ञ है तथापि अज्ञात है , सभी का आदि स्रोत है किन्तु स्वयंभू है । सभी का स्वामी है तथा स्वयं स्वामीहीन है , अक्षर है , किन्तु सभी आकारों को धारण करता है । योगीजन अभ्यास के द्वारा मन को वाह्यवस्तुओं से निरुद्ध कर मुक्ति के लिए उसका अन्वेषण करते हैं । वह आलोकमय उसके हृदय में निवास करता है । अजन्मा वह जन्म ग्रहण करता है तथा निष्कर्म , शत्रुओं का संहार करता है एवं निद्रागत वह प्रहरी का कार्य करता है । शब्दादि इन्द्रियों के विषयों का भोक्ता होने के योग्य होता हुआ भी कठोर तपस्वी के समान आचरण करता है , निष्पक्ष , निरपेक्ष तथा निष्काम है ।[1]

शिव के गुणों का भी उल्लेख कवि ने इन्हीं रूपों में नान्दी श्लोकों , मेघदूत में अनेक स्थल पर किया है ।[2]

ईश्वर का सर्वज्ञ रूप में व्याख्यान

कविताकामिनी के कमनीयकान्त कवि कालिदास ईश्वर को सर्वज्ञत्व एवं सर्वशक्तिमानत्व गुण से युक्त स्वीकार करते हैं ।[3] भारतीय दर्शनानुसार प्रत्येक कार्य का कारण अवश्य ही है तथा उस कारणविशेष से कार्य सदैव व्याप्य होगा । इस जगत् रूप कार्य के कारण रूप में ईश्वर की सत्ता है , किन्तु यह ब्रह्मा या ईश्वर कारणहीन है अर्थात् वह न किसी का कार्य है न उसे किसी कारण की आवश्यकता पड़ती है । वह स्वयं

१- रघु० - दशमः सर्गः
२- पू० मे० - ३७, ६०,४१ , मालविका० १-१, विक्रम० १-१, अभि० १-१
३- आत्मानमात्मना वेत्सि .... । --कुमार० २-१०

ही उपादान एवं निमित्त दोनों ही कारण है , अतः वह स्वयं से ही जगत् का निर्माण करता है , उसे स्वेतर किसी उपादान की आवश्यकता नहीं यही कारण है कि ब्रह्मविषयक पूर्ण ज्ञान विद्वानों द्वारा भी ज्ञात नहीं हो सकता । वह प्रलयकाल में स्वयं को लीन कर लेता है । इसी कारण कवि का कथन है कि "हे ईश्वर । स्वयं को स्वयं ही जानने वाले , स्वयमेव स्वयं को उत्पन्न करनेवाले तथा कार्यसमाप्ति में स्वयं को लीन करने वाले ईश्वर सर्वज्ञ है , क्योंकि तत्विषयक पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति असम्भव है ।

ईश्वर का स्वतःचैतन्य स्वरूप

कवि ईश्वर के स्वतः चैतन्य स्वरूप का भी उल्लेख करते हैं ।[1] ईश्वर वेधा , सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है । उसकी सर्वज्ञता किसी अन्य पर आश्रित नहीं । यदि उसे स्वतः चैतन्यस्वरूप न स्वीकार गया तो उसकी चेतनता को प्रकाशीभूत करने के लिए उससे भिन्न किसी अन्य चैतन्ययुक्त वस्तु की कल्पना करनी ही पड़ेगी । इस प्रकार ईश्वर उस चैतन्ययुक्त विशिष्ट वस्तु विशेष का कर्म सिद्ध हो जाता है तथा उसमें सर्वज्ञता सर्वशक्तिमान्त्व की कल्पना सुतरां असिद्ध होगी । अतः ईश्वर को स्वतः चैतन्य मानना ही उचित है , कवि भी इसी उक्ति को स्वीकार करते हैं ।

जगत् की एकरूपता तथा ईश्वर का अस्तित्व

कवि ने सृष्टि के पूर्व भी ईश्वर की सत्ता स्वीकार करते हुए लिखा है , "प्राक्सृष्टेः केवलात्मने" ।[2] वही जगत् का आधारभूत तत्व है । प्रसिद्ध विद्वान् टीकाकार

१- सर्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः ।
सर्वप्रभुरनीशस्त्वमेकस्त्वं सर्वरूपभाक् ॥ -- रघु० १०-२०

२- रघु० १०-१७

मल्लिनाथ ने केवलात्मने पद को "एकरूप" द्वारा व्याख्यायित करते हैं जिसे उपनिषदों से भी अनुमोदन प्राप्त है । अतः समस्त विश्व उसी ब्रह्माण रूप कारण पर आधारित है तथा जगत् की विविधता जो दृष्टिगत हो रही है वह उसी प्रकार है यथा "आकाश से गिरता वर्षा का जल मूलतः एक होता हुआ भी भिन्न-भिन्न देशों में वर्षण होकर विभिन्न स्वाद से युक्त हो जाता है ।[1] उसी प्रकार विकारों से रहित ईश्वर सत्व , राजस् तमस् गुणत्रय को ग्रहण कर विभिन्न रूप धारण करते हैं ।

ईश्वर के विरोधी गुणों का उल्लेख

ईश्वर में अनेक विरोधी गुणों का समवाय दीख पड़ता है ।[2] अतः उसके यथार्थ स्वरूप का पूर्णज्ञान प्राप्त करना असम्भव है । वह स्वयं अज अर्थात् जन्मरहित है किन्तु धरती पर अवतार लेता है । स्वतः आप्तकाम होते हुए भी शत्रुओं का नाश करता है तथा समस्त प्राणियों के हृदय में निवास करता हुआ भी उसके समीप नहीं है । वह इच्छारहित होकर भी सर्वदा तपस्या में लीन रहता है । दयालु है किन्तु उसे दुःख की अनुभूति नहीं होती । पुराण पुरुष है तथापि वृद्धावस्था को कदापि प्राप्त नहीं करता । वह जितना द्रव है उतना ही घन है । जितना स्थूल है , उतना ही सूक्ष्म है , जितना लघु है उतना ही गुरु है तथा व्यक्ताव्यक्त दोनों रूपों को धारण करता है । स्वयं सर्वज्ञ है किन्तु अज्ञात है । एकरूप होते हुए भी विश्व के समस्त रूपों को धारण करता है ,

---

१- रघु० १०-१७
२- द्रवः संघातकठिनः स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः
व्यक्तोव्यक्तेतरश्चासि प्राकाम्यं ते विभूतिषु ॥ -- कुमार० २-११
रघु० १०-२१, १९,२०, २४ आदि

स्वामी होकर भी स्वामीहीन है । विश्व की क्वचिदपि वस्तु उसे अप्राप्य नहीं तथापि वह अवतार लेकर शत्रुओं का संहार करते हैं । योगनिद्रा में शयन करते हुए भी जागरण करते हैं तथा स्वयं अदृश्य रह दृश्यमान जगत् की रचना करते हैं तथा स्वयं इसके संहारक है । स्वयं अमाप्य समस्त विश्व के मापक है । इच्छारहित होकर भी सभी की कामनाओं की पूर्ति करते हैं । स्वयं अनन्त विश्व का अन्त करने में समर्थ है । कारणहीन होकर भी कारणरूप हैं । इस प्रकार का परस्पर विरोधी विशेषणों द्वारा किया गया ब्रह्म का वर्णन उपनिषदों में प्राप्त है । कवि ने परमेश्वर के स्वयं आप्तकाम होने का उल्लेख किया है । किन्तु सज्जनों की रक्षा तथा दुर्जनों के नाश के लिए बारम्बार अवतार लेते हैं तथा लोकसंग्रह के लिए विविध कर्मों में संलग्न दीखते हैं । श्रीमद्भगवद्गीता के इन तत्वों को कवि ने भी अभिव्यक्त किया है ।[1]

एकेश्वरवाद, गुणत्रय तथा त्रिदेव

त्रिमूर्ति हिन्दू त्रिदेव की धारणा का सुलभ वर्णन है ।[2] यह विविधता में एकता है तथा बहुदेववाद से एकेश्वरवाद की ओर जानेवाली प्रवृत्ति का संकेत देती है । इससे यह ज्ञात होता है कि ब्रह्मा-विष्णु तथा महेश -- प्रत्येक देव अपने-अपने क्षेत्र में तथा अपने-अपने भक्तों के लिए सर्वशक्तिमान् है । किन्तु यह ईश्वर विश्वसृजन से पूर्व एक है तथा सृष्टि रचनाकाल में सत्व, रजस् तथा तमस् , गुणत्रय , तदनुकूल ब्रह्मा, विष्णु महेश, भिन्न-भिन्न देवतारूप धारण कर लेते हैं तथा तीनों रूपों से

१- रघु० १०-३१ एवं गीता० ३-२२
२- गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे । -- कुमार० २-४

अपनी शक्ति प्रगट कर विश्व का सृजन , पालन एवं संहार करते हैं ।[१] वस्तुतः मूलतः एक ही ईश्वर के तीन रूप हैं तथा यह त्रिमूर्ति एक संयुक्त आकृति है , जिसमें सभी के कार्य तथा महिमा चरमकोटि पर स्थित है । यथार्थ में उसमें से प्रत्येक के लिए स्तुति की गई है । जिसने उसको एकत्व रूप दिया है । कवि कालिदास का यह विचार था कि अपने-अपने स्वरूपों से भिन्न व्यक्तिगत देवता को कोई स्थान नहीं । इतना अवश्य दीख पड़ता है कि कवि ने एक स्थल पर स्पष्टतः उल्लेख किया है कि वस्तुतः ब्रह्मा , विष्णु तथा रुद्र एक ही मूर्ति के रूपत्रय है तथा उसमें परिस्थितिवशात् ये श्रेष्ठता को प्राप्त करते हैं ।[२] क्वचिद् शिव सर्वोच्च शिखर पर प्रतिष्ठित है अन्यत्र विष्णु की प्रसंशा प्राप्त होती है तथा कदाचित् ब्रह्मा सर्वोत्तम श्रेष्ठता को प्राप्त करते है । यह अतीव मनोरंजक है कि रघुवंशम् के पराक्रमों का वर्णन जिसमें राम (विष्णु) के शौर्य की सर्वत्र अपेक्षा है । प्रारम्भ शिव स्तुति से प्रारम्भ है । इसी प्रकार "कुमारसम्भवम्" जहाँ शिवकथा विवक्षित है , वहाँ ब्रह्मा विषयक विस्तृत व्याख्या प्राप्त है । अस्तु ब्रह्मा अथवा ईश्वर को कोई भी संज्ञा से विभूषित क्यों न किया जाए ? उसे शिव , ब्रह्म मूलतः एक ही है , जिसने इस आश्चर्यजनक जगत् का निर्माण किया है । नृपाधिराज दिलीप के वक्तव्य द्वारा इसी अर्थ की पुष्टि होती है जहाँ नृपश्रेष्ठ जड़ चेतन समस्त प्राणियों को जन्म देनेवाले , पालन-पोषण करनेवाले तथा संहारक रुद्र के प्रति आदर प्रगट करते हैं ।[३] अतः शिव विश्वातीत सत्ता है तथा उसे शैव सम्प्रदायों के संकीर्ण

१- प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां गतः । -- कुमार० २-६

२- एकैव मूर्तिर्विभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम् ।
विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद्वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ ॥ -- कुमार० ७-४४

३- मान्यः स मे स्थावरजंगमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः । -- रघु० २-४४

विचारों में अन्तर्हित करना कदापि सम्भव नहीं है । वे महान् तथा कल्याणप्रदायक हैं, जिनके गुणों को सर्वसाधारण ज्ञान नहीं कर सकता ।[१]

ईश्वर के इच्छारहित्व गुण का विवेचन

इच्छारहित्व ईश्वर की प्रकृति है । वह किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता तथा अष्टमूर्ति (अष्टसिद्धियों -- अणिमा , महिमा , लघिमा , कामावसायित्व, प्राप्ति , प्रकाम्य, ईशित्व तथा वशित्व) रूप से समस्त विश्व का पालन करता है । उसमें अपने अनेक भक्तों को मनोनुकूल फल प्रदान करने की अद्भुत शक्ति प्राप्त है , वह गजचर्म को धारण करते हैं तथा अर्धनारीश्वर में पार्वती को स्थापित करते हुए भी किसी वस्तु की इच्छा नहीं करते तथा वह इस मानविक विश्व के समस्त मोह-ममता तथा माया से परे हैं ।[२] उसे विपत्तियाँ आक्रान्त नहीं करती तथा दुःखद क्षणों में वह उदास अथवा सुखद काल में आनन्दमय नहीं रहता । उसे दुःखद स्थितियों की प्राप्ति नहीं होती , न हि उसे उस स्थिति के दूरीकरण की आवश्यकता , तत्विपरीत उसे सुखद स्थितियों की भी इच्छा नहीं क्योंकि वह पूर्णानन्द की अवस्था है ।[३]

ईश्वरविषयक पूर्णाज्ञान के प्रति मानव ज्ञान की असमर्थता

परमर्षि वेदान्ती शंकराचार्य ने जिसे पारमार्थिक सत्ता की संज्ञा दी है उस रूप में ब्रह्म का ज्ञान मानव बुद्धि से परे है । कवि का कथन है कि "देव, यद्यपि

१- कुमार० ५-७७-७८
२- कान्तासंमिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां । -- मालविका० १-१
३- कुमार० ६-७६

आप हमारे सम्मुख उपस्थित है तथापि भवान्विषयक भेदों को हम नहीं जानते , अतः कृपावश अपना , स्वरूप स्पष्ट कीजिए[1], क्योंकि हमारी बुद्धि अब तक नहीं पहुँच पाती है" क्योंकि आपका ज्ञान हमारी बालसुलभ बुद्धि से परे है । व्यावहारिक ब्रह्म अर्थात् ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान आवश्यक होता है । विक्रमोर्वशीयम् का नान्दी स्वरूप इन्हीं भावों से अनुप्राणित हो रहा है । "स स्थाणुः" द्वारा इंगित उस ईश्वर की प्राप्ति सच्ची भक्ति से ही प्राप्त हो सकती है , जिन्हें वेदान्ती "एक पुरुष" संज्ञा से पुकारते हैं , जो पृथ्वी आकाश में रमा होने पर भी सबसे भिन्न है तथा मुक्ति के इच्छुक प्राणायामादि के माध्यम से अपने हृदय में खोजते हैं[2] यहाँ कालिदास का ईश्वर रामानुज दर्शन से सामंजस्य रखता है ।

ईश्वरभक्ति, प्रपत्ति तथा योग का व्याख्यान

रामानुज का कथन है कि उपनिषदों में प्राप्त श्रुतियों का अर्थ है कि ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है । यह सत्य है किन्तु यथार्थ ज्ञान का अर्थ है कि ईश्वर की ध्रुव स्मृति अथवा निरन्तर स्मरण । यही ध्यान उपासना या भक्ति है । ईश्वर में यह अनन्य भक्ति ही ईश्वर में प्रपत्ति ही मोक्ष का साधन है । साधक की भक्ति एवं प्रपत्ति से प्रसन्न होकर ईश्वर उसके मार्ग की बाधा हटा देते हैं तथा मुक्ति प्रदान करते हैं ।

१- साक्षाद्दृष्टोऽसि न पुनर्विद्मस्त्वां वयमञ्जसा । कुमार० ६-२२-२३
२- वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः ,
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते ,
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः । -- विक्रम० १-१

प्रपत्ति के द्वारा ईश्वर प्राप्ति का उल्लेख कर महाकवि कालिदास अष्टांग योग द्वारा भी ईश्वर प्राप्ति सुलभ मानते हैं तथा विक्रमोर्वशीयम् के उसी नान्दी श्लोक में "स स्थाणु स्थिरभक्तियोगसुलभो"[1] कहकर योगदर्शन के प्रति आस्था प्रकट करते हैं। कर्मयोग अर्थात् क्रियायोग का मुख्य साधन तपश्चर्या, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान है। जो भक्तगण मुक्ति के इच्छुक हैं तथा जिन्होंने पञ्चक्रियाओं तथा प्राणादि पर विजय प्राप्त कर लिया है, उसे भी कवि स्पष्ट करते हैं। योगदर्शन में यमनियमासन-प्राणायाम तथा प्रत्याहार इन पंचक्रियाओं तथा धारणा ध्यान समाधि इन अन्तरंग साधनों द्वारा मुक्ति की प्राप्ति बताई गई है। अपनी समस्त क्रियाओं पर नियन्त्रण कर मात्र ध्येय ईश्वर में चित्त को लीन कर देना अर्थात् ध्याता-ध्येय में पृथकता की अनुभूति का न होना ही मुमुक्षु को अभीष्ट है। "हृदये मनसि वा स्थिरभक्तियोगसुलभो" समास को विभिन्न रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है।[2]

ईश्वर के स्वतः प्रकाश स्वरूप का वर्णन

ईश्वर के स्वतः प्रकाश तथा ज्योतिस्वरूप ईश्वर का चित्रण कुशल-चितेरे कालिदास ने अपनी तूलिका से चित्रित किया है।[3] रघुवंश के अष्टम सर्ग में योगियों द्वारा सर्वदा प्राणायामादि से मन को संयमित कर मुक्ति प्राप्ति के लिए अपने हृदय में स्थित ज्योतिस्वरूप ईश्वर की ही खोज करते हैं। प्रकाशरूप ईश्वर का उल्लेख कवि

१- विक्रम० १-१
२- स्थिरः भक्तियोगः येषां ते स्थिरभक्तियोगः, तैः सुलभः।
स्थिरौ भक्तियोगौ येषां ते स्थिरभक्तियोगः ; तै सुलभः।
स्थिरेण भक्तियोगेन सुलभः।
स्थिरा भक्ति योगः (ध्यानं) च ताभ्यां सुलभः।
३- रघु० १०-२३

अन्यत्र भी करते हैं । जहाँ रघु के योग का वर्णन है । रघु ने अपने पुत्र अज का राज्याभिषेक किया तथा योगसाधना में लीन हो गए एवं योगक्रिया द्वारा परमात्मा का दर्शन प्राप्त किया । अन्ततः योगबल द्वारा सर्वदा प्रकाशमान आलोकवान तथा ज्योतिस्वरूप ईश्वर में लीन हो गए । वह शिव अथवा प्रकाशस्वरूप ही हो गए जिसने समस्त अन्धकारों को दूर कर दिया है ।[1]

ईश्वर के विश्वव्यापी तथा विश्वातीत रूप का चित्रण

ईश्वर अथवा ब्रह्म विश्वव्यापी एवं विश्वातीत दोनों गुणों से विशिष्ट है । मनीषीगण ईश्वर के विश्वव्यापी स्वरूप को विभिन्न रूप में व्याख्यायित करते हैं किन्तु ऋषिगण किसी भी गुण से ईश्वर को अलंकृत क्यों न करें , विश्वातीत अनिर्वचनीय ब्रह्म को व्याख्यायित करने में पूर्णतया असमर्थ हैं । उसके प्रत्यक्ष रूप में गतिमान एवं अगतिमान रूप को देखकर उसके सत्यरूप का ज्ञान असम्भव है । यद्यपि ईश्वर अवतार लेता है किन्तु उसका सूक्ष्म विवेचन असम्भव है । कवि ने ईश्वर के सगुण रूप को ही अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है । उनके अमूर्त विवेचन की अपेक्षा ईश्वर के मूर्त विवेचन की सत्यता को सिद्ध करना अधिक प्रधान समझा । अतः हम देखते हैं कि उपनिषदों का ब्रह्म अथवा परमात्मा सर्वोत्तम मूर्तरूप में अवतार लेकर आना ही विवेचित हुआ है । यही भावना महाभारत , गीता तथा प्राचीन पुराणों में प्राप्त होती है ।
~~यही भावना महाभारत , गीता तथा प्राचीन पुराणों में प्राप्त होता है~~ । इसी प्रकार वेदान्त का ईश्वर पतञ्जलि योगसूत्र में भी प्राप्त होता है जहाँ उसे पुरुषविशेष

१- रघु० ८-२२,२४

कहा है ।[1] यहाँ पुरुष विशेष पद स्वतन्त्र आत्मा रूप में भी समझा जा सकता है किन्तु वह भी अवतारवाद को ही स्वीकार करता है , जो अन्ततः स्वतन्त्र है तथा समस्त जीवात्माओं अथवा पुरुषों को नियन्त्रित रखता है ।

प्रकृतिपुरुषविशिष्ट ईश्वर का व्याख्यान

कविकुलगुरु कालिदास ने यद्यपि ईश्वर को योगसुलभ बताया है किन्तु उनका अभिमत ईश्वर योगदर्शन सम्मत ईश्वर नहीं , प्रत्युत उस ब्रह्म में सांख्य की प्रकृति-पुरुष दोनों संयुक्त है । इससे यह सूचित होता है कि कठोपनिषद् के समान ही संस्कृत साहित्य के देदीप्यमान नक्षत्र कालिदास भी प्रकृति-पुरुष के ऊपर एक परतत्त्व की सत्ता स्वीकार करते हैं जो उनके लिए विशेषकर शिवरूप है । किन्तु ब्रह्मा एवं विष्णु रूप भी है , अन्धकार से परे हैं तथा क्षयता को कदापि प्राप्त नहीं करता । तत्त्वज्ञानी व्यक्ति मृत्यूपरान्त इसी परमतत्त्व में लीन हो जाते हैं । कवि के ब्रह्म का अंत स्वरूप विशिष्टाद्वैत के संस्थापक रामानुजाचार्य द्वारा पारिभाषित ब्रह्म से तुलनीय है । रामानुज के मतानुसार ब्रह्म चित् (जीव) तथा अचित् (जड़ प्रकृति) दोनों तत्त्वों से युक्त है । वही एकमात्र सत्ता है अर्थात् उससे पृथक् या स्वतन्त्र किसी वस्तु की सत्ता नहीं किन्तु उसमें जो जीव तथा प्रकृति है वे भी वास्तविक है । रामानुज का अद्वैतवाद विशिष्टाद्वैत है क्योंकि उनके मतानुसार चित् तथा अचित् अंशों से विशिष्ट होते हुए भी ब्रह्म एक ही है , उसकी एकता भेदरहित नहीं है । वस्तुतः रामानुज के ब्रह्म को विचार पूर्णतया उपनिषद् प्रतिपाद्य है तथा कालिदास के सम्मुख भी

१- क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः । -- यो० सू० १-२४

प्रस्थानत्रयी ही विद्यमान थी , न कि शंकराचार्य का अद्वैतवाद अथवा रामानुज का विशिष्टाद्वैत । अतः कवि का ईश्वर औपनिषदिक ब्रह्मरूप ही स्वीकार करना चाहिए ।[1]

जगत् की विविधता के रूप में व्याख्यान

महाकवि कालिदास ने यद्यपि त्रिदेव अथवा त्रिमूर्ति की एकता को स्वीकार किया है तथापि विश्व की विभिन्नताएँ दृष्टिगत होने के कारण गुणीजन इस विचार में परिवर्तन के लिए विवश हो जाते हैं कि ब्रह्म की यह विशुद्ध एकता नहीं । ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही ब्रह्म की अनेक शक्तियाँ हैं तथा ब्रह्म किसी भी अवस्था में यदि अनेकता को प्राप्त नहीं करता तो विभिन्नतायुक्त तथा वैचित्र्ययुक्त इस विश्व का निर्माण वह किस प्रकार कर सकता है , क्योंकि दर्शनानुसार प्रत्येक कार्य के गुण कारण में विद्यमान रहते ही है । ईश्वर की स्तुति के प्रसंग में कवि का कथन है "आप तरल भी हैं तथा कठोर भी है , स्थूल तथा सूक्ष्म भी है , लघुत्व एवं गुरुत्व दोनों आपके ही गुण है तथा आप दृश्य एवं अदृश्य दोनों ही है । इस प्रकार नेति संज्ञक ईश्वर में समस्त विरोधी गुणों का समावेश है क्योंकि इस सृष्टि में अनेक प्रकार की विविधता प्राप्त है । यह सृष्टि के ईश्वर की ही इच्छा है अथवा कार्य है तथा ब्रह्म कारण है । जगत् रूप कार्य सीमित है तथा ईश्वर की समस्त शक्ति का परिचायक नहीं है , प्रत्युत अंशतः है । ईश्वर व्यापक है जगत् व्याप्य । अद्वैतवादी सम्मत व्यावहारिक जगत् की सत्ता कवि स्वीकार नहीं करता , अतः यह सिद्ध करना अनुचित प्रतीत होता है कि ईश्वर के एकत्व से नानाविविधतायुक्त जगत् का निर्माण हुआ होगा ।[2]

१- कुमार० २-१३
२- वही, २-११

चैतन्यविशिष्ट ईश्वर की अपरिवर्तनशीलतारूप गुण का विवेचन

कालिदास सम्मत ईश्वर स्वतः प्रकाश तथा स्वतः चैतन्य विशिष्ट है । वह किसी क्रिया के लिए लीन रहता है तथा उसकी यह सर्जनेच्छा से ही इस विश्व की रचना होती है । इसी अपूर्व शक्ति के कारण ही इस विश्व में वैभिन्यता दृष्टिगत होती है , किन्तु इस विश्व के प्रति वह कर्त्तारूप है न कि कर्म तथा कर्त्ता सदैव अपरिवर्तनशील ही रहता है । ईश्वर की अपरिवर्तनशीलता कविकुलश्रेष्ठ कालिदास भी कुमारसम्भव में इंगित करते हैं ।[1]

ईश्वर का निर्गुण स्वरूप में व्याख्यान

वेदान्त दर्शन के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि शंकराचार्य ने ब्रह्म के दो रूपों को स्वीकार किया है । व्यावहारिक दृष्टि से ब्रह्म अर्थात् ईश्वर की सत्ता सिद्ध है किन्तु ब्रह्म की जगत् कर्त्ता की उपाधि मात्र व्यावहारिक दृष्टि से ही स्वीकार की जा सकती है । जगत् कर्तृत्व ब्रह्म का स्वरूप लक्षण प्रत्युत तटस्थ लक्षण है अर्थात् सृष्टि का कर्त्तृत्व उसका औपाधिक गुण है वास्तविक स्वरूप नहीं । इस प्रकार ब्रह्म का स्वरूप लक्षण सच्चिदानन्द है । जगत्कर्त्ता, जगत् पालक तथा जगत्संहारक प्रभृति विशेषण उसके तटस्थ लक्षण हैं , जो मात्र व्यावहारिक दृष्टिकोण से सत्य है । ~~किन्तु यदि ब्रह्म को पारमार्थिक दृष्टिकोण से सत्य है~~ । किन्तु ब्रह्म को पारमार्थिक दृष्टिकोण से यदि देखा जाए तो जगत् के जिन विशेषणों से वह विशेषित है उन सभी से परे हो जाता है । यही ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप है । कालिदास ने भी ब्रह्म के इस यथार्थ स्वरूप

१- जगद्योनिरयोनिस्त्वं । कुमार० २-९

को लिखा है । इसके द्वारा सृजन पालन तथा संहरण गुणों से अयुक्तता स्वीकार करती ही पड़ती है । इस जगत् के कारणरूप ब्रह्म का कोई कारण नहीं तथा न उसका कभी अन्त है और न हि उसका प्रारम्भ है । अन्य शब्दों में वह स्वयं ही अपना स्वामी है । ब्रह्म के निर्गुण रूप को कवि ने इन्हीं शब्दों में चित्रित किया है ।[1]

ब्रह्म का सगुण स्वरूप

वेदान्ती विशेषतः शंकराचार्य के मतानुसार ब्रह्म का विचार दो दृष्टियों से किया जा सकता है । व्यावहारिक दृष्टि से जगत् की सत्यता सिद्ध है तथा ब्रह्म को इसका मूलकारण --सृष्टिकर्ता, पालक तथा संहारक , सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् कह सकते हैं । इसी रूप में उसे ईश्वर या ब्रह्म कहा गया है तथा इसी रूप में ईश्वर की उपासना भी की जाती है । इस रूप में ईश्वर का सगुण रूप कवि द्वारा भी अभीप्सित है । ऐसा प्रतीत होता है कि कवि को सर्जन , पालन तथा संहार (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) की स्तुति मान्य थी । क्योंकि तत्कालीन समाज में इन्द्र, कुबेर ,अश्विनीकुमार प्रभृति प्राचीन देवताओं की अर्चना का प्रचार समाप्त हो गया था तथा उसका स्थान ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र ने ग्रहण कर लिया था तथापि आज इन देवताओं के उपासकों में जिस प्रकार का महान् विरोध दृष्टिगत होता है , उस प्रकार का विरोध उस काल में प्रतीत नहीं होता है । सम्भवतः बौद्धों के आक्रमण के कारण भिन्न-भिन्न देवताओं के उपासक परस्पर भेदभाव को भूल एक जुट हो गये , अतः उस काल में दार्शनिकों की शिक्षा भी उसी प्रकार की रही होगी । अस्तु, कारण कुछ भी हो , उस काल के दार्शनिकों में सख्यभाव तथा एकता थी , इसमें सन्देह नहीं । क्योंकि एक ही कुटुम्ब

१- प्राक्सृष्टेः केवलात्मने । --कुमार० २-४

के परिजन भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासना करते थे । महाकवि कालिदास ने देवता-त्रय की विशद स्तुति की है तथा अन्य पौराणिक एवं वैदिक देवी-देवताओं का भी व्याख्यान किया है ।

(क) त्रिदेव

त्रिदेवों में प्रथम स्थान ब्रह्मा को प्राप्त है क्योंकि वे ही जगत् की सृष्टि का कारण है --

१- ब्रह्मा[१]-- कालिदास के ग्रन्थों में वर्णित प्रधान देवताओं में एक ब्रह्मा है वह विष्णु तथा शिव के साथ संयुक्त होकर प्रसिद्ध हिन्दू त्रिदेव (त्रिमूर्ति) का निर्माण करता है । उन्हें सम्बोधित स्तुति प्रसंगों में कवि उनको परमतात्विक शक्तियों से युक्त करता है । उन्हें स्वयंभू चतुरानन , वागीश तथा चराचर विश्व का प्रभव स्वीकार किया है क्योंकि उन्होंने जल की सृष्टि कर उस पर बीजारोपण किया है तथा प्रकृति की तीन अवस्थाओं सर्ग, स्थिति और प्रलय का कारण है । सृष्टि के पूर्व एकमात्र अस्तित्व "केवलात्मा" थे तथा सत्व , राजस तथा तम ये तीन गुण विद्यमान थे । उसने सृष्टि रचना के लिए अपने शरीर को दो विभागों नर-नारी में विभाजित किया , अतः वे विश्व के माता-पिता हैं । सृष्टि तथा प्रलय उनके जागने तथा निद्रा के तुल्य है । वह अज , कारणरहित सभी का कारण है । स्वयं अकारण वह जगत् का कारण है , स्वयं अनन्त वह विश्व का अन्त है । स्वयं अनादि वह जगत् का आदि है स्वयं प्रभुरहित सभी का प्रभु है । वह स्वयं को स्वयमेव को जानता है , अपनी रचना स्वयं करता है ,

---

१- कुमार० २-१,३,४,५,६,७,८,९,१०,११,१२,१३,१४,१५,१६,१७
कुमार० ३-५, १-२९, ७-४३
रघु० ५-३६

उसे स्वतः प्रेरणा प्राप्त होती है तथा अन्ततः वह स्वयं में ही लीन हो जाता है । वह स्वेच्छा अनुसार तरल-ठोस , स्थूल-सूक्ष्म , गुरु-लघु तथा प्रकट अंतर्धान होता है । वह उस वाणी का कारण है जिसका आदि प्राण हैं । यज्ञ जिसका कर्म है तथा स्वर्ग जिसका परिणाम है । वह रागातीत , परमश्रेष्ठ है तथा अपनी उस प्रकृति की साक्षीभूत ध्यान किया जाता है । वह पिताओं का पिता, देवाधिदेव , सर्वातीत तथा सृष्टाओं का सृष्टा है । वह हवि तथा होता , भोज्य तथा भोक्ता , ज्ञान एवं ज्ञाता और ध्येय एवं ध्याता दोनों ही है । अतः ब्रह्मा धाता , विधाता , वेधा, चतुर्मुख आदि नामों से पुकारा जाता है । यहाँ कवि ने औपनिषदिक ब्रह्म को पौराणिक ब्रह्मा का रूप दिया है । कविकुलगुरु ने प्रजापति का एकीकरण ब्रह्मा से किया है । उनके पूर्ववर्ती साहित्य में भी ऐसा प्रयोग होने के कारण यह असंगत नहीं है । आश्वलायन गृह्यसूत्र दोनों देवताओं को एक मानता है ।[1] शतपथ[2] एवं तैत्तरीय[3] ब्राह्मणों के अनुसार भी वह देवताओं का पिता है । शतपथ उसे आदि में अकेला विद्यमान मानता है ।[4] इसके पूर्व भी ऋग्वेद में उसके लिए एक मन्त्र का प्रयोग प्राप्त है , जिसमें वह कभी श्वास लेनेवाले तथा गतिमान प्राणियों का अधिपति रूप में संज्ञित हैं -- वह दोनों का देव है जिसके आदेश का सभी पालन करते हैं । वह आकाश में व्याप्त है तथा समस्त विश्व को अपनी भुजाओं से आलिंगितकरता है ।

१- आश्वलायन गृह्य सूत ३-४
२- शतपथ ११-१, १६,१४
३- तैत्तिरीय ८-१,३,४
४- वही , ३-४, १, ऋ० १०-१२१

२- विष्णु[1]-- ऋग्वेद का सूर्यदेव विष्णु का पौराणिक देव समुदाय में पुनः उत्पन्न हुआ और उसे नवीन ऐश्वर्य तथा असीम शक्ति मिली है तथा उसे नवीन संज्ञाओं से अलंकृत किया गया --हरि, पुरुषोत्तम , त्रिविक्रम, पुण्डीकाक्ष, पुराण, कवि , चतुर्मूर्ति, पुरुष, परमेष्ठिन् , सारंगी , महावराह , अच्युत , बलनिषूदन, चक्रधर , भगवान् , कृष्ण आदि । विष्णु ऋग्वेद में सूर्य है , जो सूर्य के सदृश तीन विक्रम लेकर भूस्थल को पार करता है । वहाँ उसका आयुध सूर्याकृति का गोल गतिशील चक्कर है, जो पश्चात्कोल में चक्र बन गया है । वामनावतार में तीन डेगों में लोकत्रय को मापकर विष्णु द्वारा पृथ्वी को प्राप्त करने के पश्चात् की पौराणिक धारणा ऋग्वेदीय संकेत से आभासित है । ऋग्वेद में सूर्यदेव होने से विष्णु का निम्न-पद ब्राह्मणों में सर्वश्रेष्ठता में परिणत हो जाता है जहाँ वह वामन का रूप धारण कर तीन विक्रमों में पृथ्वी को असुरों से छुड़ा लेता है । स्पष्ट ही पुराणों का अनुसरण करनेवाले कालिदास का विष्णु पश्चात् के देवतावर्ग के प्रसिद्धतम देवताओं में एक है तथा शिव के पश्चात् वही परमदेव है , जिसके एक अथवा दूसरे अवतार की पूजा हिन्दू करते हैं । कालिदास की रचनाओं में विष्णु की स्तुति में प्राप्त स्तुत्य पाठों का विश्लेषणात्मक अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि हमें जो रूप, गुण और कर्म बोधगम्य होते हैं , वे सहस्रफनवाले शेषशैय्या पर विष्णु विराजमान है , पद्म पर सुशोभित लक्ष्मी के अंक में उनके पदसरोज हैं तथा कटि प्रदेश में पीताम्बर

१- रघु० १०-८, १३,१५,१६,१७,१८,१९,२०,२१,२२,२३,२४,२५,२६,२७,२८, २९,३०,३१,३६,३८,६०,६१
रघु० ३-४९,७-३५, १८-९,१०, पू० मे० ४६

सुशोभित है । वक्षस्थल पर कौस्तुभ मणि विराज रहा है तथा स्वामिभक्त उनकी सेवा में निरत है । वह मन और वाणी से परे है । आदि में जगत् का स्रष्टा पुनः उसका पालक तथा अन्त में संहार होने से विष्णु तीन प्रकार के शरीर वाला है । जिस प्रकार वृष्टि का जल मूलतः एकरस होता हुआ भिन्न-भिन्न भूमियों में बहुविध स्वादवाला हो जाता है , उसी प्रकार परिवर्तनरहित वह सत्व, राजस् तथा तमस् के विविध गुणों से मिलकर भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ धारण करता है । स्वयं अमाप्य समस्त विश्व का मापक है तथा स्वयं कामनाहीन सभी की कामनाओं की पूर्ति करता है । स्वयं अजेय उसने सभी पर विजय प्राप्त की है तथा स्वयं अगोचर समस्त दृश्य जगत् का कारण है । कवि घोषणा करते हैं कि वह हृदय में निवास करता हुआ भी निकट नहीं है , निष्काम होते हुए भी तपःशील है , दयालु है किन्तु दुःख से अस्पृष्ट है । पुराण होकर भी नाशरहित है , यद्यपि वह सर्वज्ञ है तथापि वह स्वयं अज्ञात है तथा वह सभी का आदि स्रोत है । वह स्वयंभू सभी का स्वामी तथा स्वयं स्वामीरहित है । स्वयं अक्षर है तथापि वह सभी आकारों को धारण करता सप्तसागर के जल तरंगों पर शयन करता हुआ , वह सप्तलोकों का परम आश्रय है । सप्तसामों द्वारा गेय है तथा उसके मुख के लिए सप्ताग्नि प्रज्वलित है । उसके चार मुखों से जीवन के चतुरुद्देश्यों का ज्ञापक ज्ञान चार चक्रों में काल व्यवस्था तथा चतुर्वर्ण , अभ्यास के द्वारा मन को बाह्य वस्तुओं से रोककर योगीजन मुक्ति के लिए उसका अन्वेषण करते हैं और वह आलोकमय उनके हृदय में निवास करता है । अजन्मा वह जन्म धारण करता है , निष्कर्ष वह शत्रुओं का संहार करता है तथा निद्रागत वह प्रहरी का कार्य करता है । शब्दादि इन्द्रियों के विषयों का भोक्ता होने के योग्य होता हुआ भी वह कठोर तपस्वियों

के सदृश आचरण करता है , लोकपालन के योग्य होकर भी वह नितान्त निरपेक्ष रहता है । परमानन्द प्राप्ति के मार्ग धर्मग्रन्थों में यद्यपि विविध एवं अनेक हैं तथापि सभी उसी में आ मिलते हैं । जिनके सांसारिक भोग की कामनाएँ बिल्कुल नष्ट हो गई है और जिन्होंने अपना हृदय उसमें लगा दिया है एवं समस्त कार्यों को उस पर अर्पित कर दिया है , उनके लिए वही पापों से मुक्ति पाने की शरण है । पृथ्वी तथा दूसरे तत्वों में छिपी उसकी महानता यद्यपि इन्द्रिय ग्राह्य है तथापि वर्णनातीत है । वह तर्क तथा वेदों से सिद्ध होनेवाला है , क्योंकि स्मरण मात्र से ही वह मनुष्य को पवित्र बना देता है , इस कार्य से स्मरण करनेवाले के इन्द्रिय की शेष क्रियाएँ अपना प्रभाव प्रकट कर देती है । उसकी रहस्यमयी प्रकृति प्रशंसा के परे हैं कोई वस्तु उसके लिए अनधिगम्य नहीं । लोगों पर दया प्रदर्शित करने के लिए वह अवतार लेने की कृपा करता है तथा मनुष्य के सदृश आचरण भी करता है एवं वह आदिकवि है । पुनः विष्णु का वर्णन दशरथ की पत्नियों के स्वप्न के प्रसंग में प्राप्त होता है । उनकी रक्षा शंख, असि , गदा , सारंग , धनुचक्र से युक्त बौने कर रहे हैं , गरुड़ आकाश में ले जा रहे है, सुनहले पक्षों की घनीभूत आभा चतुर्दिक विकीर्ण हो रही है तथा जिसके प्रबल वेग से बादल छिन्न-भिन्न हो रहे थे ।

इसके पश्चात् लक्ष्मी द्वारा सेव्यमान कौस्तुभ मणियुक्त विष्णु का उल्लेख मिलता है । उसकी उपासना सप्तर्षि करते हैं जिन्होंने दिव्य त्रिपथगा गंगा में स्नान किया था और वेद मन्त्रों का उच्चारण कर रहे थे । उसकी चतुर्भुजाएँ है , हिमालय अचल रूप में विष्णु कहा गया है । विश्व को ब्रह्म माननेवाले विष्णु का एकीकरण समस्त पदार्थों के सर्वोच्च उदाहरणों से किया गया है तथा परिणामतः पर्वतश्रेष्ठ हिमालय के

साथ । ऐसा कहा गया है कि हरि ने किसी निश्चित काल में तीन डगों में समस्त पृथ्वी माप ली । यह संकेत स्पष्टतः विष्णु के वामनावतार का है । वह अणिमा आदि अष्टगुणों से युक्त है जिसके द्वारा वह अपने शरीर को लघु या दीर्घ बना सकता है । कालिदास ने नारायण को विष्णु माना है , एक अन्य स्थल पर आकाश विष्णुलोक के रूप में निर्दिष्ट हुआ है जहाँ कालिदास इनको "आमनः पदम्" रूप में वर्णित करते हैं ।

३- शिव-- कविताकामिनी के कमनीय कान्त महायोगी कालिदास के काव्यों में शिव का सम्पूर्ण परिवार चित्रित है । शिव-पार्वती , कार्तिकेय , नन्दी , मयूर प्रभृति का बारम्बार उल्लेख मिलता है । शिव का ब्रह्मरूप वेदों में तथा सगुणरूप पुराणों में उद्घाटित हुआ है । आगम , पुराण में वर्णित शिव के सनातन सगुण रूप का निरूपण कालिदास के काव्यों में प्राप्त है । योगमार्ग में अवश्य शिव आज्ञा चक्र में आनन्द बिन्दु के रूप में प्रतिष्ठित है तथा पार्वती मेरुदण्ड की कन्या सुषुम्णा के रूप में दृष्टिगत है। कवि तथा भक्त कालिदास के लिए शिव-गौरी सविग्रह कैलास पर वर्तमान है । तन्त्र और योग में शिव जिस रूप में स्वीकृत है , उसी रूप में वे भक्त में अवस्थित रहे , यह कल्पना स्वीकृत उचित नहीं । शिव का निर्गुण रूप, योगसाधना के लिए लाभप्रद है किन्तु भक्तिभावना नहीं हो सकती । वह निर्गुण-निर्विशेष भक्त के हृदय में ज्योति अवतरित होता है । सगुण एवं सविशेष हो जाता है । कविता और भक्ति विशेष की होती है , सामान्य की नहीं । योगी कालिदास अद्वैतवादी हो सकते हैं, किन्तु कवि कालिदास अथवा भक्त कालिदास विशिष्टाद्वैतवादी है । ये निगमागम प्रतिपादित शिवस्वरूप के पूर्ण उपासक थे । जटा, गंगा, चन्द्रमा , सर्प, भस्म , त्रिशूल

त्रिनेत्र , नन्दी , गण , कैलास , गजचर्म, ताण्डवादि तथा पार्वती से विभूषित गंगाधर को भक्तों का भगवान् कहा जाए अथवा योगियों का नाद ब्रह्म -- वह एक ही रूप है । क्योंकि योग एवं तन्त्र से प्रतीक उधार लेकर काव्यों की रचना असम्भव है ।[१]

मेघदूत में अनेक स्थल है , जहाँ कालिदास की शिवभक्ति के पुष्टप्रमाण उपलब्ध होते है । महाकाल के देवालय में सान्ध्य आरती के समय कवि भी उसमे सम्मिलित होते हैं ।[२] शिवजी के गणों के साथ कवि भी मेघ के श्यामल वर्ण में अपने प्रभु नीलकण्ठ की छवि देखकर आत्मविभोर होते है तथा मेघ के साथ कालिदास भी कैलास पर अंकित शिव के पदांक की प्रदक्षिणा करते है ।[३] उस पदचिह्न के दर्शन मात्र से जीव शिवगणो में अपना स्थान प्राप्त करते हैं । शिव-गौरी के मणितट पर आरोहण वेला में मेघ के साथ कवि भी अपने शरीर को सोपान में परिणत कर देते हैं ।[४] शिव के नृत्य का गजासुर की कृत्ति के परिधान तथा उनके अट्टहास , उनकी जटाओं में कल्लोल करती जह्नुतनया तथा शैलाधिराजतनया के सपत्नी भाव का भी वर्णन है ।[५] शम्भु के भुजंगों पार्वती के साथ विहार, कुबेर के साथ मैत्री , किन्नरियों द्वारा उनके यशोगान , त्रिपुर की विजय तथा उनके वृषभ का वर्णन है । धूर्जटि त्रिनयन है[६] तथा ललाट पर द्वितीया के चन्द्र की कला सुशोभित है ।[७] मदन-दहन वे कर चुके हैं अथवा उनके निवास स्थान पर कामदेव भी जाने में डरता है । देवांगनाओं के

१- पू० मे० ४०,६२,५४,५६,५९,६०
२- पू० मे ४०
३- पू० मे० ३७
४- पू० मे० ६४
५- पू० मे० ४०,६२,५४
६- पू० मे० ५६
७- पू० मे० ५९

दर्पण के समान रजतगिरि कैलास के उत्संग में अलकापुरी बसी है । शिवजी पशुपती है[1] उनके चरणन्यास की परिक्रमा तथा दर्शन करके श्रद्धालु जन स्थिरपद अर्थात् अनावृत्तिमय मोक्ष पाने में समर्थ होते हैं ।[2]

स्वामी कार्तिकेय तथा उनके जन्म का उल्लेख भी कवि की रचनाओं में प्राप्त है ।[3] वस्तुतः शिवजी का जो सूर्य से भी अधिक प्रभावशाली तेज है । वह अग्नि के मुख में संचित होकर कुमार के रूप में उदित हुआ है , उसी की संज्ञा कार्तिकेय स्कन्द है । यक्ष द्वारा मेघ को उस कुमार के निवासस्थान देवगिरि में पुष्पाहार जल बिन्दु वर्षन आदेश है , क्योंकि देवासुर संग्राम में देवसेना के रक्षार्थ ही स्कन्द का जन्म हुआ है । अतः वे भी पूजाञ्जलि के अधिकारी हैं । कालिदास ने स्कन्द के मयूर का भी स्मरण किया है तथा उसे नृत्य द्वारा आनन्दित करने का मेघ को परामर्श है ।[4]

कवि के मतानुसार मेघ कामरूप पुरुष है , जिसे चन्द्रशेखर ने कोपानल से भस्मीभूत कर दिया था , अतः शिव तथा वृषात्मक मेघ का घनिष्ठ सम्बन्ध है । डॉ० श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल ने "मेघदूत का अध्ययन : शिव का स्वरूप" निबन्ध में कालिदास को उत्कृष्ट कोटि का अद्वैतवादी स्वीकार किया है । वेदान्त प्रतिपाद्य ब्रह्म की ही संज्ञा शिव है जो वेदों में भी अनेक स्थानों पर प्राप्त है ।[5]

१- पू० मे० ६०
२- कुमार० ३-६
३- पू० मे० ४७, ४८
४- पू० मे० ४८
५- नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च
मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च । -- यजु० १६-४१

यहाँ शिव को शम्भु , भयङ्कर , मनोभव संज्ञा से विभूषित किया है कालिदास ने शिव की अखण्ड सत्ता का गुणगान सर्वत्र किया है । समस्त लोकों का अधिष्ठाता जिसकी आत्मशक्ति अपने गुणों से युक्त होकर प्रकृति की रचना तथा उसके विसर्जन का कार्य करती है , वही अध्ययात्मा , अज , स्वयंभू , अष्टमूर्ति , भूतपति महेश है । जिस अष्टमूर्ति की स्तुति कवि ने सर्वश्रेष्ठ नाटक "अभिज्ञानशाकुन्तलम्" में की है , वह गीता से सामंजस्य रखती है ।[१] कवि ने स्वयम्भू, विष्णु और शिव इस त्रिमूर्ति के अद्वैत भाव का प्रतिपादन किया है । ब्रह्मा के स्तुति के प्रसंग में कवि स्पष्टतः ही शिव , ब्रह्मा तथा विष्णु में अभेद स्वीकार करते हैं ।[२] उनके त्रिदेव की स्तुतियाँ उपनिषदों के समान ब्रह्म का सरस तथा निर्भीक प्रतिपादन करती है ।[३] रघुवंश के दशम् सर्ग में क्षीरसागर अवाङ्मनसगोचर शेषासीन भगवान् विष्णु को नयन कर देवता उसकी स्तुति करते हैं ।

शिव-विष्णु तथा ब्रह्मा का जो पृथक्-पृथक् वर्णन कवि ने किए उनमें भी अन्योन्य संक्रमित भाव और पद है । शिव का अद्वैतस्वरूप "कुमारसम्भव" में अनेक श्लोकों में प्राप्त है ।[४] शिव विश्वगुरोर्गुरु, विश्वात्मा , त्रैलोक्यवन्द्य, तमोविकार अनपहृत है ।[५] वह किसी की स्तुति नहीं करते , किन्तु उनकी स्तुति सभी करते हैं ,

---

१- अभि० १-१, कुमार० ६-२६, गी० ७-४
२- कुमार० २-४
३- रघु० १०-१६ से ३२
४- कुमार० ६-७६
५- कुमार० ६-९३, ८८, ७-५४, ४२

वह किसी की वन्दना नहीं करता किन्तु उसकी सभी वन्दना करते हैं । वह जगत् का अध्यक्ष और मनोरथों का अविषय है । वाणी , मन और बुद्धि से परे है , उसको तत्त्वतः कौन जान सकता है ।[1]

ब्रह्म के अद्वैत का प्रतिपादन करके कालिदास उस अनन्त पुरुष को , जो लोक लोकांतरों का अधिष्ठाता है आत्मतत्त्व में प्रतिष्ठित करते हैं । गीता में , जिसे अक्षर संज्ञा प्राप्त है उसमें तथा हृदय देश में स्थित आत्मेश्वर में कदापि भेद नहीं । गीता का क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विचार कालिदास को मान्य है ।[2] कालिदास ने उसी योग साधन-मार्ग का वर्णन किया है , जिसका प्रतिपादन गीता में है । उसी प्रकार का वर्णन कुमारसम्भव में प्राप्त है । शिव के प्रति कवि को विशेष आकर्षण है ,उनके समस्त नाटकों के नान्दी श्लोकों में बालगंगाधर की ही स्तुति है । "मालविकाग्निमित्रम्" के प्रारम्भ में कवि ने उन्हें भक्तों के मनोरथों को पूर्ण करनेवाले , कान्तासंमिश्रदेह तथापि संसार के भोगो से परे तथा निरभिमानी तथा समस्त रूपों से विश्व का पालन करनेवाले रूप में स्तुत्य है ।[3] इसी प्रकार "अभिज्ञानशाकुन्तलम्" तथा विक्रमोर्वशीयम्" और "रघुवंशम्" में भी उनकी स्तुति है ।[4] "शाकुन्तलम्" के भरतवाक्य में शंकर से ही मुक्ति की प्रार्थना की है ।[5] कुमारसम्भव में चन्द्रशेखर के चरित्र का रमणीय वर्णन

१- किं येन सृजसि व्यक्तमुत येन बिभर्षि तत्
अथ विश्वस्य संहर्ता भागः कतम एष ते । -- कुमार० ६-३२
२- गी० १३-१२ एवं कुमार० ३-२०, ६-७७
३- मालविका० १-१
४- रघु० १-१, अभि० १-१, विक्रम० १-१
५- अभि० ७-३५

प्रस्तुत किया गया है । इसी काव्य में देवताओं द्वारा धूर्जटि की स्तुति करवायी गई है , जहाँ उन्हें जगत् की उत्पत्ति , स्थिति और लय करने वाले अन्तर्यामी , अन्धकार से परे ज्योतिस्वरूप माना गया है ।[1] इसी महाकाव्य के द्वितीय सर्ग में देवताओं द्वारा ब्रह्मा की स्तुति के प्रत्युत्तर में अर्धेन्दुमौलि की प्रशंसा ब्रह्मा ने इस रूप में की है "स्वयं मुझे अथवा विष्णु को भी चन्द्रमौलि के स्वरूप एवं प्रभाव का सम्यक् ज्ञान प्राप्त नहीं होता है ।"[2] सभी सजीव तथा निर्जीव के सर्जन, पालन तथा संहार के वे ही कारण है ।[3] सर्ग स्थिति के कारण होने का गुण , शिव को इस प्रथा के अनुकरण में दिया गया है जिसके अनुसार एक उपासक अपने उपास्य देव की स्तुति करता है । शिव का यथार्थ कार्य है --तीनों में अन्तिम प्रत्यवहार अर्थात् जगत् का प्रलय । उसकी मूर्ति जल में व्याप्त कही जाती है ।[4] वह इस तथ्य का भी द्योतक है कि प्रलय के अन्त में जब शिव का प्रभाव होता है , पृथ्वी जलमग्न हो जाती है । यह विश्व का रूप है , ईश्वर संज्ञा प्रवृत्त है अणिमादि सिद्धियों से युक्त भाल पर द्वितीया का चन्द्र सुशोभित है । वह विश्व को धारण करता है तथा योगीजन उसका ध्यान करते हैं । इस विश्व में जितने कर्म किए जाते हैं उनका वह साक्षी है । सभी लोकपाल इन्द्र के नेतृत्व में उसके सम्मुख नतमस्तक होते हैं ।"[5] "विक्रमोर्वशीयम्" के नान्दी श्लोक में वर्णित विचार उन्हें इतना महान् बना देता है कि पृथ्वी एवं आकाश दोनों मिलकर

१- स हि देवः परं ज्योतिस्तमः पारे व्यवस्थितम् ।
परिच्छिन्नप्रभावर्द्धिर्न मया न च विष्णुना । -- कुमार० २-५८
२- कुमार० २-५८
३- स्थावरजङ्गमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः । --कुमार० २-४४
४- स वा शंभोस्तदीया वा मूर्तिर्जलमयी मम । --कुमार० २-६०
५- कुमार० ६-७५, ७-३३, विक्रम० ४-६५
६- ध्रियते विश्वं । कुमार० ६-७६, ६-७७

भी उसके विस्तार के समाने के लिए पर्याप्त नहीं । ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में यह भाव व्यक्त किया गया है ।[१]

(ख) वैदिक पौराणिक देवता

देवता के लिए कवि ने "देव" शब्द का प्रयोग किया है ।[१] इन देवताओं में इन्द्र[३], अग्नि[४], वरुण[५], सूर्य[६], यम[७], त्वष्ट्रा[८] द्यावापृथिवी[९] रुद्र[१०] प्रमुख है । प्रकृति की दिव्य शक्तियों का प्रभाव प्रायः समाप्त था । विष्णु सूर्य की कला न रहकर पृथ्वी का सर्वशक्तिमान् देवता बन गए जिनके राम तथा कृष्ण अवतार रूप में नवीन देवता की योजना हुई । ब्रह्मा , विष्णु तथा शिव का स्वरूप, कुबेर , स्कन्द , शेष, जयंत , लांगली , मदन लोकपाल (पूर्ववत्) का उल्लेख , ब्रह्मा के लिए स्वयंभू च चतुरानन , वागीश का प्रयोग कवि ने किया है । विष्णु के लिए हरि , पुरुषोत्तम , तिविक्रम , पुण्डरीकाक्ष , परमेष्ठिन् , अच्युत, चक्रधर , कृष्ण, नारायण कहा गया है । शिव के लिए ईश , ईश्वर , महेश्वर , परमेश्वर , अष्टमूर्ति , वृषभध्वज , शूलपाणि, नीललोहित , शंभु, विश्वेश्वर, हर गिरीश, पिनाकी प्रभृति विशेषण है ।

१- स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम् । --ऋ० १०-९०-१
२- कुमार० ७-३८, २-१
३- रघु० २-४२, ३-२३, ३८,३९,४२,४३,४४,४६,५३,५२,६४,४-३,९-२४
कुमार० २-२०
४- रघु० ५-२५, १०-५०
५- रघु० २-४२, ३-२३,३८,३९,४२; १७-८१
६- कुमार० ८-४१, ४२,४३, ४४
७- रघु० २-६२, ९-६
८- रघु० ६-३२, कुमार० ७-४१
९- रघु० १०-५४
१०- रघु० ६,५१, ५८ , मालविका० १-१, अभि० १-१, विक्रम० १-१

(ग) पौराणिक एवं वैदिक देवियाँ

इन्द्रपत्नी शची[1], सरस्वती[2], पृथ्वी[3] तथा पौराणिक में पार्वती[4], लक्ष्मी[5] तथा सप्तामिबकाएँ[6] चर्चित है ।

(घ) भूचर देव देवियाँ

इनमें गन्धर्व, यक्ष, किन्नर , किंपुरुष , पुण्यजन , विद्याधर, सिद्ध, अप्सराएँ एवं सुरांगनाएँ उल्लिखित है ।[7]

सृष्टिरूप कार्य के प्रति ब्रह्म (ईश्वर) का निमित्तोपादान कारण रूप में विवेचन

कविकुलगुरु ने जिन शब्दों में ब्रह्म का विवेचन किया है , उससे ज्ञान होता है कि ईश्वर इस सृष्टि के प्रति निमित्त तथा उपादान दोनों कारण है । सृष्टि-क्रिया पूर्णतया ईश्वराधीन है । विश्व की बहुविविधता का अधिष्ठान सामान्यतः ईश्वर के दोनों कारणों में है । विशुद्ध सत्ता अथवा आत्मा जो शक्ति से संयुक्त है , विश्व के प्रति उपादान कारण है , क्योंकि विश्वसृजनरूप कार्य का विचार उसी सृष्टिकर्ता में विद्यमान है । लौकिक उदाहरण में कुम्हार से इस तथ्य को भली प्रकार समझा जा सकता है । जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी चाक प्रभृति की सहायता से पात्र निर्मित करता है

१- रघु० ३-१३,२३
२- रघु० ४-६, ६-२९, कुमार० ७-९०
३- रघु० १०-५४
४- कुमार० सम्पूर्ण
५- रघु० १०-९
६- कुमार० ७-३८,३९
७- रघु० ८-६४, ९-६, ५-५३, २-२०, १-२७, कुमार० ६-३९, पू० मे० १, कुमार० १-८, ५-५६ आदि

तथा उसे पुनर्पुनः नवीनतम रूप प्रदान करता है , उसी प्रकार ईश्वर बहुविविधता-युक्त विश्व की सृष्टि करता है तथा उसका संहार कर बारम्बार नवीन सृष्टि की रचना करता है ।[1] जिस प्रकार कुम्हार एवं उसके विचारों को भिन्न नहीं किया जा सकता उसी प्रकार उपादान तथा निमित्त कारण समन्वित ब्रह्म को भिन्न-भिन्न समझना कठिन है । कवि के विचारानुसार ब्रह्म यद्यपि निमित्त रूपों को धारण करता प्रतीत होता है , किन्तु वस्तुतः वह एक है , जो वैभिन्य दृष्टिगत हो रहा है , वह ईश्वर के सृष्टि की अदम्य इच्छाशक्ति के फलस्वरूप प्राप्त है । कवि अतीव सौन्दर्यपूर्ण वाणी में कहता है कि स्त्री के लिए शक्ति तथा पुरुष के लिए आत्मा शब्द प्रयोग स्वीकार करना चाहिए ।[2] इसी शक्ति को विभिन्न दार्शनिक माया , प्रकृति प्रभृति शब्दों से परिभाषित करते हैं ।

न्याय ईश्वर को जगत् का मात्र निमित्त कारण मानता है , किन्तु वेदान्त के मतानुसार ईश्वर का उपादान कारण भी है । जगत् की सृष्टि इच्छापूर्वक है । ईक्षण-पूर्वक सृष्टि व्यापार करनेवाला ईश्वर निमित्तकारण निस्सन्देह है किन्तु उसका उपादान कारण भी सिद्ध है । उपनिषदों में इस प्रश्न के उत्तर में जिस एक वस्तु के ज्ञान होने पर समस्त वस्तुएँ ज्ञात हो जाती हैं वे ब्रह्म ही उपदिष्ट है । जिस प्रकार मिट्टी के पिण्ड के ज्ञान से मृत्तिका के समग्र निर्मित पदार्थों का ज्ञान होता है , क्योंकि मृत्तिका ही सत्य है , मृण्मय पदार्थ मात्र नामरूप वाले हैं । उसी प्रकार ब्रह्म के ज्ञान से सभी पदार्थ ज्ञात हो जाते हैं । मृत्तिका के साथ ब्रह्म का दृष्टान्त उपस्थित होने से

१- कुमार० २-६
२- कुमार० २-७

ब्रह्म का उपादानत्व सिद्ध होता है । मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्म को योनि शब्द से अभिहित किया गया है , कवि ने भी "योनि" पद से ईश्वर को अलंकृत किया है ।[१]

ईश्वर को मात्र उपादान कारण स्वीकार करने में समस्या एवं उसका समाधान

उपर्युक्त व्याख्यान से यह ज्ञात होता है कि ईश्वर को सृष्टि के प्रति उपादान तथा निमित्त दोनों कारण स्वीकार किया गया है । इस प्रसंग को कुम्हार के उदाहरण द्वारा सुस्पष्ट किया गया है । यहाँ कुम्हार के उदाहरण द्वारा सुस्पष्ट किया गया है तथा कुम्हार एवं ईश्वर में ऐक्य प्रस्तुत कर वस्तु स्थिति को सरल बनाया गया है । किन्तु यहाँ शंका उपस्थित होती है कि यद्यपि कुम्हार अपने विचारों के प्रति उपादान कारण अवश्य है , किन्तु मृत्तिका , चाक प्रभृति वाह्य उपादानों के माध्यम से ही पात्र निर्माण करने में सफलीभूत होता है । यदि इसी प्रकार ईश्वर वाह्य उपादानों की सहायता से इस विश्व की संरचना करता है , ऐसी कल्पना की जाए तो ईश्वर के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं की भी कल्पना करनी पड़ती है तथा उसकी स्वतन्त्रता का विचार भी अनुचित है । अतः कवि भी स्पष्टतः ब्रह्मा की स्तुति के प्रसंग में उन्हें विश्व के प्रति उपादान एवं निमित्त दोनों कारण स्वीकार करते हुए देवताओं के मुख से अपने मत को अभिव्यक्त करता है --"हे भगवन् ! आपने विश्व की रचना में सर्व-प्रथम जल उत्पन्न करके उसमें ऐसा बीज आरोपित कर दिया है , जिससे एक पक्ष में पशु-पक्षी , मनुष्य प्रभृति चर जीव तथा द्वितीय पक्ष में वृक्ष पर्वतादि अचर जगत् की उत्पत्ति हुई ।[२]

१- योनिश्च हि गीयते--ब्रह्म सू० १-४२७, जगद्योनिरयोनिस्त्वं -- कुमार० २-९
२- यदमोघमपामन्तरुप्तं बीजमज त्वया ।
अतश्चराचरं विश्वं प्रभवस्तस्य गीयते ॥ -- कुमार० २-५

इस प्रकार कवि अभिमत ईश्वर निमित्त तथा उपादान दोनों ही कारण है उपादान भी उसकी अपनी ही सृष्टि है तथा कवि का संकेत है कि "जल जो ईश्वर की प्रथम रचना है उसी में बीजारोपण कार्य किया गया।" अतः ईश्वर विश्वरूप कार्य के प्रति उपादान तथा निमित्तकारण दोनों ही है।[1]

जगत् की सृष्टि एवं मुक्ति का स्वरूप

सच्चिदानन्द ब्रह्म लक्षण समन्वित ब्रह्म के विषय में तैत्तरीयोपनिषद् का कथन है कि आनन्दमय ब्रह्म द्वारा विश्वसृष्टिरूप की इच्छा सर्जनेच्छा है।[2] यह क्रिया ही सृष्टिकर्त्ता का मुख्य उद्देश्य है क्योंकि ईश्वर विश्वव्यापी है अतः सृष्टि के प्रत्येक वस्तु के अधिष्ठान में वह अपने लघुतम अथवा सूक्ष्मतम रूप में विद्यमान है तथा उसके कतिपय गुण चैतन्य, सौन्दर्य प्रभृति सर्वत्र प्राप्त होते हैं। जब वह ब्रह्म स्वगत कुछ गुणों को अपने सृष्टि में अनुभषित एवं प्रस्फुटित देखता है तो उसे पूर्णानन्द की अनुभूति होती है, यही सार्वभौतिक आनन्द है। रघुवंश के इन्दुमती स्वयंवर के प्रसंग में कवि सार्वभौमिक आनन्द की कुछ अनुभूतियाँ प्रकट करता है।[3] कवि का कथन है कि यदि ब्रह्मा इन दोनों मनोहर आकृतियों का संयोग न कराता, तब उसकी सृष्टि व्यर्थ हो जाती। ब्रह्म द्वारा निर्मित प्रत्येक जीव आनन्द की प्राप्ति के उत्सुक होता है क्योंकि ईश्वर के सृष्टि कार्य का मुख्य कारण आनन्द है। अतः ईश्वर के गुण आनन्द को जीव, जो ईश्वर का अंश है, वह भी आनन्द प्राप्त करने का

१- कुमार० २-६
२- आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आन्देन जीवानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्य-भिसंविशन्तीति। -- तै० ३-३-६
३- रघु० ७-१४

प्रयास करता है ।

सृष्टिकर्ता ईश्वर की प्रेरणात्मक शक्ति की अभिव्यक्ति ही सृष्टि है । अतः ईश्वर के स्वरूप के ज्ञान के लिए उसकी अभिव्यक्ति रूप जगत् के कार्यों को देखकर ही अनुमान किया जा सकता है । यदि ईश्वर में इस प्रकार कार्य-कारण सम्बन्ध की कल्पना न की जाए तब ईश्वर के स्वरूप की कल्पना असम्भव हो जाएगी तथा ईश्वर सर्वदा के लिए अमूर्त हो जाएगा , अतः उसका स्वतः चैतन्य स्वरूप गुण भी तिरस्कृत हो जाएगा । किन्तु भारतीय वेदान्त दर्शन में उसे स्वतः चैतन्य स्वरूप स्वीकार किया गया है । मूलतः ब्रह्म एक है , जो समस्त जड़ चेतन में वर्तमान बताया गया है । कालिदास ने भी सर्वव्यापक ब्रह्म के स्वरूप का चित्रण करते हुए उर्वशी के कथन में स्पष्ट किया है । विक्रमोर्वशीयम् के चतुर्थ अंक में कार्तिकेय के शाप से लतारूप में परिवर्तित होने तथा संगमनीय मणि के द्वारा पुनः अप्सरा रूप में परिवर्तित होने पर अपने शब्दों द्वारा लतारूप में प्राप्त अनुभवों को अभिव्यक्त करती है ।[1] ब्रह्मा की स्तुति में कवि प्रत्यक्षतः इस विचार को प्रस्तुत करते हैं ।[2]

अतः प्रकृतिवाद में जहां एक ही आत्मा मनुष्य, पशु वनस्पति तथा समस्त सृष्टि में व्याप्त माना गया है , वह निश्चय रूप से कालिदास को भी मान्य था । किन्तु यदि इसके लिए काव्य प्रमाण की आवश्यकता हो उर्वशी का कथन सर्वाधिक प्रामाणिक होगा जो उसने लता से पुनः अप्सरा रूप प्राप्त कर अपने अवस्था का चित्र अंकित किया है ।

१- एवमन्तःकरणप्रत्यक्षीकृतवृत्तान्तो महाराजः"
विक्रम० चतुर्थोऽङ्कः , पृ० २३६

२- प्रत्येकं विनियुक्तात्मा कथं न ज्ञास्यसि प्रभो । -- कुमार० २-३१

वास्तव में हिन्दुओं के पुनर्जन्म और आत्मोत्क्रमण की भावना के आधार पर यह तथ्य ऐसे अवसर का सामान्य अनुभव माना जा सकता है और इससे यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि प्रकृति के पदार्थ भी मनुष्यों के समान ही अनुभव कर सकते हैं और अपने विचारों का आदान-प्रदान कर सकते हैं ।[1]

अतएव सृष्टि सृष्टिकर्ता के स्वानुभवों के प्रस्तुतीकरण का मार्ग है तथा ईश्वर सर्वदा उसी सृष्टि रचना में लीन है । वह स्वयं ही उपादान एवं निमित्त दोनों कारण बनते हुए सृष्टि रचना कर रहा है और इस विचार का प्रस्फुटन प्रकृति के माध्यम से हो रहा है । अतः प्राणिजगत् तथा अचर जगत् में परस्पर क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ होती रहती है और नवीनतर नवीनतम रूपों की सृष्टि जगत् के विकास के साथ होती है , इसके साथ ही प्राचीन रूप ध्वंस होते जाते हैं । संहारण की प्रक्रिया से ही सृष्टि उच्च ध्येय के प्रति अग्रसित होती है , कालिदास स्वयं इसका अनुमोदन करते हैं ।[2] अतः ईश्वर मनुष्य के सम्मुख अपरिमित ज्ञानों का कोष खोल देता है । ईश्वर के मस्तिष्क में सृष्टि के पूर्व संघर्ष होता है क्योंकि ईश्वर अपनी रचना में पूर्ण सन्तुष्ट नहीं होता ।[3] अतः सृष्टि एक आन्तरिक संघर्ष है जिसके आधार पर सृष्टि में वैभिन्यता की प्राप्ति होती है । इसके अतिरिक्त संहरण सिद्धान्त स्वीकार करने पर "कल्प कल्पना" की संगति बैठती है , जिसका अनुमोदन करते हुए कालिदास का कथन है कि "जिस प्रकार प्रलय अवस्था में भगवान् समुद्र के बढ़े हुए जल को चीरते हुए बढ़ते हैं ।[4] इस प्रकार प्रत्येक सृष्टि ईश्वर की लीला है तथा क्रीडोपरान्त ईश्वर प्रलय

१- निसर्ग कन्या शकुन्तला । -- डॉ० एस० के० बेल्वलकर

२- मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः ।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ ॥ --रघु० ८-८७

३- प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः । कुमार० ३-२८

४- कल्पक्षयोद्वृत्तमिवार्णवाम्भः । -- रघु० ७-५६

कर पुनर्नवीन सृष्टि उत्पन्न कर नवीनता का अनुभव करता है ।

सृष्टि गत्यात्मक है अर्थात् वह गतिहीन नहीं प्रत्युत उसमें गति है । इसी कारणवशात् सृष्टि में प्रतिपल नवीनता की अनुभूति होती है तथा वह नीरस तथा व्यर्थ प्रतीत नहीं होती । वह मानव को अपने विभिन्न रूपों से क्षण-प्रतिक्षण आकर्षित करती है तथा मानव की भी उसके रूपों से क्षण-प्रतिक्षण नवीन सन्देश लेकर आती है तथा इसका अध्ययन कदापि एकरस नहीं , फलस्वरूप मानव को नीरसता की भावना प्रतीत नहीं होती । ईश्वर का क्षेत्र अति विस्तृत है क्योंकि उसका क्षेत्र आज भी अवरुद्ध नहीं । इसका प्रमाण इतिहास है, अतः विश्व को अचल नहीं कहा जा सकता है ।[1] कवि के श्लोकों में प्राप्त भाव के द्वारा ज्ञात होता है कि ईश्वर के कुछ गुणों का अनुमान उसके गुणों द्वारा कृत सृष्टि से ज्ञात हो जाता है । सृष्टि का एक कल्प ईश्वर के एक दिवस को समान है[2] अतः यह स्वयं में पूर्ण नहीं प्रत्युत ईश्वर पर पूर्णतया आधारित है । वह ईश्वर के उद्देश्य में परिपूर्ण होने में सहायक है । इसका उद्देश्य मात्र सृष्टि के माध्यम से अपने विचारों को प्रस्तुत करना है अतः वह स्वार्थ-वशात् अथवा करुणाभाव से सृष्टि नहीं रचता है ।[3]

कालिदास ने कर्मवाद एवं जन्मान्तर का उल्लेख प्रायः किया है । सर्वगुण सम्पन्न ईश्वर जन्म लेकर पृथ्वी पर अवतार रूप में आता है । ईश्वर के अवतार की कल्पना का मुख्य कारण कवि के विचारानुसार अनुग्रह है । ईश्वर पूर्ण आप्तकाम व्यापक

१- प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादि महिमा तव ।
आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा । -- रघु० १०-२८
२- यौ तु स्वप्नावबोधौ तौ भूतानां प्रलयोदयौ ॥ -- कुमार० २-८
३- कुमार० ६-२६

आदि समस्त गुणों से संयुक्त है अर्थात् उसे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं । अतः उसके अवतार का उद्देश्य मानव को मुक्ति का मार्ग प्रदर्शन करना है । उसने इस उद्देश्य के लिए जिस मार्ग का अवलम्बन किया है वह आध्यात्मिक, ब्रह्मचारी अथवा तपस्वी सम्मत नहीं, प्रत्युत इहलौकिक सुख एवं क्रियाओं से युक्त है । ईश्वर द्वारा प्रदर्शित मार्ग ही सभी द्वारा अनुसरणीय है अन्यथा कवि का कथन है कि "जो दुष्ट व्यक्ति है वे उन महात्माओं के अनूठे कार्यों को अनुचित बताते हैं, उन्हें ईश्वर को पहचानने की योग्यता नहीं ।"[१] शिवा-शिवा के विवाह द्वारा कवि का अभीष्ट संकेत है कि इहलौकिक सुख एवं आनन्द के भोग के साथ भी मनुष्य जीवन की कारा से मुक्ति प्राप्त कर सकता है । जब ऋषिगणों ने इस तथ्य को स्वीकार कर लिया तब विवाह एवं गृहस्थाश्रम स्वीकार कर उसीके माध्यम से मुक्ति की कामना करते हैं ।[२] ईश्वर के स्वरूप ज्ञान के लिए जगत् माता का यथार्थ रूप ज्ञात करना आवश्यक है । ऋषिगणों द्वारा हिमालय के सम्मुख विवाह प्रस्ताव रखते कहा गया है--"महादेवजी संसार के पिता है, अतः उमा भी संसार के चर और अचर समस्त प्राणियों की माता बन जाएगी तथा इतनी पूजनीय बन जाएगी कि देवतागण महादेव को प्रणाम कर अपने शिर पर स्थित मणियों की किरणों से उमा के चरण रंग करेंगे ।"[३] इसके अतिरिक्त वरागमन वेला में शिव ने किरात, दिव्य माताएँ, देवी काली सभी को आमन्त्रित किया है ।[४] विवाहोपरान्त दाम्पत्य जीवन का सजीव चित्र प्रस्तुत कर मानव जीवन के

१- कुमार० ५-७५
२- कुमार० ६-३४
३- कुमार० ६-८०
४- कुमार० ७-२९,३८

सम्मुख आदर्श रखता है ।[1] शिव ने उमा को अपने अर्धांग में स्थापित किया था अतः वे अर्धनारीश्वर भी कहे गए हैं । उनका प्रणय विस्मरणीय नहीं । कवि ने ईश्वर के इन स्वरूपों -- विवाह प्रणय आदि के द्वारा सांसारिक विषयवासनाओं को प्रश्रय देता है । उनका अपना महत्त्व है । उमा के तप से प्रभावित शिव उमा से मिलने के लिए अत्यधिक उत्सुक है ।[2] कवि ने ईश्वर की कामपरवता को उल्लिखति करते हुए संकेतित किया है कि सामान्य मानव द्वारा इन विचारों पर विजय प्राप्त करना अथवा इनकी व्यर्थता सिद्ध करना वास्तविकता को अस्वीकार करना है । कवि की दृष्टि में यह जगत् ईश्वर की मनोहर एवं रमणीय कृतियों का समूह है ।[3] ईश्वर ने अपने प्रसाद एवं सौन्दर्य को इस सृष्टि में समन्वित किया है एवं इनके भोग के लिए चराचर विभिन्न जीवों को इन्द्रिययुक्त किया है । उसकी सर्वोत्तम सृष्टि तर्कशास्त्र प्रवीण , बुद्धियुक्त मनुष्य है । विभिन्न पदार्थों के भोगार्थ कर्ण, चक्षु , त्वक् , घ्राण तथा रसना ज्ञानेन्द्रियों के सम्यक् उल्लेख कवि की रचनाओं में प्राप्त है । कवि की रचनाओं का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि सांसारिक सुख ही सर्वोत्तम है तथा भौतिक जगत् ही उनके विचार में सत्य है । मनुष्य के भौतिक सुख के लिए ही विश्व की वस्तुओं का निर्माण हुआ है , किन्तु यह विचार कि कवि का क्षेत्र मात्र ही था , अनुचित है । कवि ने वस्तुतः काव्य एवं दर्शन का समन्वय कर अपनी रचना में गूढ़ संकेत प्रदान किया है । कवि अवश्यंभावी नश्वर सुख की कामना नहीं करते , अतः उनका अभीष्ट ऐहिक सुख नहीं

१- कुमार० ५-७५
२- कुमार० ६-९५
३- सृष्टि ललितां विधातुं ।
-- रघु० ६-३७

हो सकता , रघुवंश के अष्टम सर्ग में कवि ने जीवन की नश्वरता का स्पष्ट संकेत किया है ।[1] अतः मानव शरीर की प्राप्ति तथा सर्वोत्तम भोग ही मनुष्य का उच्चतम ध्येय नहीं । इसके विपरीत यह मनुष्य का लाभप्रद अवस्थाओं को प्राप्त करने का माध्यम है । जीवन तथा भौतिक सुख की सत्ता अवश्य है , किन्तु ये मनुष्य का अन्तिम ध्येय नहीं बन सकते , मनुष्य उसकी कामना करता है तथापि वह उसका दास नहीं प्रत्युत स्वामी है ।

अतः कवि ने रमणीय रूप में इसभ्भुक्ति-मुक्ति का समन्वय किया है । एक पक्ष में कवि भौतिक सुख सम्पदा एवं भोग-विलास का रमणीय चित्र अंकित करता है वहीं दूसरी ओर तात्विक विषयक उपरति की भावना को उल्लिखित करता है । उसने भौतिक जीवन के आसक्ति पथ के मध्य से अनासक्ति पथ को स्वीकार करने का आदेश दिया है । कवि को यह भलीभाँति स्पष्ट है कि विश्व की समस्त भौतिक वस्तुएँ सत्य प्रतीत होते हुए भी जीवन के चरम उद्देश्य आत्मा का ज्ञान तथा परमात्मा की प्राप्ति में पर्याप्त नहीं । वह अस्थाई होने के कारण उनका नाश अवश्यंभावी है अतः स्थाई तत्व का अन्वेषण आवश्यक है । इसी उद्देश्य को सम्मुख रखते हुए महर्षि रघु मुक्ति प्राप्ति के लिए योगियों के साथ शास्त्र चर्चा में लीन रहने लगे ।[2] कवि को विचार में धन की प्राप्ति मुक्ति के मार्ग में रुकावट नहीं किन्तु वह निष्काम कर्म पर बल देता है । अज एवं रघु के एकत्र वर्णन कवि ने इन विचारों को स्पष्ट किया है । नृपति रघु के राज्याभिषेक प्रसंग में कवि का कथन है कि रघु ने राज्य को पिता की आज्ञा मानकर

१- धिगिमां देहभृतामसारताम् । --रघु० ८-५१
२- रघु० ८-१७

स्वीकार किया था , भोग की इच्छा से नहीं ।[1] अतः रघु ने मात्र कर्त्तव्यभाव से नृप के समस्त कार्यों को सम्पादित किया , जिसमें लेशमात्र भी आसक्ति नहीं थी । अतः अनासक्त कर्म के कारण उनके कर्मों द्वारा कर्मफल उत्पन्न न हो सके , जिसके भोग के लिए उन्हें जन्मान्तर की प्राप्ति करनी पड़ती । नृप अज ने भी इसी प्रकार निरासक्त रूप से राज्य कार्य भार ग्रहण किया था । नृप रघु के सन्यास ग्रहण तथा ऐश्वर्यशाली नृप का दर्शन कर प्रजागण ने यह समझा कि मोक्ष एवं ऐश्वर्य देनेवाले धर्म के दो अंश पृथ्वी पर चले आए हैं ।[2] अतः कालिदास कर्म की व्यर्थता स्वीकार नहीं करते , उनके विचारानुसार यह विश्व कर्मभूमि है, अतः कर्म की महत्ता वह जानते हैं । कर्त्तव्य रूप में कर्म अनुशासन को प्रश्रय देता है अर्थात् कर्म सम्पादन में नियमितता आती है , मस्तिष्क सुदृढ होता है तथा ध्यानावस्थित होकर ब्रह्म की अनुभूति होती है , इसी परमतत्त्व की प्राप्ति के इच्छुक अज तथा रघु दोनों हैं ।

कालिदास ने धर्म के प्रति आस्था सर्वत्र प्रदर्शित की है । धर्म के साथ ही साथ विविध प्रकार के दैनिक पूजन कर्म का भी आदेश दिया है । धर्म के सम्मुख अर्थ एवं काम को कोई महत्त्व नहीं क्योंकि उमा के सम्मुख ब्रह्मचारी ने इन्हीं विचारों को प्रकट किया है ।[3] कर्म के प्रति आध्यात्मिक , बौद्धिकतापूर्ण दृष्टिकोण तथा कर्त्तव्यनिष्ठा की अग्नि में ही धन एवं कामना दग्ध होते हैं । यह जीवन की नश्वरता को समझ सकता

१- तदुपस्थितमग्रहीदजः पितुराज्ञेति न भोगतृष्णया । -- रघु० ८२

२- न नवः प्रभुराफलोदयात्स्थिरकर्मा विरराम कर्मणः ,
न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरा परमात्मदर्शनात् ॥ -- रघु० ८-१६

३- कुमार० ५-३८

है । इन्दुमती मृत्यु के प्रसंग में कवि ने मृत्यु की विशद विवेचना की है ।[1] इससे ज्ञात होता है कि विषय मूढ़ एवं विद्वान् दोनों के लिए सत्य है किन्तु दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर है । सृष्टि की प्रक्रिया विषयक ज्ञान की प्राप्ति व्यक्ति को हठात् नहीं प्रत्युत शनैःशनैः होता है । अतः निरासक्त कर्म द्वारा कर्म के बन्धन छिन्न होते हैं तथा पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति प्राप्त होती है और अपवर्ग की प्राप्ति होती है । अतः इन्द्रियों के संयम द्वारा ही व्यक्ति मुक्ति के प्रति उन्मुख हो सकता है । जिन व्यक्तियों की इन्द्रियां भोग के प्रति अत्यधिक उन्मुख हैं उनके लिए हठात् एवं आकस्मिक ही उन पर से अपनी अभिरुचि समाप्त कर लेना असम्भव है । अतः उन पर निरन्तर कठोर दृष्टि रखनी आवश्यक है कि अनुचित पथ पर अग्रसरित न हों अथवा उचित पथ से विचलित न हों । इन्द्रियों की सन्तुष्टि आवश्यक है किन्तु व्यक्ति को उनका दास नहीं बनना चाहिए । क्षणिक संकेत पर इन्द्रियों का स्तर निम्न से निम्नतर निम्नतम होता जाएगा , उसका पतन अवश्यंभावी है । अतः उन पर अत्यधिक संयम आवश्यक है । अज एवं रघु दोनों ही इन्द्रियों पर संयम प्राप्त कर मुक्ति को प्राप्त किया था ।[2]

इन्द्रियों के संयम द्वारा मनुष्य के रजोगुण की प्रधानता भी समाप्त हो जाती है । रजोगुण के कारण ही इन्द्रियां विषयों के प्रति उन्मुख होती हैं तथा भोग की पराकाष्ठा नहीं , अतः मनुष्य कदापि सन्तुष्ट नहीं रहता तथा उसका मस्तिष्क क्वचित् स्थिरता को प्राप्त नहीं करता , उसे सुख और दुःख दोनों की अनुभूति होती है ,

---

१- अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम् ।
स्थिरधीस्तु तदेव मन्यते कुशलद्वारतयासमुद्धृतम् ॥ -- रघु० ८-८८

२- इति शत्रुषु चेन्द्रियेषु च प्रतिषिद्धप्रसरेषु जाग्रतौ
प्रसितावुदयापवर्गयोरुभयीं सिद्धिमुभाववापतुः ॥ -- रघु० ८-२३

और उसकी प्रज्ञा आवृत्त हो जाती है , फलस्वरूप वह उचित पथ का अनुगमन नहीं कर सकता ।[1] अतः मनुष्य को उच्चतर ध्येय की प्राप्ति के लिए वस्तुओं पर सम्यक् दृष्टि रखनी आवश्यक है , इस प्रकार इन्द्रिय संयोग द्वारा सत्त्व गुण उद्भवित होता है , जो बुद्धि का गुण है । कवि भी इस विचार से अनुप्राणित है । सृष्टिकर्त्ता अपनी अभिव्यक्ति रूप जगत् के द्वारा मानव को भोग के माध्यम से आध्यात्म शक्ति प्राप्त करने का आदेश देता है , इस प्रकार के दिव्य दृष्टि युक्त योगी की दृष्टि सामान्य व्यक्तियों से उच्च हो जाती है , वह लोभ-मोह , उच्च नीच के भेद की वृत्ति से परे हो जाता है । रघु इसी प्रकार के व्यक्ति थे , उसने समस्त कर्मों के बन्धन का नाश कर लिया था , अतः उसको किसी विषय के प्रति आकर्षण नहीं था । उनकी मृत्यूपरान्त अज द्वारा सम्पादित श्राद्ध कर्म उसके लिए व्यर्थ है क्योंकि वह समदर्शी थे । वह जीवनमुक्त थे अतः किसी भी क्षण परमात्म दर्शन उनके लिए सम्भव था ।[2] उस अवस्था में वह सत्त्वगुण प्रधान अवस्था में रहते थे तथा ईश्वर के स्वभाव आनन्द से युक्त थे । यह आनन्द ही समस्त कलाओं का सार है , कालिदास ने भी इस सिद्धान्त का अनुमोदन किया है ।[3] गीता के चतुर्थ अध्याय में रूपक द्वारा विभिन्न यज्ञों का उल्लेख प्राप्त होता है[4] किन्तु वहाँ नाट्य को यज्ञ से उपमा नहीं दी गई है । यह

१- रघु० ९-२४
२- रघु० ८-२१, २४, २६
३- देवानामिदमामन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषम् । -- मालविका० १-४
४- यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥
-- गी० ४-३१

नाट्य कल्पना कालिदास ने सम्भवतः नाट्यशास्त्र से ली है । अस्तु, कालिदास ने चाक्षुष यज्ञ अथवा क्रतु का व्याख्यान किया है । गीता में यज्ञ को ब्रह्म प्राप्ति का साधन बताया है , साथ ही साथ निष्काम कर्म और ईश्वर पर फल अर्पण करने का आदेश दिया गया है ।[1] गीतानुसार यज्ञार्थ कृत-कर्म द्वारा बन्धन नहीं होता अतः उसी प्रकार का कर्म मनुष्य द्वारा करणीय है , अतः कर्म के विभिन्न स्वरूपों को रूपक द्वारा यज्ञ से तुलना की जा सकती है , जहाँ घृत के साथ ही साथ कामनाओं एवं भावों की भी बलि देनी चाहिए । अतः यज्ञ मात्र अग्नि में द्रव्य त्याग नहीं , प्रत्युत मनुष्य के अहंकार , इच्छा कामना सभी का त्याग है । इसी प्रकार के व्यक्ति जिनके कर्म दग्ध हो गए हैं , वह समस्त कार्यों को कर्त्तव्य रूप में सम्पादित करता है तथा उसके कर्म से फल उत्पन्न नहीं होता जिसका भोग आवश्यक हो , अतः उसे आध्यात्मिक संतोष हो जाता है तथा बुद्धि स्थिर हो जाती है । आनन्द अथवा सत्त्वगुण ही प्रधान हो जाता है तथा उसे सर्वत्र आनन्दानुभूति होती है ।

कालिदास ने भी यज्ञ के इसी स्वरूप को चित्रित किया है । रघु के प्रसंग में कवि का कथन है कि नृपेशं रघु ने दिग्विजय के विश्वजित् अध्वर में समस्त राज्य-कोष दान कर दिया , क्योंकि विजय द्वारा प्राप्त समस्त धनराशि के प्रति उसे किसी प्रकार की आसक्ति न थी , अतः कौत्स मुनि का स्वागत मृण्मय पात्र से किया था । रघु के अनासक्त विचार को कवि इसके पश्चात् भी चित्रित करने के लिए कौत्स ऋषि द्वारा चतुर्दश कोटिश सुवर्ण की याचना , रघु का कुबेर पर आक्रमण विचार , कुबेर

१- गी० ४-२६, ३-९

द्वारा सुवर्ण का खण्ड प्रदान करना आदि घटनाओं की कल्पना करता है । जिस व्यक्ति ने इन्द्रियों पर संयम कर लिया है , उसके लिए विश्व की किसी भी वस्तु की प्राप्ति सुलभ हो जाती है । उसके लिए किसी पर विजय की आवश्यकता नहीं , उसने पराक्रमी इन्द्रियों पर ही विजय प्राप्त कर ली है । इसी कारण कवि युद्ध के अभाव में ही कुबेर द्वारा सुवर्णखण्ड प्रदान करने का संकेत देता है । रघु पूर्ण काम है तथा ऐहिक सुख प्राप्ति के स्तर से पर्याप्त ऊंचा है । रघु के विश्वजित् यज्ञ द्वारा कवि का संकेत धन सम्पदा के प्रति उदासीन रहकर अपना कार्य-सम्पादित करते हुए मुक्ति की प्राप्ति है । कवि ने यहाँ उत्कृष्ट रुपक का प्रयोग किया है ।[1]

"मालविकाग्निमित्रम्" में प्राप्त क्रतु शब्द भी उल्लेखनीय है । कवि निश्चयतः ही नाट्यकला को यज्ञ के प्रकाश में व्याख्यायित करता है । कला की उपमा कवि यज्ञ से होता है । अतः कला भी सौन्दर्य एवं प्रसाद का अन्वेषण करती है ।[2] किन्तु विश्व के समान कला भी नश्वर है ? सामान्य मनुष्य के लिए कला नश्वर है किन्तु कलाकार इसी कला के माध्यम से आध्यात्म जगत् का निर्माण करता है तथा हृदयस्थ आत्मतत्त्व को पहचानने का प्रयास करता है । उसकी कला सृष्टि काल-देश से बद्ध नहीं , उसका हृदय भाग्य से वाधित नहीं , उसकी सृष्टि पूर्णतया आध्यात्मिक हो जाती है ।

१- रघु० ५-१,२,२६,२७,३०,३२, ३४

२- The seenery of his works is a universal paradise of beautiful things. All there in obeys one law of earthy grace, morality is aestheticised intellect suffused and governed with sense of beauty".
AK P. 22

कालिदास ने श्रेष्ठ कलाकार के रूप में विश्वसृज् (विश्व का स्रष्टा, विधाता) को ही देखा है किन्तु विश्वसृज् की कलारचना की प्रक्रिया के व्याज उन्होंने श्रेष्ठ मानव कलाकार के गुणों का उल्लेख किया है । वस्तुतः वे विधाता की सृष्टि को एक उत्तम कलाकार की कलाकृति ही मानते हैं । यद्यपि विधाता विभु या परम समर्थ है और मनुष्य उसकी तुलना में बहुत कम समर्थ प्राणी , किन्तु विधाता को भी मनुष्य के समान श्रेष्ठ रचना के लिए प्रयत्न करना पडता है , समाधि की अवस्था में पहुंचना पडता है , चित्त को सत्वस्थ करना पडता है । तभी वह सुन्दर सृष्टि कर सकता है । कवि अनायास ही मानव कलाकार के उपकरणों को विधाता के उपकरणों के साथ-साथ रख सकते हैं । पार्वती के बाल्यकाल के चतुरस्र या सपाट शरीर को नवयौवना ने ऊँचा नीचा करके विभक्त कर दिया ।[1] कालिदास दो उपमानों का प्रयोग करते हैं -- विधाता की सृष्टि (प्रकृति) से लिया गया और मानव कलाकार की सृष्टि (संस्कृति) से जब विधाता कमल के मुंदे पुष्प में विभेद लाना चाहता है और मानव कलाकार जब चित्र में विभेद या उभार पैदा करना चाहता है तो तूलिका की सहायता लेता है । दोनों उपमानों को समान मर्यादा देने में कालिदास को कोई हिचक नहीं । मालविकाग्निमित्र में कवि ने सृष्टिकर्त्ता के कलाकार पक्ष को स्पष्ट किया है । ईश्वर सृष्टि की व्यक्त कर रहा है और विश्व रूप नाटक में नट के समान उमा-सहित अभिनय कर रहा है । कोमलमना अरविन्द ने अपनी रचना में इन भावों को इस----------------

१- उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम् ।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥
-- कुमार० १-३२

इस प्रकार स्पष्ट किया है ।[1]

इसी सृष्टिकर्त्ता के ज्ञानकोष से एक कण लेकर कलाकार अपनी प्रतिभा को प्रस्तुत करता है तथा अपनी कल्पनाओं के सागर में निमज्जित होता रहता है । इन्हीं कल्पनाओं को नवीन रंग रूप प्रदान कर उसे विस्तृत एवं आकर्षक बना देता है तथा कालिदास ने शिव-शिवा के सम्मिलन को अपनी सरल , माधुर्यपूर्ण वैदर्भी शैली में अतीव रोचकता के साथ प्रस्तुत किया है ।

गुणत्रय के परिणाम स्वरूप जगत् को सृष्टिकर्त्ता, जिस प्रकार मानव की रुचि भी भिन्न रुच्यात्मक होती है , तथापि वह विभिन्न रुचिवाले व्यक्तियों की आवश्यकता को उसी प्रकार सन्तुष्ट करती है । यह सन्तोष एक अपरिसीमित आनन्द को अभिव्यक्त करता है ।

कविश्रेष्ठ ने मुक्ति एवं मुक्ति का समन्वय अपनी रचना में किया है । उनके विचारानुसार भोग द्वारा ही समस्त कामनाओं का नाश हो सकता है , संयम द्वारा नहीं । अतः कामनाओं का भोग द्वारा नाश अपेक्षित होने के कारण सांसारिक जीवन स्वीकार करना आवश्यक है । इसी कारण कालिदास जीवन के प्रारम्भिक काल में ही योगी जीवन अथवा तप आदि का उल्लेख नहीं करते , गृहस्थाश्रम की महत्ता वे

१- "............the concretisation of the idea of Purusa-Prakrti, the Union of Iseara and Sakti.....the central idea of this great unfinished poem the marriage of Siva and Parvati, typified in its original idea the Inion of Purusa and Prakrti, the supreme soul and dynamics nature by the world is created; but this type of divine legend was used, isoterically to fypify also the nature souls search for and attainment of God and some thing of this conception pierces through the description of Parvati's seeking after Siva. P. 23-24.

स्वीकार करते हैं । उपनिषदों में अपवर्ग के लिए सांसारिक सुख भोग तथा ऐश्वर्य के प्रति विरक्ति आवश्यक एवं अनिवार्य है । वस्तुतः विश्व दुखमय हेय एवं एकान्ततः परित्याज्य है । कालिदास उपनिषदों के दर्शन को स्वीकार नहीं करते , इसके विपरीत वे वैदिक दर्शन को स्वीकार करते हैं जो विश्व को रहने की वस्तु मानता है , त्याज्य नहीं । दुःख द्वन्द्वों के समान समस्त सुख शान्ति , सौन्दर्य एवं आनन्द समस्त इसी विश्व में विद्यमान है । कर्मफल की आकांक्षा का परित्याग कर भगवदर्पण बुद्धि से यावज्जीवन शुभ कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए , यही भक्तियोग है , जिसकी भूयशः अभिव्यक्ति कुलश्रेष्ठ द्वारा ही की गई है ।[1] इसी प्रकार की कुछ पंक्तियाँ गीता और कठोपनिषद् में भी प्राप्त है ।[2] वैदिकाधार[3] पर संगम में स्नान द्वारा मुक्ति की कल्पना कवि करता है ।

ब्रह्मविषयक चिन्तन से ज्ञात होता है कि कालिदास का ब्रह्म निर्गुण-सगुण अथवा शिवशक्ति रूप है । मनुष्य के स्थान पर उसके वाह्य एवं अन्तः को समझा जा सकता है । ये दो देवता नहीं प्रत्युत एकमात्र ब्रह्म है । ध्यानावस्थित योगी ब्रह्म के स्वतः चैतन्य प्रकाश रूप तथा अभिव्यक्त जगत् को आध्यात्मिक ज्ञान तथा दिव्य शक्ति के द्वारा क्षणिक रूप से देख पाता है । किंतु ब्रह्म के गत्यात्मक पक्ष अर्थात् जगत् को पूर्णतया अध्ययन किया जा सकता है । इस प्रकार ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान हो सकता है ।

१- रघु० १०-२७ एवं गीता १२-६,७

२- यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञानं आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥ --कठ०

३- रघु० १२-५८

कला सौन्दर्य का सर्जन करती है तथा विश्वस्थ विषयों की सहायता द्वारा इसके अन्वेषण में लीन रहती है । जिस व्यक्ति ने विश्व को दुःखमय , कण्टकमय , क्षणभंगुर समझ रखा है तथा सर्वदा मुक्ति चिन्तन में लीन है , उनके लिए सौन्दर्य का सन्देश व्यर्थ है । अतः जो सौन्दर्य प्रेमी व्यक्ति विश्व की भौतिक वस्तुओं के प्रति कोमल भावनाएँ रखता है , कला के सौन्दर्य का सन्देश उसके लिए लाभप्रद है । जिस हृदय ने जगत् की वस्तुओं से मुख मोड़ लिया है तथा वेद के नियमित पाठ द्वारा जिसके हृदय का रसस्रोत शुष्क हो चुका है वह विश्व की वस्तुओं में सौन्दर्य सर्जन करने में असमर्थ है । उर्वशी के अनिन्द्य सौन्दर्य के निर्माता की कल्पना मनोहर रूप में प्रस्तुत करता है । कवि का कथन है कि "वेद पढ़कर जड़ बुद्धिवाले तथा भोग-विलास से परे रहने वाले वृद्ध ऋषि किस प्रकार अनुपमेय रूप उत्पन्न कर सकता है" क्योंकि सहृदयता जो सौन्दर्य बोध के लिए आवश्यक है , उसकी पूर्णतया कमी ब्रह्मा में है कवि इस उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि विश्वगत वस्तुएँ स्वयं अपेक्षित उपादानों को संचित कर विश्व की सुन्दरतम वस्तु प्रस्तुत करने में सफल है । इस प्रकार निर्माता का हृदय वस्तु के प्रति बद्ध होता है , इस सामंजस्यद्वारा समस्त विश्व के निर्माता से तादात्म्य स्थापित करता है । ब्रह्म की कोमल भावनाएँ यथा प्रेम , करुणा आदि अपने को अभिव्यक्त करने का प्रयास करती है , फलस्वरूप ब्रह्म इस सर्जनात्मक विश्व का निर्माण करता है , जिसमें कला का प्राधान्य है , जिसमें कवि अथवा सहृदय व्यक्ति के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति प्रविष्ट नहीं हो सकते , यद्यपि वह अत्यधिक विद्वता से युक्त भी क्यों न हो । क्योंकि विद्वज्जन कल्पना के जगत् को सहृदयतापूर्वक न देखेंगे , उनका ज्ञान एवं चिन्तन इनसे परे है । इसके अतिरिक्त कवि एवं ब्रह्म के सृष्टि में पर्याप्त अन्तर भी है । ब्रह्म किसी नियम के आधार पर

सृष्टि निर्माण करेगा यथा सूर्योदय तथा कमलोदय का सामंजस्य । किन्तु कवि के क्षेत्र में नियम की आवश्यकता नहीं , उसका अभीष्ट सौन्दर्य का वर्धन मात्र है , अतः कवि चन्द्रमा तथा कमल का भी युगल निर्मित कर सकता है । अतः ललनाललामभूता उर्वशी के मुख कमल निर्माण में कवि सुखदायक चन्द्रमा को ही ब्रह्मा रूप में आरोपित किया है अथवा शृंगाररस के देवता कामदेव ने इसका निर्माण किया होगा अथवा ऋतुराज वसन्त ने रचा होगा ।[1] अन्यथा उसके अनिन्द्य रूप का क्या कारण हो सकता है क्योंकि वेदपाठ के कारण अरसिक वृद्ध तपस्वी द्वारा किस प्रकार अप्रतिहत सौन्दर्ययुक्त मुख की रचना सम्भव है ।

कवि के विचारानुसार ईश्वर समस्त सौन्दर्ययुक्त है तथा पूर्णानन्द से समन्वित है । इस सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने का एकमात्र साधन शब्द है , जिसके द्वारा कवि ने कल्पना के रूपहले तारों द्वारा नवीन जगत् का निर्माण किया है । यदि शब्दार्थ रूप अथवा नामरूप जगत् न होता , कल्पनाओं की क्रीड़ाएँ असम्भव हो जाती अथवा उनकी सम्भावना यदि किसी प्रकार की भी जाए तथापि कवि की अभिव्यक्तियों का आनन्द प्राप्त करने में हम असमर्थ रहते अतः कवि शब्दों के माध्यम से कल्पना की सहायता द्वारा विश्व की वस्तुओं का रमणीय चित्र चित्रित करता है । जिस प्रकार ईश्वर प्रकृति से समन्वित होकर विश्व की रचना करता है , उसी प्रकार कवि भी शब्द एवं

१- अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः ,
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतुहलो ,
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ।
-- विक्रम० १-१०

अर्थ के समन्वय द्वारा सम्पूर्ण कलात्मक जगत् का निर्माण कर रहा है । शब्दों का कोष और अर्थ सर्वदा शिव पार्वती के समान सम्पृक्त है । रघुवंश का प्रथम श्लोक इस दृष्टि से विवेचनीय है , जो कवि की रचनात्मक सृष्टि का मूल आधार है । कवि यहाँ अर्धनारीश्वर तथा पार्वती का नमन करते हुए कहते हैं --"वाणी एवं अर्थ यथा भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हुए भी एक है , उसी प्रकार मूलतः एक उमा-शिव दो प्रतीत होते हैं । अतः वाणी एवं अर्थ को स्वीकार करने , उन्हें भली प्रकार समझने तथा व्यवहार के लिए मैं विश्व के माता-पिता पार्वती और शिव को प्रणाम करता हूँ, जो शब्दार्थ के समान एक रूप हैं ।"[१]

इसी श्लोक से प्रेरणा लेकर कवि ने अपनी मौलिक कल्पनाओं के आधार पर विश्व सृष्टि का स्वरूप चित्रित कर मध्यम पथ का अनुगामी बनता है । वह विश्व से पूर्णतया अनासक्त होकर परलोक चिन्तन में तन्मय नहीं होता । इसके विपरीत सौन्दर्य का अन्वेषण कर यह ज्ञात करने का प्रयास करता है कि सौन्दर्य एवं कला जीवन के आनन्द के साथ-साथ आत्मोन्नति किस प्रकार हो सकती है । वह सौन्दर्यात्मक बोध के साथ-साथ कलापक्ष के माध्यम से ही दर्शन के गूढ़ विषयों को सरलतापूर्वक स्पष्ट कर मानव को मुक्ति के प्रति उन्मुख करता है । महामना श्री अरविन्द ने अपनी रचना

१- वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।
-- रघु० १-१

"कालिदास" में इसी प्रकार के कुछ शब्द कहे हैं ।[१]

मेघदूत में वेदान्त तत्व

मेघदूत कालिदास की रसोद्गारि गिरा का सर्वोत्कृष्ट प्रसाद है । वह प्रकृति सुन्दरी का किल-किञ्चन मात्र नहीं वरन् इसकी रचना में कवि का विराट उद्देश्य अन्तर्निहित है तथा वह विराट उद्देश्य है -- मुक्ति और मुक्ति के साथ प्रीति समन्वय जिसका विराट संकेत है -- शिवपुरी अलका में कामरूप पुरुष का सन्देशवाहक बनकर जाना । काम तथा मोक्ष दोनों परस्पर विरोधी तत्व हैं , तथापि मेघदूत में दोनों का सामंजस्य चित्रण इस काव्य के कवि की मौलिकता की महत्ता का सुवर्ण संकेत है । काम पंक से च्छित पंकज को ऊर्ध्वमुखी करने के लिए शिव की साधना अपेक्षित नहीं है क्योंकि कामाधीन व्यक्ति ज्योतिष्पथ के द्वार तक नहीं पहुँच सकता । अथ च बिना शिव की उपासना के कामद्वार से उद्धार पाना कठिन है । कामानल की लपटों को सहन करने की शक्ति किसी इन्द्रिय देवता में नहीं । यदि स्वयं शिव कामविष की ज्वाला का पान न करें तो समग्र इन्द्रिय देव उसकी लपटों में झुलस कर भस्मावशेष हो जाएंगे ।

१- "The prophet of a hedonistic civilization here seizes with no uncertain hand on the matericals of his work. A vivid and virile interpretation of sense life in nature a similar interpretation of all elements of human life cabable of greatness or beauty seen under the light of the senses and expressed in the terms of an aesthetic appreciation this is the spirit of Kalidasa's first work as it is of his last"

A.K. P. 50

मानव शरीर में जब आसुरी वृत्ति उद्दीव होती है तब उसके शरीर स्थित जलतत्त्वात्मक रेत गरल ज्वाल बनकर इन्द्रियों के तेज को क्षीण हीन कर देता है । अतएव एकमात्र शिवोपासक ही आसुरी वृत्तियों के दमनार्थ अपने रेत (जल) को अमृततत्त्व में परिणत कर अपनी इन्द्रियों को ओजस्वी, तेजस्वी तथा ब्रह्मवर्चस्वी गुणों से सम्पन्न बनाने में समर्थ होता है । कामदेव का समस्त व्यक्तित्व आपाततः भोगप्रधान है , महाराज है, महा~~योगी~~शून्य है । काम की त्रिभुवनातिय निरंकुशता के निर्मूलन के लिए मदनान्तक ही एक समर्थ देवता है ।

मेघदूत की स्थूल कथावस्तु में कालिदास ने अतीव निपुणता के साथ शिव की स्थापना की है । मेघदूत में हिमालय , कैलास तथा उज्जयिनी के वर्णन प्रसंग में कवि ने महादेव परिवार का सांगोपांग और चमत्कारपूर्ण चित्रण किया है । उज्जयिनी में महाकालेश्वर के पुण्यधाम का वर्णन अद्भुत है । मेघदूत में शिव के शितिकण्ठत्व गुण सद्योहत गजासुर के चर्म परिधान के साथ उनका नृत्य और अट्टहास उनके प्रमुख आयुध त्रिशूल , प्रमुख आभूषण सर्प , जटाओं में कल्लोलित गंगा और पार्वती के साथ पत्नीत्व , गौरी विहार , कुबेर मैत्री , किन्नरियों के यशोगान प्रभृति का विशद वर्णन है । शिव का ही आंयादिव्य तेज हुतवह मुख में संचित होकर कुमाररूप में प्रगट होता है तथा इन्द्रियों की सात्त्विक एवं तामसिक वृत्तियों का द्वन्द्व ही देवासुर संग्राम है ।

देवप्रार्थना पर द्रवीभूत होकर शिव मदन दहन करते हैं तदनन्तर पार्वती के साथ विवाह कर षडानन कुमार के सृष्टिकर्त्ता बनते हैं । मदन दहन शिव से इसलिए किया क्योंकि वे योगी थे । योगशास्त्रों में वर्णित षट्चक्रों में पंचचक्रों की

सिद्धि के उपरान्त योगी कामेच्छा पर विजय प्राप्त कर लेता है । रूप तथा सौन्दर्य का प्रलोभन उसके चित्त से निर्गलित हो जाता है । पष्ठ अर्थात् आज्ञाचक्र से ऊपर पहुँचने पर योगी युक्त हो जाते हैं । आज्ञाचक्र के ऊपर सहस्रकमल है जहाँ शिव स्वयं विराजमान रहते हैं । कुमार जन्म शिव के स्कन्दित तेज से होता है । यह तेज (शिव) पार्वती रूप सुषुम्णा नाडी में निक्षिप्त होकर षट्चक्रों द्वारा पुष्ट एवं पालित होते हुए स्कन्द जन्म का कारण बनता है । महायोगी शिव द्वारा स्कन्द जन्म काम-विजय का ही कल्याणोद्देश्य रूपान्तर है । स्पष्ट है कि जगत्कल्याण की स्थापना के लिए काम-कीलन अनिवार्य है । यक्ष-यक्षिणी का सृष्ट्यैकलक्ष्य मिलन तभी सम्भव है जब चित्रकूट का कामस्वरूप मर्त्य मेघ अलका में दिव्य शिवत्व को प्राप्त कर ले ।

स्थूल शरीर संघटना के कार्य में जीवन तत्त्व के अधिष्ठान को समझने के लिए सुषुम्णा आदि संज्ञाएँ व्यवहार्य होती हैं और वर्णन की आध्यात्मिक स्वरूपता के लिए शिव पार्वती , कुमारादि संज्ञाओं की कल्पना द्वारा योग के प्रत्यक्षीकरण को शाब्दिक रूप दिया जाता है । परमशैव कालिदास का इंगित शिव , पार्वती , कुमार आदि शब्दों द्वारा तन्त्र तत्त्वों की ओर प्रतिफलित है । कालिदास का यक्ष अपनी काम-शान्ति के लिए जाग्रत्विवेक है । अतः वह जिस मेघ में दूत की कल्पना करके अपने काम-हाहाकार को व्यक्त करता है , उसे बारम्बार शिव की प्रसन्नता की ओर ध्यानस्थ होने का परामर्श देता है ।

शिव प्रसन्नार्थ मेघ के लिए निम्नमुद्रित आचरण अनिवार्य है । वह भक्तिनम्र होकर शिवचरणन्यास की परिक्रमा करे , अपने मृदंग मन्द्र स्वर से पशुपति की संगीत सज्जा को पूर्ण करे ।[1] काम का निग्रह करने वाले शिव काम से प्रसन्न होकर उसे

१- पू० मे० ६०,६४

कैलासवास देंगे यहाँ हिमालय से मेरुदण्ड की ओर संकेत है तथा पार्वती से सुषुम्णा की ओर । मेरुदण्ड के भीतर सुषुम्णा रहती है तथा मेरुदड में षट्चक्रों का अधिष्ठान है । सुषुम्णा के बाईं ओर इडा और दाहिनी ओर पिंगला नाडी है । सुषुम्णा से सम्बद्ध पिंगला नाड़ियाँ सहस्रजाल में फैलती हुई अन्त में कपोलस्थ आज्ञाचक्र में मिल जाती है । मेघदूत इसी वेदान्त तत्त्व के प्रतिपादन का मनोहर काव्य प्रतीक है ।

कामरूप मेघ

करुणगीतिका मेघदूत में मनुष्य एवं प्रकृति का जो अद्वैत स्थापित है, वह संस्कृत साहित्य में अनूठा है । उस अद्वैत की प्रतिष्ठा का सूत्र काम निरूपित हुआ है , जो सृष्टि के यावत् सम्बन्धों को गीला एवं लचीला बना देता है । कामरूप मेघ तथा कामुक यक्ष-- ये दोनों मानों मिलकर सम्पूर्ण जगती को काम के पावन पीयूष प्रवाह में निमज्जित कर रहा है । काम चैतन्य की वृत्ति है तथा प्रेम उसका प्रकाश है । इस प्रकाश का स्वभाव ही है --राशीभूत होना तथा चित्त को द्रवित कर उस अमोघ रसायन को प्रस्तुत करना , जिसने चेतन तथा अचेतन की द्वैत भावना को नष्टकर समस्त विश्व की धमनियों में समरसता का द्रव प्रवाहित कर देता है । मेघदूत के माधुर्य का रहस्य यही रसायन है ।

मेघ अनेक कौतुकों के आधान का हेतु है । उसके आगमन मात्र से ही प्रकृति में अनेक नवीन अभिलाषाएँ उदित होती है तथा विश्वतोमुखी चेतना सर्वत्र प्रस्फुटित हो जाती है । सामान्यतः मेघ के अचेतन जड़ समझा जाता है किन्तु उसके स्वरूप में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं , जिसके कारण चेतनाचेतन समस्त प्रकृति उसके स्वागतार्थ उत्सुक हो जाती है । वर्षाऋतु के नवीन प्रस्फुटित सौन्दर्य का चित्रण कवि की

मौलिक कल्पना नहीं प्रत्युत जामुनों के रसनिर्भर, बलाकाओं के काले-काले मेघों में ऊँची उडाने भरने और गम्भीरता के इतराने में एक विश्वव्यापी परिवर्तन और सच्चाई है, जो प्रकृति के साथ मनुष्यों के मन को भी मस्त कर देती है। इसी स्रोत का अन्वेषक प्रत्येक सहृदय है। वह प्रकृति की पाठ्य पुस्तक में से ही मेघ के नानाविधात्मक स्वरूपों का अध्ययन कर लेता है।

मेघ के वर्णों का प्रकार का उल्लेख कोई नहीं कर सकेगा। कज्जल के पहाड़ और चिकने अंजन के समान आभास्वरूप जो अमपान है वे मेघ की सार्वभौम वर्षाकालीन श्री के वर्णन के लिए प्रतीक मात्र है। पर्वतों में, घाटियों में, वनों तथा ग्रामों में सर्वदा परिवर्तनशील कान्ति का अध्ययन तो प्रकृति का निरीक्षक सुहृदय पाठक ही कर सकता है। इसी प्रकार विद्युत द्युति तथा मेघगर्जन को भी कवि ने अपने सरस भाषा द्वारा रचनाओं में स्थान प्रदान किया है। नदी, तीरों के उपान्त भाग में जो सुभग स्तभिव होता है, पर्वत कंदराओं में आमन्द्र प्रतिध्वनि की ध्वनि श्रवण परुष और स्निग्ध घोष के कारण मुरज रूप में कवि ने पर्याप्त मात्रा में उल्लेख किया है।[1]

कवि ने मेघ के स्थूल शरीर का पर्याप्त वर्णन किया है, किन्तु कवि का विशेष प्रयोजन यथार्थ रूप में भिन्न है। वह कौतुकाधान मेघ के द्वारा चेतनाचेतन के भेद को भुलाकर प्रकृति व्यापी एकता का दिग्दर्शन कराना चाहता है, जिस वेला में यक्ष ने मेघ का दर्शन किया उस अवस्था में मनोभावों को कोई स्थान प्राप्त न था।[2]

१- पू० मे० ३,२४, ३४,५८,६१ उ० मे० ५१
२- आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं,
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥ पू० मे० २

प्रत्यक्ष ज्ञानोपरान्त उसका मन शिशिरहतकमिलिनी समान प्रिया के लिए व्याकुल हुआ[1] तथा रामगिरि आश्रम से अलकापुरी पहुँच गया। दूरंगामी मन के लिए समय की अपेक्षा नहीं आत्मा स्वतन्त्र है वह श्राप द्वारा बद्ध न हुई। वह स्थिति तो स्थूल शरीर की है तथा वही स्वामी के श्राप से वचनबद्ध है। तदनन्तर वह मन आठ मास की साधना में तप चुका है। अतः उसकी अनुभव योग्यता और स्फुरण शक्ति अत्यन्त उत्कृष्ट हो गई। सर्वप्रथम यक्ष ने शाश्वत नियम को सिद्धान्त रूप में स्थापित किया, तत्पश्चात् चित्र की अभिव्यक्ति की। किन्तु यक्ष के शापान्त में चतुर्मास का विलम्ब था तथा प्रियतमा से संयोग उसके पश्चात् हो सकता था। उसकी मुक्ति शाङ्गंपाणि विष्णु की शेष शैय्या से उठने पर ही संभव थी। अतः प्रत्यक्ष सम्मिलन तो कदापि सम्भव न था किन्तु उसी प्रकार की अनुभूति संभव थी।[2] इस प्रवृत्तिहारक की प्रवृत्ति से मेघ के जिस स्वरूप का ज्ञान कवि ने कराया है, वह अत्यधिक उच्च, साभिप्राय एवं सटीक है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से मेघ सर्वथा नीरस कल्पना है जहाँ धूप ने सलिल रूपी वस्त्र धारण किया है, जिसके साथ ज्योति तथा वायु का भी सम्मिलन हो गया है, वहाँ आत्मा को कोई स्थान प्राप्त नहीं है।[3]

क्षिति, जल, तेज, मरुद् आदि के समान कुछ तत्वों का समवाय ही मेघ संज्ञक विलक्षण पदार्थ है जिसमें मनोभावों एवं आत्मादि का प्रसंग ही कहां ? जड़-वादी चार्वाक प्रवृत्ति जिन्होंने शरीर को ही आत्मा की संज्ञा प्रदान की है वहाँ अमरतत्व

१- पू० मे० ३-४
२- उ० मे० ५३
३- धूमज्योतिः सलिलमरुतां संनिपातः क्व मेघः । -- पू० मे० ५

की कल्पना ही हास्यास्पद है । कवि को जड़भूतों की आवश्यकता नहीं , वह सन्देश प्रेषण की इच्छा करता है । जिसके लिए चतुर प्राणियों की अपेक्षा है ।[1] उन देहात्मवादियों तथा वैज्ञानिकों के सम्मुख कवि ने दो प्रश्नों को उपस्थित किया है --

(क) जड़ में चैतन्य प्राणी किस प्रकार रह सकता है तथा

(ख) ज्ञान-विज्ञान में समर्थ अन्तःकरण की उत्पत्ति जड़ सन्निपात में किस प्रकार हुई ।

कवि का कथन है कि इस विवाद का अन्तिम निर्णय अनुभव द्वारा ही सिद्ध होगा । अनुभव उन्हीं लोगों का सत्य है जिन्होंने सर्वत्र चैतन्य का दर्शन किया है तथा जिनके सम्मुख आनन्द का महाम्बुधि सर्वत्र झलक रहा है । इन योगियों को प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर कथन है जिस मेघ को अन्य मतानुसार जड़ समझा गया है वस्तुतः वह प्रकृति का चेतन पुरुष है ।[2] ऐसे विशुद्ध अनुभव के सम्मुख प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाण सभी निम्नकोटि के हैं ।

योगियों के ज्ञान और कामियों के सन्देश को ग्रहण करनेवालों के गुणों में अत्यधिक समानता है । शिष्य के तीव्र वैराग्य से ही ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होती उसी प्रकार कामीजन भी सन्देश ले जानेवाले को मात्र संकेतित करते हैं । उदात्तवाहक जितना चतुर होगा उसकी सन्देश व्यंजना भी उतनी ही उत्कट होगी । कामी का हृदय अनन्त होता है , उसमें समस्त विश्व समा सकता है । वियोगी के अश्रुओं के समान

१- सन्देशार्थः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापनीयाः । -- पू० मे० ५
   जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः । -- पू० मे० ६
२- पू० मे० ६

समस्त विश्व को प्रलय सागर में मग्न कर सकता है तथा ज्ञानी का ज्ञान समस्त विश्व का उद्धार कर सकता है । आत्मा के ज्ञान के पश्चात् वह विश्व-व्यामोह बन्धन से परे हो जाता है तथा उसे सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती । आत्मा ज्ञानी के विचारानुसार समस्त व्यक्ति उसका अनुगमन कर मुक्त हो सकते हैं उसी प्रकार कामी या वियोगी के अश्रुओं से सभी विपिघल सकते हैं । ज्ञान या प्रेम की अनुभूति में शरीर का ज्ञान समाप्त हो जाता है । क्षुत्पिपासा , शीतोष्ण आदि द्वन्द्वों की सहन सामर्थ्य दोनों में एक समान है । दोनों ही शान्तिपर्यन्त विरहाग्नि में संतप्त रहते हैं तथा अश्रुओं का प्रवाह सततवाही हो जाता है ।

इन समस्त चेतन सम्पन्न मन के सन्देश को कोई विप्रयुक्त जन न स्मरण ही कर सकता है और न आस्वान ही कर सकता है । यदि सन्देशवाहक ज्यों का त्यों मात सोचे तो वह सन्देश जड़ीभूत होगा तथा पत्रवाहक हो जाएगा किन्तु यक्ष का सन्देशवाहक आकाशमार्ग से जाता है , वह स्वयं ही सन्देश रूप होगा । सर्वत्र और सर्वदा सभी प्राणी उस सन्देशरूप मेघ की व्याख्या अपने-अपने लिए करेंगे । इस प्रेमपत्र में यक्षिणी तथा अनेक विरहणियाँ खो चुकी हैं , आकाशमार्ग से जानेवाला मेघ सबके अनन्त सन्देश सुनाता है ।[1] इन सन्देशार्थों पर जब कवि का ध्यान आकर्षित हुआ , तब उसकी अनन्त गम्भीरता दिखाने के लिए "क्व" पद का प्रयोग किया और जड़मेघ का निकम्मापन दिखाने के लिए "सन्निपातः क्व" कहा था ? जड़ सन्निपात मेघ और अपने सन्देशार्थ में कवि को अत्यधिक सामंजस्य दीख पड़ा । उन सन्देशार्थों की प्रवृत्ति भेजने के लिए निम्न

१- पू० मे० ८,४६

सामग्री की आवश्यकता हुई ।[1]समर्थ इन्द्रियों वाले चेतन प्राणी ही प्रेम सन्देश ले जाने के योग्य है । उसकी इन्द्रियों में वह इन्द्रशक्ति होनी चाहिए जिसके कारण इन्द्रियाँ कहलाती है । इन्द्र शक्ति ही इन्द्रियों को बल देती है । इन्द्र से शून्य व्यक्ति द्वारा कुछ काम सिद्ध नहीं होता , विशेषतः प्रेमवार्त्ता के लिए वृषसम्पन्न पुरुष ही होना चाहिए । इस प्रकार कवि को दो गुणों की कामना हुई । एक तो चेतन प्राणी की और दूसरे इन्द्रिय सामर्थ्य से युक्त प्राणी की । ये दो गुण जिसमें हों वही अलका तक दूत बनकर जाने का सामर्थ्य रखता है ।[2] उपर्युक्त दो "स्व" के द्वन्द्व में यक्ष का अनुभव तीव्र हुआ तथा औत्सुक दशा में उसका जडांश पूर्णतया निर्गलित हो गया -- आत्मेतर पदों की प्रतीति जाती रही तथा वहिर्मुखी प्रवृत्ति के लिए वाह्यजगत् में कोई स्थान न रहा । यक्ष "अपरिगणयन्" दशा में पहुँच विश्वगत परिगणनाओं को भूल गया । उसका दृष्टि विन्दु ही परिवर्तित हो गया । इन अन्तिम अनुभव की कोटि तक पहुँचाने के लिए किस प्रकार मन , बुद्धि आदि अन्तःकरणों को नवीन जन्म धारण करना पडता है , इस तथ्य को कवि ने पाठकों के सम्मुख इस प्रकार रखा ।[3]

यक्ष के साथ भी समान स्थिति हुई । वह उन विषयों में संज्ञाहीन हो गया , जिसमें संसारीजन जागते हैं मानों नवीन जगत् के अनुभव लेने के लिए ही "प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु" मन्त्र द्वारा अपना नवीन कल्प कर लिया । वह स्थूल अन्नात्मिक देह की सत्ता भूल मनोमय साम्राज्य का अधिवासी बन गया । इस दशा में रहने वाले वियोगी अथवा अन्य अनुभवियों को भी अरति या विषय द्वेष नामक अवस्था प्राप्त

१- पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः । -- पू० मे० ५
२- इधातु इन्द्र इन्द्रियम् - तांड्य महाब्रा० १-३६५
३- कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु । -- पू० मे० ५

हो जाती है जिसे कवि भी अभिव्यक्त करता है ।[1] इसमें समस्त इन्द्रियाँ अपने विषयों से निवृत्त हो जाती है । उनके अनुभवों के वहिःकेन्द्र रसशून्य हो जाते हैं तथा मन के चिन्त्य विषय में ही समस्त रस संचित हो जाता है । इस निर्मल स्थिति को प्राप्त मनुष्य स्थूलभोगों का भूखा नहीं रहता , वह उनसे निर्लेप हो जाता है और मात्र भाव की क्षुधा में मस्त रहता है ।[2]

स्मरणीय है कि चेतनाचेतन के विविक को भूलेने के लिए जिस साधना तथा चिंतवृत्ति की आवश्यकता है , यक्ष उसी संपत्ति से युक्त है । भोग की तृष्णा आसुरी प्रवृत्ति है , प्रेमभाव की पिपासा दैवीय । प्रेम की परिभाषा में यक्ष का प्रेम दैवीय है , आसुरी नहीं । महर्षि श्री आद्यशंकराचार्य के विचारानुसार मनुष्य पशु से भिन्न नहीं , वरन् उन्हीं के समान आत्मानात्मा विवेक से शून्य है तथा विवेकहीन अवस्था में आत्मा के दैवीय स्वरूप को भुलाकर उससे बद्ध और चेतन देह के समान उपयोग कर रहे हैं , इसी कारण कर्मबद्ध है तथा सुख दुःख में चक्रवत् घूम रहा है आनन्द को वहां कोई स्थान प्राप्त नहीं है । इन्द्रियाँ भोगोत्सुक , भोगोन्मुखी है , अतः अन्तरात्मा का दर्शन नहीं कर पाती । इस प्रकार जड़ चेतन का अविवेक सामान्यतः पाया जाता है वही बन्धन का हेतु है , उससे श्रेय की आशा नहीं । चेतनाचेतन की कृपणता दो प्रकार की होती है ।

(क) चेतन को अचेतन समझना

(ख) अचेतन को चेतन समझना ।

१- उ० मे० ३७
२- स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगाः ,
 दिष्टे वर-वुन्युपचितरसाः प्रेमराशी भवन्ति । -- उ० मे० ५६

एक अधोमुखी एवं तामसी है , दूसरी ऊर्ध्वमुखी तथा सात्विकी । यदि यक्ष मेघ को जड़वत् समझने लगे , जो उसे चेतन प्रतीत हो रहा था , तो वह भी पूर्णतया जडीभूत हो जाएगा । उस अन्तःसंज्ञाशून्य मूर्च्छितावस्था को प्राप्त यक्ष की करुणगीतिका एवं अनुभव कौन सहृदय सुनेगा , वे अनुभव विश्व के लिए कदापि नवीन न होंगे तथा उससे किसी भी ज्ञानवृद्धि और कल्याण की आशा व्यर्थ होगी ।

महर्षि कालिदास ने विस्तार को किसी भी अवस्था में संकुचित न करना चाहा । चित्त का सीमाबद्ध होना ही दुःख है तथा चित्त का असीमित विस्तार ही परमानन्द है । आनन्द की यात्रा में वृद्धि शरीरस्थ चित्त के विकास पर पूर्णतया आश्रित है । किं विश्व किं वा आत्मानुभव दोनों दशाओं में यह नियम सत्य है । निश्चय ही आत्मानुभव की अवस्था में चित्त का विकास निस्सीम या अनन्त हो जाता है । इस आनन्द की तुलना में विश्वगत चित्तिविस्तार के समस्त सुख एवं आनन्दानुभूतियाँ कोई स्थान नहीं रखती है । यक्ष ने चेतनाचेतन के भेद को भुलाने में इसी उत्तरायण मार्ग का अवलम्बन लिया तथा समस्त विश्व को परमचैतन्य देखने लगे , उसके सम्मुख से अज्ञानावरण हट गया । उस आनन्दसागर में मग्न हुए बिना कौन उसका महारस त्रिकाल में भी जान सकता है ? यक्ष ने इस आवरण को दूर करने में दम्भ नहीं किया , उसका चैतन्य ज्ञान क्षणिक अथवा मायाजनित न था । सत्यता इस अनुभव की प्रथम परीक्षा है । अतः कवि का वक्तव्य है -- "प्रकृतिकृपणः" अर्थात् मनसा , वाचा , कर्मणा ये तीनों पूर्णतया परिवर्तित हो जाते हैं । सर्वत्र ही अमृतानन्द की सम्प्राप्ति होती है तथा इस मार्ग में बुद्धि निश्चयात्मक होती है -- बहुशाखाओंवाली तथा अनन्त नहीं ।[1] फलतः यक्ष की बुद्धि एक निश्चयात्मक हो गयी कि

१- व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् । -- गी० २-४१

अनुभवों की इयत्ता केवल भौतिक जगत् तक ही परिमित नहीं उसका सच्चा स्वरूप वहीं प्राप्त है जहाँ सर्वदा चैतन्य की सम्पत्ति होती है । उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त यक्ष ने मेघ का पुनर्दर्शन किया तथा जिस नवीन विलक्षण पुरुष की अनुभूति एवं दर्शन उसे प्राप्त हुआ, वह धूम ज्योति, सलिल एवं मरुत सन्निपात मेघ था, जिसके विषय-गत ज्ञान विश्वकोष में अभूतपूर्व है । उसी रहस्य को कवि ने इस प्रकार प्रस्तुत किया जिसे वैज्ञानिकों के शब्दों में मात्र पर्जन्य की संज्ञा दी थी ।

इस प्रकार के कामरूप पुरुष को कवि अलका के उस लोक में ले जाना चाहता है, जहाँ काम को भस्मावशेष करने वाले शिव का साक्षात् निवास ज्ञात कर कामदेव अपना चाप चढ़ाने का साहस नहीं करता ।[1] इसी ज्ञान में मेघदूत के आध्यात्मिक शास्त्र का सार है ।

महामना मल्लिनाथ ने "प्रकृतिपुरुषं कामरूपं" का अर्थ "इच्छानुसार रूप धारण करने में समर्थ प्रधान पुरुष किया है । लेकिन इस अर्थ से कवि का अर्थ स्पष्ट नहीं होता । मेघ वस्तुतः कामरूप है, स्वयं काम है तथा समग्र प्रकृति का पुरुष है जो श्रवण सुलभ गर्जन सुनाकर उसमें नवीन प्रसव का विधान करता है । डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अतीव निपुणतापूर्वक इन्द्र, मेघ तथा प्रजननशक्ति की एकरसता उपपन्न की है । अतः इन्द्र एवं मेघ दोनों कामशक्ति के प्रमुख प्रतीक हैं और इसी कारणवशात् कामार्त यक्ष ने इन्द्ररूप, प्रकृतिपुरुष रूप तथा कामरूप मेघ का स्मरण कर अपनी प्रेम कातर अवस्था में उसे ही प्रणयसंवाद का वाहक बनाया है ।

१- मत्वा देवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद्वसन्तम् ,
प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम् ॥ -- उ० मे० २-१०

कवि ने विश्व को चेतनाचेतन दो भागों में विभक्त किया है । चेतन तथा अचेतन के भेद को मिटा कर अन्तर्दृष्टि द्वारा देखने पर अन्तर्जगत् और वहिर्जगत् के सामंजस्य का जैसा अनुपम दृश्य हो जाता है , उसीको मेघदूत में हम प्राप्त करते हैं । अन्तर्जगत् आध्यात्म के अनन्त सौन्दर्य से आलोकित है । सामान्यतया जनसामान्य वाह्य प्रकृति के सौन्दर्य को अन्तःसौन्दर्य से विच्छिन्न समझता है किन्तु आन्तरिक अनुभव के अभाव में वाह्य सौन्दर्य का कोई सार नहीं । जब हमारा सौन्दर्य केन्द्र वाह्य रहता है तथा आत्मा के साथ सम्बन्ध न होने के कारण हमारी अपनी महिमा वहिर्सौन्दर्य की उपासना में अस्तगमित हो जाती है । जिन्होंने पहले चेतन का अनुभव कर उसी का प्रतिबिम्ब वाह्यजगत् में देखा है , उन्हें सौन्दर्य का जैसा विलक्षण तथा अनन्तानन्द प्राप्त होता है , वही अनुभव विरही यक्ष को हुआ । उसकी दृष्टि तीक्ष्ण हो गई तथा मेघ के आनोपरान्त प्राकृत जगत् के सौन्दर्य का अपार सागर उसे प्राप्त हो गया । सर्वत्र उसे मेघ की विभूति के दर्शन होने लगे । इसी सागर के सुन्दर सुन्दर रत्नों का व्यतिकर मेघदूत का प्रकृति वर्णन है ।

यही स्थिति चैतन्य की है । मेघ के सम्पर्क से प्रकृति के चराचर सभी प्राणरूपी भंवर में गोते लगाते हैं । सौन्दर्य एवं चैतन्य को एकत्र समन्वित कर कवि ने अपने अपूर्व कला का प्रदर्शन किया है । इस सम्मिश्रण से विलक्षण आनन्द की उत्पत्ति हुई । मेघदूत में प्राप्त प्रकृति वर्णन वाह्यरूपों की सूची प्रतीत नहीं होती । उसमें पग-पग पर शिवात्मक ज्योति का दर्शन एवं स्मरण होता है । नदी का अविरल प्रवाह , जम्बूफलों का प्रस्फुटित होना सत्य स्वरूप है । इन सत् कार्यों में चैतन्य अन्तर्निहित है । नदी अगाध जल से पूर्ण हो गई , आम्र कानन और यूथिकानन सौरभ का विस्तार करने लगे ,

इन प्रश्नों का उत्तर इसी रचना में प्राप्त है । चैतन्य मेघ के दर्शन से प्रकृति का चैतन्य भी उमड़ पड़ा है । सभी का प्राणदाता मेघ है । द्युलोक एवं पृथ्वीलोक के मध्य ऐसा कोई नहीं, जिसका मेघ से सम्बन्ध न हो । अतः सर्वत्र ही सत पदार्थों में श्री या सौन्दर्य का आभास प्राप्त है । इसी प्रकार सत् और चित् का मेल खण्डकाव्य मेघदूत है । अन्ततः उसमें अनन्त, सनातन, आनन्द प्रदान करने की क्षमता है जिसे वेदान्ती सच्चिदानन्द ब्रह्म की संज्ञा से विभूषित करते हैं ।[1]

कामपुरुष मेघागमन से प्रकृति पृथ्वी में अनेक परिवर्तन प्राप्त होते है, उसका कुछ वर्णन कवि ने किया है । अथर्ववेद के प्राणसूक्त में मेघ को क्षिति का ब्रह्मचारी कहा गया है । मेघ के गर्जन करनेवाला ~~निम्न~~श्लोक संस्कृत साहित्य के उन विरल श्लोकों में है, जिनमें सरस्वती अंशरूप नहीं, प्रत्युत कृत्स्नशः व्यक्त हो गई है ।[2] इसमें पृथ्वी तथा आकाश दोनों लोकों का सम्मिलन है । जिस किसलय का शंवल कल्पित करके आकाश में उड़ते राजहंस कैलास तक मेघ को पहुंचाने जाते हैं । राजहंस अलका ~~के~~ अमरलोक की यात्रा प्रतिवर्ष करते हैं, उसी अलका के समीपस्थ यद्यपि मान-सरोवर है ~~किन्तु अलका के समीपस्थ यद्यपि मानसरोवर है~~ किन्तु अलका की वाणी में निवास करनेवाले हंस मानस को भी भूल जाते हैं । राजयोग साधनेवाले परमहंस योगी भी प्रत्येक संवत्सर में अपने चक्रों को बेधकर कैलास शिवलोक या सहस्र कमल की यात्रा कर आते हैं । जहाँ योगियों द्वारा पद्मों का आधार लेकर ब्रह्माण्डस्थित शिव के दर्शन प्रतिवर्ष करते हैं, एक संवत्सर साधना का एक कल्प है ।

१- आनन्दं खलु ब्रह्म । तै० ३-६

२- आकैलासाद्बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः,
संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ॥ -- पू० मे० ११

मार्ग निदर्शन के प्रसंग में मालक्षेत्र, आम्रकूट के जड शरीर में मेघ द्वारा चैतन्य का प्रवेशीकरण करना तथा नीचै नामक पर्वत को उसका विश्राम स्थल बतलाया गया है ।[1] इसके पश्चात् ही देवगिरि , हिमालय तथा कैलास के साथ आध्यात्मिक सम्बन्ध होगा ।[2] महर्षि परमवेदान्ती तथा अद्वैतवादी शंकराचार्य ने देवताओं की भी उपयोगिता स्वीकार की है , क्योंकि उससे अज्ञानी की नास्तिकता दूर होती है , अतः उपासना तथा भक्तिभाव से "गोविन्दं भज" का उपदेश शंकराचार्य भी देते हैं , क्योंकि वह भी तत्वज्ञान के पथ में एक सोपान है । कवि ने भी यक्ष के मुख से मेघ को भक्तिभावना का उपदेश दिलवाया है । यक्ष का कथन है कि "देवगिरि स्कन्द की वसति है वहाँ पुष्पार्पण द्वारा उसकी अर्चना करना । जिस मघवा के तुम प्रधान पुरुष हो , उसी की रक्षा करनेवाले सेनानी स्कन्द है । उनकी पूजा में आत्मसमर्पण करना तुम्हारे लिए उभयलोक में परमोच्च सौभाग्य है ।[3] इसके पश्चात् कैलास का आतिथ्य स्वीकार करना , यह कैलास शिवजी का राशिभूत अट्टहास है , जिन्होंने उसके कामरूप को भस्म किया था । इस बार की तुम्हारी यह यात्रा अभिमानी योद्धा की नहीं , प्रस्तुत श्रद्धालु द्वारा अपने आराध्य देव को भक्ति नम्र होकर स्थिर पद की प्राप्ति के लिए प्रणाम करने चला है ।[4]

१- पू०मे० १६,१७,२०, २७

२- पू० मे० ४७,६०,६१,६२

३- तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा ,
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगङ्गाजलार्द्रैः । -- पू०मे० ४७
... कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः शृंगोच्छ्रयैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य खं राशी-
भूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः । -- पू० मे० ६२

४- भङ्गी भक्त्या विरचितवपुः स्तम्भितान्तर्जलौघः ,
सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाग्रगायी ॥ -- पू० मे० ६४

चैतन्य के अन्तर्मुख और बहिर्मुख अथवा आध्यात्म और आधिदैव स्वरूपों का अतिरमणीय समन्वय यहां उपस्थित हो गया है । जड़ दृष्टि के लिए समस्त विश्व पर्वत रूप है , किन्तु चैतन्य के लिए आम्रकूट और देवगिरि तथा कैलास में पर्याप्त अन्तर है । भोग तथा अन्यत्र संयम एकतः मर्त्य तो दूसरा स्वर्ग्य है । कहीं उज्जयिनी है तो कहीं अलका । दोनों भागों का समन्वय ही उत्तम पथ है तथा प्रयाणानुरूप मार्ग है , क्योंकि यदि मानव देह पंचविषयों से इकान्त असंस्पृष्ट रह सकती तो विधाता इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाता ही क्यों ?[1]

मेघ को वेद में सिन्धुओं का वृषभ कहा गया है । वारिधाराएँ अहर्निश जिसके प्रताप से बहती है उस रस का पोषक मेघ ही है । निर्विन्ध्या का उन्मादिनी बनकर आवर्तरूप नाभि प्रदर्शन , सिन्धु की विरहावस्था सभी उसी कामरूप मेघ पर निर्भर है जिसने अचेतन में चेतन का मन्त्र फूंक दिया है । ये वर्णन मात्र प्राकृतिक नहीं प्रत्युत इसमें प्रकृति चेतन मनोभावों से संक्रमित होकर चेतन के समान ही समस्त व्यवहार करने लगती है । इन व्यवहारों का साक्षीभोक्ता और नियन्ता पुरुष, मेघ के रूप में सर्वत्र सर्वदा प्रस्तुत होकर साथ-साथ चलता है । इसी कारण प्रकृति चैतन्य में अत्यन्त सजीवता एवंसरसता आ गई है । कवि का मेघ चैतन्य युक्त है , अतः उसमें मन बुद्धि प्रभृति इन्द्रियों की कल्पना भी सुतरां सिद्ध है , जिसके द्वारा वह अमरकण्टक तथा कैलास के भेद को ज्ञात कर अपने आध्यात्म की भी सिद्धि करता है । वह निर्विन्ध्या के साथ विलास करता है , किन्तु सरस्वती के जल का पान कर अन्तःकरण शुद्ध करता है । सरस्वती देवनदी है

१- पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः ।

तथा मेघ उसे पूज्येतर भाव से नहीं देख सकता है ।[1] इस अभिव्यक्ति द्वारा कवि स्पष्टतः मेघ के शरीर एवं आत्मा का स्पष्टतः अलग-अलग उल्लेख किया है । पुरुष रूप मेघ का बाह्यवर्ण कृष्ण है तथापि वह नश्वर शरीर की उपाधि है । चेतन का सर्वस्व तो अन्तः-करण है , उसका विशुद्ध होना आवश्यक है तथा मेघ ने जितने कामविलास किए हैं , सरस्वती तीर्थ के जलपान से सबकी शुद्धि होती है । इसके पश्चात् कवि ने मेघ के विलास का उल्लेख कहीं नहीं किया है । इसके विपरीत गंगा , हरिद्वार , हरचरण , मुक्तत्रिवेणी , कैलास एवं मानसरोवर का वर्णन कवि करता है ।[2] कैलास एवं ब्रह्म में वितान की भाति व्याप्त है तथा तप का स्थल है । चेतन प्राणी ही इस प्रकार का विवेक रखते हुए स्वर्ग तथा संसार दोनों सिद्ध कर सकते हैं । मेघ सक्रिय बनकर व्युत्पन्न व्यवहार करता है , वह निष्क्रिय और निरपेक्ष नहीं ।

पृथ्वी , नदी , पर्वतों से ऊपर वनस्पति और जगत् की ओर विहंगम दृष्टिपात करें तो ज्ञात होता है कि मेघ समस्त पुष्प, फल , औषधि , तरुलता आदि स्फूर्ति और चेतना से उच्छ्वासित हो रहे हैं क्योंकि उनका पोषक आहार पूषा देवता पय है ।[3] मेघ प्राणरूप सभी को जीवन देता है , इसी महान् प्राणभण्डार

१- कृत्वा तासामभिगममपां सौम्य सरस्वतीनामन्तः ,
शुद्धस्त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः । -- पू० मे० ५३

२- तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां जह्नोः कन्यां
सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम् । --पू० मे० ५४
तस्याएव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः । -- पू० मे० ५६
तत्र व्यक्तं दृषदिचरणन्यासमर्धेन्दुमौले, शश्वत्सिद्धैरुपचितबलि" भक्तिनम्रः परीयाः ,
यस्मिन्दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्धूतपापाः कल्पिष्यन्ते स्थिरगणपाप्तेय श्रद्दधानाः ।पू०मे० ५९ ।
हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म । -- पू० मे० ६०
कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः । --पू० मे० ६२

३- स वनस्पति उ वै पयो भोजनः ।

को प्राप्त कर प्रजाएँ आनन्दित होती है ।[1]

प्राण अन्नाधीन हैं मात्र स्थूल सूक्ष्म का ही अन्तर है । अतएव प्राण के सम्मुख ऊर्जावाली औषधियाँ नाना मनोभावों से अपनी प्रसन्नताओं की अभिव्यक्ति करती है इसी मेघ का दर्शन कर सारसगण किलकारी भरते हैं और मयूर आनन्द से नृत्य करते हैं । इसमें भी गूढ़ आध्यात्म भाव तिरोहित है । डॉ० अग्रवाल ने इसका विशद विवेचन किया है ।[2] जब वृषरूप मेघ शिवलोक गमन में अग्रसर होता है , तब कुमार का वाहन मयूर का आनन्द नृत्य स्वाभाविक है । भवानीपुत्र स्कन्द पावक के भी पुत्र हैं उनकी संज्ञा पावकि भी है ।[3] इनका जन्म इन्द्र की सेनाओं की रक्षा के लिए अग्नि के मुख में सम्भूत होते हुए शिव के तेज से आज्ञाचक्र के बाद सहस्रार पद्म या शरों के वन में हुआ , उनके जन्म से पूर्व शिव के परिवार में सर्पों की प्रबलता थी । स्कन्द के जन्मोपरान्त सर्प एवं मयूर विगत बैर होकर बसते हैं ।

विश्व सौन्दर्य के अन्तर्जगत् तथा वाह्य जगत् में जड़ चेतन के उपभेदों के समान ही यदि काम को आत्मा के समान विश्वव्यापी स्वीकार किया जाए तो नायिकाएँ भिन्न-भिन्न शरीर की भाँति पृथक् हैं तथा परिवर्तनशील हैं । उपासना का अमरभाग प्रेम है , जिस भक्ति भावना को वेदान्ती लोग स्वीकार करते हैं । प्रेम एवं काम सर्वत्र और सदा साथ ही रहते हैं । वस्तुतः मेघ का कामरूप सर्वग्राह्य है तथा पथिकवनिताएँ, , भ्रूविलासानभिज्ञ जनपदवधूएँ , रतिपरिमलोद्गारि, पण्यस्त्रियाँ , चंचल कटाक्षवाली पौरांगनाएँ समस्त स्त्रियाँ जगत् का प्रतिनिधित्व करती है ।

१- आनन्दरूपास्तिष्ठति कामायान्नं भविष्यतीति । -- प्रश्नोपनिषद् २-१०
२- डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल : मेघदूत एक अध्ययन ।
३- धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरः । --पू० मे० ८

चौर्य कर्म के लिए कवि ने मेघ को उत्तरायण पथ बताया है । छान्दोग्योपनिषद् में उत्तरायण दक्षिणायन[1] अथवा देवयान तथा पितृयान को विशद उल्लेख मिलता है । कवि का आदेश है कि यात्रा की सफलता के लिए मार्ग स्थित समस्त कामशक्ति के केन्द्र है, उनको भोग द्वारा शान्त करना ही उचित है । इस प्रकार सभी पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् "हरशिरश्चन्द्रिका धौतहर्म्या" अलका के प्रासादों में शान्तिपूर्वक प्रवेश करें ।

जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं" द्वारा प्रकृति की विराट एकता जिसने चराचर को एक सूत्र में बाँध रखा था । वह कवि की सहस्राक्ष दृष्टि में सभी रहस्यों का प्रतिबिम्ब बन गई है । शुद्ध साहस से पण्यस्त्रियों के नखक्षतों को मेघ से प्राप्त होनेवाले सुख का भी वर्णन करता है, वस्तुतः स्थूल दृष्टि से शिव को वर्णित करनेवाले गुणीजनों के लिए पौरांगना तथा अभिसारिका में भेद हो सकता है किन्तु अन्तर्दृष्टि से प्रेरित होकर मेघ जो कार्य देखता है, उसकी दृष्टि में संसार के सभी दृश्य अपना प्रतिबिम्ब डालते हैं, उसका अनुभव अखण्ड या समग्र होता है, एकदेशीय या विभक्त नहीं समग्र का ज्ञान करानेवाला यदि आध्यात्म का उपदेश देता है तो उसके सम्मुख अभिसारिका कुल-वधु सभी समान है क्योंकि उसके हृदय में प्राणिमात्र का मूल्य है ।[2]

१- मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यम्
आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं
तत् पुरुषो ह मानवः स एनां ब्रह्म
गमयत्येष देवयानः पन्थः ।

-- छा० ५-१२-१-२ तथा छा० ४-१३-५-६

२- पू० मे० ३९

कवि की भी ज्ञान सम्पन्न अन्तर्दृष्टि यही है , किन्तु वह काव्य के द्वारा कान्तासम्मित उपदेश द्वारा चैतन्य के आनन्द की प्राप्ति को बतलाता है । अतः मेघ का आध्यात्म ज्ञान छुप जाता है । मेघ की समस्त प्रकृति अपने स्थल पर है , उसका भावमात्र मेघ के साथ है तथा स्वयं मेघ भी अवधिपूर्व रामगिरि नहीं छोड़ सकता है । इसी प्रकार स्वगत मनोभावों को सर्वदा उच्च बनाकर बढ़ना है । स्थल परिवर्तन लाभप्रद नहीं वरन् हानिकारक है । वस्तुतः परिवर्तन मन का है जिसे विराट् पुरुष के प्रति लीन करना है । यक्ष भी मात्र अपने संकल्पों एवं विगणनाओं को मेघ द्वारा अलका पुरी भेज सकता है ।

पशु-पक्षी , मनुष्य तथा देवयोनि सभी कर्मपाश में बद्ध है तथा इन भौतिक पाशों का नाश प्रारब्ध कर्म के द्वारा ही हो सकता है । जीवन्मुक्ति किसी भी क्षण सुलभ है , मेघ को कामरूप स्वीकार कर जहाँ उसका काम सम्बन्ध है , उन सबका वर्णन कवि ने एक-सी स्पष्टता एवं निर्भरता से किया है । उन सभी के समवाय को वह कामरूप पुरुष अलका ले जा रहा है तथा सर्वव्यापी बनकर सभी के उद्धार के लिए सम्भव प्रतीत प्रयत्नशील है । विष्णु मेघ के लिए सभी कुछ तेजांश से सम्भव प्रतीत होता है , उसके निकट त्याज्य एवं हेय कोई पदार्थ नहीं , अतः सभी चेतनाचेतन उस सन्देश को सुनते हैं । अपने संस्कारों के अनुसार ही उस सन्देश से सभी को स्फूर्ति प्राप्त होती है ।

भोगियों के भोग का भाव प्रबल होता है अतः मेघदूत भोगकाव्य प्रतीत होता है किन्तु उसमें संयम और वैराग्य का जो छिपा तार है , उसकी ओर व्यक्ति का ध्यान आकर्षित नहीं होता । विश्व में सबसे महनीय वस्तु स्वाधिकार है । आत्म-नियोग या आत्मानुभूति ही परम श्रेय है । उसमें यक्ष ने जो असावधानी की उसका कारण भी उसका विषयज्ञान में निर्लिप्त हो जाना है । इसी प्रमादजनित दण्ड की निराकृति के लिए

शापित होकर तप रहा है । इस अनुभव की अवस्था में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है कि सृष्टि में काम को क्या स्थान है ? वह किस सीमा तक आत्मकल्याण का साधन है तथा कल्याण हानि का निर्माता है । इससे यह ज्ञात होता है कि प्रकृति द्वन्द्वमयी है तथा उसके परस्पर आकर्षण का हेतु काम है । किन्तु काम को शिव सान्निध्य में ही करना चाहिए क्योंकि शिव द्वारा भस्मीभूत होने के अनन्तर ही नवीन जीवन प्राप्त हुआ । स्कन्द को पुष्पमेघी कृतात्मा होकर स्नान कराना , गौरी को स्वभक्ति से प्रसन्न करना या हरचरणन्यास की भक्तिनम्र अभ्यर्थना तथा कैलास का आतिथ्य ग्रहण करना इन सभीके द्वारा एक ही आध्यात्मि भाव प्रस्फुटित है कि शिव का सानिध्य प्राप्त कर आध्यात्मविधि में विपरिणमित होना ।[1] सभी देवतागण त्रिगुणात्मिक हैं किन्तु शिव त्रिपुरविजेता हैं । त्रिगुणमयी माया अति दुरत्यय अर्थात् चण्डी है तथा त्रिभुवनगुरु चण्डीश्वर है । अतः उनके पुण्यधाम में मेघ को अवश्य जाना चाहिए ।[2]

चण्डीमाया जिसके वश में है , उसकी शरण में जब कामरूप पुरुष प्रविष्ट होता है तब उसका भोग भी स्वर्गीय बन जाता है । ऐसा पुरुष भावानी को प्रसन्न रखता है तथा उस दृष्टि में स्त्री सौन्दर्य परम सुन्दरता का अतिरमणीय प्रतीक है । अनुभव के अनन्तर उस रूप के दर्शन से आध्यात्मिक आनंद और कला का विकास होता है । उसमें तृष्णा का नितान्त अभाव हो जाता है । प्रकृति के समस्त पदार्थों का परिचय मनुष्य अपनी इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञानी अथवा अज्ञानी इन दो प्रकारों से ही कर सकता

१- पू० मे० ६२-६४
२- पू० मे० ६०

है । ज्ञानावस्था में वह पदार्थ के वाह्य रूप में आकर्षित न होकर उसके तत्वज्ञान प्राप्ति का प्रयास करता है , क्योंकि उसका भोग मुक्ति की भावना से होता है । अल्पज्ञ , अज्ञानी अथवा कामी पंचविषयों या भूतों की सत्ता स्वीकार कर अपनी अतृप्त तृष्णाओं , मनोभिलाषाओं की पूर्ति के लिए आत्मा का हनन कर देता है । यक्ष चित्त की अज्ञानावस्था से बद्ध था , अतः विषयों में उसकी आसक्ति थी । तत्पश्चात् कामरूप पुरुष के साथ उसका अभिनव सम्बन्ध , संयम , भक्ति और वैराग्य से नियन्त्रित है अतः वह देवाधिदेव शंकर को प्रसन्न मुद्रा में रखना चाहता है । गौरी के विवाह के पूर्व अर्धेन्दुमौलि ने भी अपने कामविषयक मनोभावों में परिवर्तनों किए । इसी आन्तरिक परिवर्तन से प्रेरित होकर यक्ष मेघ को महाकाल के मन्दिर में रुकने का उपदेश देता है ,अन्यत्र सर्वत्र उसने अपने दूत से जल्दी जाने को कहा है ।[1] किन्तु महाकाल के मन्दिर में सूर्यास्त से पहले यदि पहुँच जाए तो उसे वहाँ अवश्य रुकना चाहिए ।[2] इस प्रकार भगवत्समर्पित काम या वृष शक्ति है , उसी के स्वाभाविक अर्थात् सृष्टि के लिए अत्यन्त आवश्यक रूप को हिन्दू शास्त्रों ने भगवान् का रूप माना है ।[3] काम की ऐसी आध्यात्मिक कल्पना वस्तुतः बहुत उच्च और कल्याणकारी है । उसे प्राप्त कर मनुष्य स्त्री को भगवान् की विभूति मानता है , अपनी अभिलाषाओं की दरिद्र भिखारिनी नहीं । वह उसकी आत्मा से मिल जाता है जो कि अनन्त सम्मिलन है । शरीर की एकता तो विच्छिन्न और नश्वर है ।

१- अप्यन्यस्मिन्जलधर महाकालमासाद्य काले ,
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः ,
कुर्वन्संध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीयम् ,
आमन्द्राणां फलमविकलंलप्स्यते गर्जितानाम् ॥ पू० मे० ३८

२- पू० मे० ३८

३- गी० १-२८

वस्तुतः मेघदूत में काम की प्रबलधारा बही है , जिसके प्रभाव से चेतनाचेतन जगत् में कोई अछूता नहीं बचा , वह स्थूल भोग को पुष्ट करने के लिए नहीं । प्रत्युत कवि का उद्देश्य है कि काम का आश्रय लेकर भी किस प्रकार विराट् प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करके अन्त में परमशिवात्मक ज्योति का दर्शन सम्भव है । जिस मेघ ने निर्विन्ध्यादि नायिकाओं के साथ विलास किया है , वही अन्त में मणितट पर शिव-शिवा के आरोहण में सहायक होता है । योगियों के मणितट , बुद्धों के मणिपद्म , तथा ज्ञान की पुरी काशी की मणिकर्णिका में किसी प्रकार का भेद नहीं , वहां आनन्द ही आनन्द है । इसी आनन्द को वेदान्ती लोग मुक्ति का चरमस्वरूप मानते हैं । मुक्तावस्था में आत्मा आनन्दमय ब्रह्म में लीन हो जाती है । अतः शुद्ध चैतन्य आनन्दस्वरूप है । प्रत्येक आनन्द का मूल स्रोत आत्मा ही है । विषयानन्द क्षुद्र और क्षणिक होता है क्योंकि आत्मा क्षुद्र और क्षणिक विषयों में अपने को सीमित करने से संकुचित हो जाता है किन्तु जब आत्मा को अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब उसे किसी विषय की आकांक्षा नहीं रहती तथा वह आनन्दरूप हो जानता है । कवि कालिदास कामरूप मेघ के माध्यम से इसी भावना को अभिव्यक्त करते हैं ।

विक्रमोर्वशीयम् में वेदान्त तत्व

श्रीचन्द्रबली पाण्डेय ने अपनी रचना "कालिदास में न्वेश पुरुरवा के उन्माद का विशद विवेचन करते हुए "वृहदारण्यकवार्तिक" से समन्वय करने का अथक प्रयास किया है । यहां उसका उल्लेख समीचीन होने के कारण विवेचन आवश्यक है ।

१- सच्चिदानन्दं ब्रह्म । १-१-२

"विक्रमोर्वशीयम्" में पुरुरवा ने अपने प्रेम की जो अभिव्यंजना की है , वह वस्तुतः नाटककार द्वारा उस उन्माद की पृष्ठभूमि तैयार करने से नियोजित है , जो चतुर्थांक अथवा समस्त नाटक का प्रतिपाद्य है । गंधमादन पर्वत पर उर्वशी के अविवेक के कारण जो वियोग घटित हुआ, उसका दण्ड प्रत्यक्षतः पुरुरवा को सहन करना पड़ा है । उर्वशी तो वासन्ती लता बन गई थी । वस्तुतः पुरुरवा को जैसा प्रणयार्द्र चित्रित किया गया है वैसी उर्वशी को नहीं । नाटककार ने पुरुरवा को प्रणयी अधीश के रूप में चित्रित किया है , जिसकी कल्पना नितान्त काव्यमयी है । उसके सम्भाषणों में उस अलंकृत माधुरी की प्राप्ति होती है , जो कालिदास के अन्य नायकों में नहीं । तृतीयांक में उर्वशी मिलन बेला में उसका काव्य माधुरी का परिचय प्राप्त नहीं होता , किन्तु चतुर्थांक में कवि भारती गा उठी है । सामान्य आलोचना अथवा स्वीकृत रस प्रणाली में पुरुरवा का उन्माद के शब्दों में "उन्माद के चित्रण में कालिदास ने जिस चातुरी से काम लिया है , उसका भी अभी तक यथार्थ पता नहीं । विवाद तो सभी उसकी भाषा में भी है । पागल पुरुरवा भला अपभ्रंश में कुछ कह सकता है ? राजा तो सदा संस्कृत बोलता है न ? बोले पर पागल भी यदि शास्त्र के मार्ग पर चलता रहा और कभी मन की कुछ न कर पाया तो भला वह पागल काहे का ठहरा ? अरे । कभी तो उसके ग्रस्त हृदय को मुक्त मार्ग मिलना चाहिए ? अन्यथा उन्माद का क्या अर्थ ? देखिए न शास्त्र की मर्यादा क्या है ?"[1] नाट्यशास्त्र की उक्ति में भाषा का निर्देश प्राप्त नहीं होता ।

१- उन्मादो नाम इष्टजनवियोगविभवनाशाभिघातवातपित्तश्लेष्मप्रकोपादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तमपनिमित्तहसितरुदितोत्कृष्टासम्बद्ध प्रलापशयितोपविष्टोत्थितप्रधावितनृत्तगीत पठित भस्मपांसववधूलन तृणनिर्माल्यकुचेलचीरघटकपाल शरावाभरणधारणोपभोगैरनेकैश्चानवस्थितैश्चे ष्टानुकरणादिभिः अनुभावैरभिनयेत् ।
इष्टजनविभवनाशादभिघाताद्वातपित्तकफकोपात्, विविधाच्चित्तविकारादुन्मादो नाम सम्भवति । अनिमित्तरुदितहसितोपविष्टगीतप्रधावितोत्कृष्टैः, अन्यैश्च विकारकृतैरुन्मादं सम्प्रयुञ्जीत ।। ना० शा० ७ अध्याय

सम्भवतः इसका प्रकरण चित्तविकार से सम्बन्धित है । चन्द्रबली पाण्डेय पुनः कहते हैं-- "निश्चय ही यहाँ भाषा का उल्लेख नहीं हुआ है । होता भी कैसा ? प्रकरण चित्तविकार का है न ?" "परन्तु हम यहाँ विशेष रूप से जो कुछ कहना चाहते हैं यह है -- जिस जाग्रत अवस्था में प्रमाज्ञान होता है , वह जाग्रज्जागर है , जिसमें भ्रम होता है वह जाग्रत्स्वप्न है और कामादि विषयों में जिसमें भ्रम होता है वह जाग्रत्स्वप्न है और कामादि विषयों में आसक्त होने पर जागर में विवेक नहीं होता है वह जाग्रत्सुप्ति है अथवा मादक द्रव्य का पान करने पर जिसमें कर्तव्याकर्तव्य भक्ष्याभक्ष्य और पेयापेय का विवेक लुप्त हो जाता है वह जाग्रत्सुषुप्ति है । मुख्य सुषुप्ति और जाग्रत्सुषुप्ति में निर्विवेकस्वभावत्व समान धर्म है ।

यदि स्वप्न की स्पष्ट स्मृति रहे तो वह स्वप्नजागर है , यदि अस्पष्ट स्मृति रहे तो वह स्वप्न-स्वप्न और सर्वथा स्मृति न रहे तो वह स्वप्नसुषुप्ति है । किसी स्वप्न का पूर्ण स्मरण उठने के बाद होता है । किसी का स्पष्ट स्मरण नहीं होता और किसी का अवधान करने पर भी स्मरण नहीं होता , इसमें कारण यही है कि जो स्वप्न स्वप्न जागरण में होता है , उसका स्मरण स्पष्ट होता है । जो स्वप्न स्वप्न-स्वप्न में होता है उसका स्मरण अस्पष्ट होता है अर्थात् कुछ अंश का स्मरण होता है और कुछ का नहीं एवं जो स्वप्न स्वप्न सुषुप्ति में होता है , उसका कुछ भी स्मरण नहीं होता , यह अनुभव सिद्ध है । कार्य-विशेष से स्मरण विशेष की सिद्धि होती है , अन्यथा कार्य आकस्मिक हो जायगा ।[1]

१- जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तीनामेकैकस्मिन् त्रिधा सति ।
जाग्रत्सुप्तिः स्वप्नसुप्तिः सुप्तसुप्तिश्च लभ्यते ॥ १९४॥
प्रमितिर्जागरे जाग्रदः भ्रमः स्वप्नोऽथ मूढता ।
पानादिजन्या सुप्तिः स्यादेवं जागरणं त्रिधा ॥१९५॥

इस प्रकार जाग्रज्जागर , जाग्रत्स्वप्न और जाग्रतसुप्ति के साथ ही स्वप्नजागर तथा सुप्तिजागर का भी महत्त्व है । अतएव इन पञ्च अवस्थाओं के आधार पर पुरुरवा के उन्मत्तावस्था का अध्ययन करना है ।

उन्मत्त नृपेश का साक्षात् दर्शन से ही चतुर्थांक प्रारम्भ है उसके उन्मत्तवेष की तुलना कविश्रेष्ठ ने गजेन्द्र से की है । वास्तव में पुरुरवा की मनोदशा उस व्योम के सदृश है जिसमें जलद खण्ड तैरते रहते हैं तथा इसी कारण जिसमें छाया एवं प्रकाश की आँखमिचौनी घटित होती रहती है । पुरुरवा का मनस्पटल विवेक तथा भ्रान्ति के क्षणों से आलोकित एवं आच्छादित होता रहता है । विक्रमोर्वशीयम् के टीकाकार श्रीरंगनाथ ने "गहनं गजेन्द्रनाथः" की जो टीका लिखी है वह मात्र प्रवेश ही नहीं प्रत्युत वेष की सूचना देने में भी समर्थ है ।[1] यह उन्माद का परिणाम है साथ ही साथ जाग्रत्सुप्ति दशा का द्योतक । इस अवस्था में चित्त एवं प्रकृति एकाकार हो उठी है तथा नृपेश पुरुरवा सर्वथा प्रकृति का अनुचारी बन जाता है , उसका विवेक नष्ट हो जाता है । उन्मादावस्था में पुरुरवा को उर्वशी के आकस्मिक दृष्टि विलोप से यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः केशी दैत्य ने उसे पुनः हर लिया । अतएव क्रोधावेश में वह चिल्ला उठा है--"अरे । दुष्ट खड़ा रह , तू मेरी प्रिया को लिया चला जा रहा है , (देखकर) अरे यह पर्वत के शिखर से गगन में उड़कर मुझ पर शर वृष्टि करने लगा । वह मिट्टी का

स्पष्टस्मृतिरथाऽस्पष्टस्मृतिरस्मृतिरित्यमी ।
स्वप्नभेदाः स्वप्नमध्ये जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः ॥११६॥
-- वृहदारण्यकवर्तिककार , चतुर्थाध्याय, तृ० ब्राह्मण

१- गजान्योक्त्या जायाविरहायासितस्योन्मत्तस्य
पुरुरवसो रङ्गभूमावाक्षिप्तिकया प्रवेशं सूचयति ।" विक्रम० चतुर्थोऽङ्क पृ० २१६

ढेला लेकर मारने दौड़ता है , जब उसका विवेक सद्यः खुल जाता है और वह कहता है --"अरे , यह तो अभी-अभी बरसने वाला बादल है , राक्षस नहीं , इसमें यह खिंचा हुआ इन्द्रचाप है , राक्षस का धनुष नहीं । जो टप-टप बरस रहे हैं , वे बाण नहीं , पानी की बूँदे है तथा यह जो कसौटी पर बनी हुई स्वर्णरेखा के समान देदीप्यमान है वह उर्वशी नहीं प्रत्युत विद्युत है ।"[1] इसके उपरान्त पुरुरवा का विवेक क्षण कुछ क्षण तक अक्षुण्ण बने रहता है जिसमें वह शोकप्रताडित सामान्य जन की भाँति उच्छवासित आलाप करता है । "वह केले के समान सुष्ठु जांघोवाली सुन्दरी कहाँ गई होगी , वह क्रोध में आकर अपने दैवीय प्रभाव से छिप तो न गई किन्तु उसने आजतक इतनी देर कभी न की थी या वह स्वर्ग तो नहीं चली गई , किन्तु यह भी सम्भव नहीं क्योंकि वह मुझे प्राणपण से प्यार करती है , देवताओं के शत्रु राक्षसगण भी उसे मेरे सामने से नहीं हर सकते , तथापि वह दृष्टिगत नहीं हो रही है ।[2] यह कैसा दुर्भाग्य है ? (दीर्घ निःश्वास लेकर) अरे । हतभाग्यवालों के लिए विपत्ति ही विपत्ति आती है, क्योंकि जहाँ एक पक्ष में प्रिया का विरह असहनीय है वहीं दूसरे पक्ष में अतीव सुहावनी ऋतु । पुरुरवा अभी इतना स्वस्थ चित्त है कि वर्षाकाल के चिह्नों में अपने राजकीय वैभव के प्रतीकों का दर्शन कर रहा है ।[3] उसकी तर्कना है कि "यदि वह सुन्दरी वर्षा

१- नवजलधरः संनद्धोऽयं : -- विक्रम० ४-७
२- विक्रम० ४-९
३- विद्युल्लेखा कनकरुचिरं श्रीवितानं ममाभ्रं
व्याधूयन्ते निचुलतरुभिर्मञ्जरीचामराणि ।
घर्मच्छेदात्पटुतरगिरो वन्दिनो नीलकण्ठाः ,
धारासारोपनयनपरा नैगमाः सानुमन्तः ॥४-१३

से आर्द्र बालूवाले इस वन की धरती पर चलती तो महावर से रंगे हुए उसके सुन्दर पैरों की ऐसी छायें दूर तक अवश्य दिखाई देती जो उसके नितम्बों के पृथुल होने के कारण एड़ी की ओर गहरी हो गई होती ।"[1]

इसके पश्चात् पुरुरवा का विवेक पुनः उन्माद की छाया से ग्रस्त हो जाता है तथा वह हरी घास पर बिखरे बीर बहूटियों को उर्वशी के सुग्गे के पेट जैसे हरे रंग के वस्त्र की कल्पना करता है , जिस पर उसके आंसुओं से धुलकर ओष्ठों से च्युत रक्त रंग की बुंदकियां दिखाई दे रही है ।[2]

अनन्तर पुरुरवा क्रमशः मयूर, कोयल, हंस , चकवा , भ्रमर तथा मतवाले हाथी से उर्वशी का संवाद पूछता है ।[3] इन कथनों में विक्षिप्तता के कोई लक्षण दृष्टिगत नहीं होते । कोई भी कोमलमना प्रियानुरक्त व्यक्ति अपनी प्राणदयिता के वियोग में ऐसी ही कातर मनोदशा की अनुभूति करता है । पुरुरवा बाद में पर्वत , नदी हरिण से उर्वशी का पता पूछता है ।[4] नदी को उसने अवश्य उर्वशी समझने की भ्रान्ति की है ।[5] सहानुभूति न मिलने पर तीव्र उपालम्भ की मुद्रा अथवा अपने भाग्य की विषादपूर्ण स्वीकृति की भावना -- ये प्रतिक्रियाएँ अधिकांशतः ऐसी ही है ।[6]

यदि इस उन्मादावस्था का मनोयोग से अनुशीलन किया जाए , तो ज्ञात होता है कि इसमें कई अवस्थाओं का चित्रण है । "प्राकृत" प्रयोग के अतिरिक्त संस्कृत

१- विक्रम० ४-१६
२- विक्रम० ४-१७
३- विक्रम० ४-१८,२०,२१,२२,२८,२९
४- विक्रम० ४-४९, ५३,५६
५- नदीभावेनेयं ध्रुवमसहना सा परिणता । -- विक्रम० ४-५२
६- अये परावृत्तभागधेयानां दुःखं दुःखानुबन्धि । विक्रम० चतुर्थोऽङ्क पृ० २२६

में सर्वत्र एक ही अवस्था नहीं है । "आः दुरात्मन् रक्षः तिष्ठ-तिष्ठ में जाग्रत्स्वप्न है , किन्तु वस्तुतः आश्रित है , उस स्वप्न जागरण पर जिसका आधार निम्न वाक्य है ।[1] अस्तु नवजलधर में निशाचर की भ्रान्ति न होने के कारण यह प्रतीत होता है कि उसे निश्चय ही विवेक का ज्ञान हो रहा है , अतः उसे जाग्रत्जागर का ज्ञापक मान लेना उचित है । इसके पश्चात् की स्थिति में नृप को स्वप्न का विश्वास हो गया है कि प्रिया को कोई निशाचर ले गया अतः संचेत होने पर भी वह कहता है कि "मैंने सोचा था कि मृगाक्षी उर्वशी को कोई निशाचर हर ले गया किन्तु यहाँ विद्युत से द्युतिमान कृष्ण मेघ जल वृष्टि कर रहा है ।" इस व्याख्यान का कारण यह है कि वस्तुतः वह जाग्रत की भूमि में नहीं उसका विवेक लौट आया है किन्तु कार्य संपादन वह स्वप्न के आधार पर ही कर रहा है । उसे अपने स्वप्न पर पूरा विश्वा स है , अतः इसे सुप्तिजागर की अवस्था कह सकते हैं । नृपेश के चित्त की दशा विचारणीय है , उसने अपभ्रंश के साथ-साथ संस्कृत भी विभिन्न प्रकार की प्रयुक्त की है , अतः प्रकट होता है कि उन्मत भाषा भी एक नहीं ।

श्रीसुरेन्द्रनाथ शास्त्री ने विक्रमोर्वशीयम्" की कल्पलता व्याख्या में प्राकृत पद्यों में विशेष अर्थ समझा है तथा मूल के साथ ही उसका प्रयोग भी किया है । श्रीरंगनाथ की परम्परा का पालन कर उन्होंने स्थिति को स्पष्ट करने का जो प्रयत्न किया उससे सिद्ध होता है कि स्मर की दशम अवस्था अथवा मरण से कवि ने किस प्रकार उन्मत्त

१- आर्याः परित्रायध्वं परित्रायध्वं ।
नवजलधरः सन्नद्धोऽयंन्दृप्तनिशाचरः ॥
-- विक्रम० चतुर्थोऽङ्कः , पृ० २१७

पुरुरवा की रक्षा की है । कालिदास द्वारा प्रयुक्त अपभ्रंश अथवा प्राकृत पाठ प्रक्षिप्त माना गया था किन्तु सम्प्रति इसकी साधुता पर पुनर्विचार होने लगा है । भाषाविदों का कथन है कि जब नाट्यशास्त्र में प्राकृत का विधान है[1] तब उन्मत्त नृपेश के इस प्रयोग में बाधा क्यों करें , क्योंकि उसका उदाहरण अन्यत्र भी प्राप्त है ।

सचेतावस्था में भी पुरुरवा चिन्तित है और इस चिन्तन का परिणाम है कि वह पुनः स्वप्न जागरण देखता है कि "अपने प्रसृत खुरों से मेदिनी को खुरदता हुआ गहन वन में कोल अपने कार्य में लीन है ।"[2]

विचारणीय है कि कवि ने इस कोल का प्रसंग क्यों छेड़ा ? उसने प्रिया का पता तो राजा ने पूछा न था , तब उसका क्या महत्त्व है जो कवि इस प्रकार उसका परिचय दे रहा है । वस्तुतः कोल पृथ्वी के उद्धार का प्रतीक है तथा नृप की भावना में यह उर्वशी के उद्धार का संकेत है । अनन्तर नृप महीधर से वल्लभा का पता पूछता है तथा प्रतिध्वनि द्वारा भ्रमित होकर मूर्छा को प्राप्त करता है ।[3] मूर्छना की अवस्था तथा प्रेम पहुँच गया , तो प्रिया का साक्षात्कार भी हो गया , क्योंकि मरण कवि को इष्ट नहीं । भ्रमवशात् उसने नदी को उर्वशी समझा किन्तु यह अनुचित नहीं क्योंकि स्वयं उर्वशी का भी कथन है ।[4] किन्तु नदी समुद्र के समीप जानेवाले के लिए उतावली है ,

---

१- चन्द्रवली पाण्डेय : कालिदास , पृ० २०१
   नाट्यशास्त्र सप्तदश अध्याय श्लोक सं० २४

२- प्रसृतखरदारितमेदिनिर्वनगहनेऽविचलः ।
   परिसर्पति पश्यत लीनो निजकार्यध्युषितः कोलः । -- विक्रम० ४-४८

३- हा धिक् । ममैवायं कन्दरमुखविसर्पी प्रतिशब्दः ,
   इति मूर्छति । -- विक्रम० चतुर्थाङ्क, पृ० २२९

४- अवस्तृणाति दशदिशो रुद्ध्वा नवमेघकालः । -- विक्रम० ४-५४

अतः उत्तर प्राप्त न होने पर उसका विवेक जाग्रत हो जाता है तथा उसका कथन है फलतः प्रिया से प्रार्थना है कि वह अकारण क्यों त्याग कर रही है । किन्तु निवेदन अस्वीकृत होते ही ज्ञात हुआ है कि यह उर्वशी नहीं बल्कि सरिता है । अतः उसी प्रदेश में पुनर्गमन आवश्यक है जहाँ से उर्वशी लुप्त हो गई है । इसके पश्चात् हरिण, ऐरावत हाथी उसकी दृष्टिपथ में आये । अधुना पुरुरवा को ज्ञात हो गया कि निर्वेद से "श्रेय" की प्राप्ति नहीं होती , अतः वह स्वस्थ चित्त फलस्वरूप जाग्रत्‌जागर दशा में था । अतः दृष्टिपथ में प्राप्त "गज" को पहचानकर उस ऐरावत से कुछ न कहा किन्तु "कृष्णसार" को अवश्य विशेष दृष्टि से देखा मानों वह वनदेवता का नेत्र हो ।[1] फलतः उसने मूलसंस्कृत में प्रिया के सौन्दर्य वर्णन के साथ उसका पता पूछा , कारण यह है कि यही स्त्री के लिए सुखग्राह्य निबन्धन है । किन्तु हरिणीपति ने उसके प्रश्न की उपेक्षा की तथा प्रिया को तन्मयता से देखता रहा । उसके पश्चात् रक्तकदम्ब दृष्टिगत हुआ , जो प्रिया का "शिखाभरण" बना था । मार्ग ज्ञात होने पर प्रकाश भी सम्मुख दृष्टिगत हुआ ।[2] अधिक क्या ? पूषा का संकेत मिला तो मृगराजधारी का आदेश भी कि यह प्रियतमा से सम्मिलन करानेवाले संगमनीय मणि है ।[3] जो शीघ्र ही वल्लभा से मिला देती है पुरुरवा ने कभी अभियान से कहा था ।[4] इस श्लोक से ज्ञात होता है कि यह मेघयुक्त सायंकाल का दृश्य है अतः पुरुरवा का उर्वशी से कथन भी है कि "विद्युत की पताका से युक्त इन्द्रधनुष

१- विक्रम० ४-६०

२- प्रभालेपी नायं हरिहतगजस्यामिषलवः ,
स्फुलिङ्गो वा नाग्नेर्गहनमभिवृष्टं यत इदम् ।
अयं रक्ताशोकप्रसवसमरागो मणिरयं
यमुद्धर्तुं पूषा व्यवसित इवालम्बिततकरः । ४-६३

३- वत्स । गृह्यतां गृह्यतां चतुर्थोऽङ्कः २३३

४- सूर्याचन्द्रमसौ यस्य मातामहपितामहौ ।
स्वयं वृत्तः पतिर्द्वाभ्यामुर्वश्या च भु‍ च यः ॥-- विक्रम० ४-३८

के नवीन । चित्रों से अलंकृत विमान बने हुए नवीन मेघ पर आरूढ़ होकर ही अपने नगर जाऊँ" कवि ने पहले ही स्पष्ट किया है कि वर्षा हो चुकी है ।[१] पुरुरवा के इस प्रस्ताव से प्रकट होता है कि भोगलिप्सा उसमें अभी विद्यमान है । अस्तु , पुरुरवा उर्वशी का प्रणय विमान से ही प्रारम्भ हुआ है अतः परितृप्ति भी वहीं होगी , कवि ने इसका संकेत दिया है । प्रश्न है कि वास्तव में यह कथन किसका है ? सम्भवतः यह पुरुरवा का ही स्वप्न दर्शन है । स्वप्नजागर में वासना की प्रबलता के कारण वियोगी नृप पुरुरवा को इस प्रकार दृष्टिगत हो रहा है । स्वयं उसकी प्रकट स्थिति जाग्रत्स्वप्न की है , जिसमें भावना की तीव्रता के कारण वासना तृप्ति के लिए बीच-बीच में अन्योक्ति के रूप में भिन्नता दृष्टिगत होती है । कामना की प्रबलता के कारण वह जाग्रत्स्वप्न की अवस्था में ही है जाग्रज्जागर का नहीं । तथापि इस अवस्था का ज्ञान उसे होता है जिसने उन्माद में उसके विवेक का सर्वथा लोप नहीं होता । अतः कदाचित् वह कार्य साधनार्थ संस्कृत का प्रयोग करता है तथा अत्यधिक आत्मीयता की भावना में प्राकृत में किं वा अपभ्रंश का व्यवहार करता है तथा उन्मादाधिक्य में नाच उठता है , इस कथन में पाण्डेय जी ने आधुनिक मानसशास्त्री के वचनों को उद्धृत किया है ।[२] पुरुरवा की उन्मत्त दशा

१- स्फुलिङ्गः स्यादग्नेर्गहभिवृष्टं पुनरिदम् ।
गमितेन खेलगमने विमानतां नय मां नवेन वसतिं पयोमुचा ॥ विक्रम० ४-७५

२- Cary's mind was split in another way besides being cut into separate pieces each acting as though the others didn't exist. The sights which met his eyes and the sounds which came to his feelings, so that reality did not call forth the normal emotional respouses.

Eric Berne 'The mind in action' London 1949 P. 197

देखकर उसकी स्थिति की परीक्षा करना आवश्यक है । इसका मूल कारण है कि पुरुरवा उर्वशी का सम्बन्ध काम का है न कि जीवन का ।

"अभिज्ञानशाकुन्तलम्" का उल्लेख करते हुए चन्द्रबली पाण्डेय ने लिखा है "प्रथम अंक में संग , द्वितीय में काम, तृतीय में भोग, चतुर्थ में चिन्ता , पंचम में प्रमाद , षष्ठ में पश्चाताप और सातवें में सिद्धि का प्रतिपादन हुआ है ।"

अभिज्ञानशाकुन्तल में प्रत्यक्ष ही तीन खण्ड है तथा तीनों की मर्यादा भी अलग-अलग है । कण्व का आश्रम गुरुकुल है तथा मारीचि का आश्रम पितृकुल और हस्तिनापुर तो निर्विवाद राजकुल ही है । वस्तुतः यह चित्तवृत्ति की तीन दशाएँ है । कण्व के आश्रम में सात्विक वृत्ति का उदय होता है । अर्थात् "प्रमा" भ्रम और मूढ़ता के द्वारा हम जागरण का भी अध्ययन करते हैं और यह वास्तव में जागर है स्वप्न है किं वा सुप्ति । इस कसौटी पर कसने से यह व्यक्त होता है कि दुष्यन्त की स्थिति इन तीनों अवस्थाओं का परिचय देती है । जाग्रत् जागर की दशा मरीचि खण्ड में है और जागरस्वप्न की कण्व खण्ड में । राजकुल खण्ड में उसके चित्त की तीसरी अवस्था जाग्रत्सुप्ति है । वह राजधर्म की भूमि में जागता है पर कामधर्म की भूमि में शयन करता है । इसमें प्रमाद या विषाद नहीं , प्रत्युत अवसाद है ।

द्वितीय सोपान

योग दर्शन एवं कालिदास

विषय प्रवेश, क्रियायोग, राजयोग, जन्मान्तर, कर्मवाद - पुनर्जन्म, अनावृत्ति, विभूति, सांख्य दर्शन से सम्बन्ध ।

योग दर्शन एवं कालिदास

(मनुष्य जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य समस्त प्रकार के क्लेश , अतृप्ति , वासना तथा प्रकृति पर विजय प्राप्त करके सच्चे सुख, शान्ति, आनन्द की उपलब्धि माना गया है । यद्यपि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए समस्त विवेकशील व्यक्ति, अपनी-अपनी प्रकृति , रुचि तथा बुद्धि के अनुसार विभिन्न प्रकार के साधनों का आश्रय लिया करते हैं , किन्तु सभी का मूल उद्देश्य एक ही है । प्राचीन ऋषि महर्षियों ने इसके लिए जप, तप, उपासना, भक्ति, कर्मकाण्ड आदि अनेक मार्गों का विधान पात्र भेद के अनुसार किया है , किन्तु ये समस्त आत्मोत्थान के सोपान हैं, इनके माध्यम से मनुष्य सांसारिक जीवन में उन्नति प्राप्त कर सुख तथा सफलता प्राप्त कर सकता है तथा देह त्यागोपरान्त स्वर्गप्राप्ति भी हो सकती है किन्तु यथार्थ ज्ञान (प्रज्ञा) प्राप्त कर आत्मा के अन्तिम लक्ष्य कैवल्य अथवा मोक्ष के परमानन्द की प्राप्ति के लिए उच्चतम श्रेणी के साधनों की आवश्यकता होती है) योगमार्ग इन साधनों में अन्यतम है । अन्य साधन मार्गों की अपेक्षा इसकी विशिष्टता यह है कि अन्य मार्ग मात्र विचारात्मक हैं अथवा कुछ सिद्धान्तों की विवेचना मात्र है , वहाँ योग दर्शन पूर्णतः क्रियात्मक है । इसकी सत्यता तथा यथार्थता का अनुभव प्रत्येक अभ्यासी स्वयं कर सकता है ।

योगदर्शन के प्रणेता पतञ्जलि माने जाते हैं जिनके आधार पर योग को पातञ्जल दर्शन भी कहा गया है । कवि की रचनाओं में प्राप्त दार्शनिक सिद्धान्तों के असंख्य उल्लेख तत्काल में प्रचलित आध्यात्मिक विचारधाराओं पर पर्याप्त प्रकाश डालते

हैं । कालिदास द्वारा उपस्थित की गई सामग्रियों को एकत्रित करने पर तत्कालीन दर्शन का एक सुपाठ्य विवरण निर्मित करना सम्भव है । कवि ने सांख्य योग, वेदान्त - मीमांसा प्रभृति समस्त आस्तिक दर्शनों तथा यथोचित प्रसंगों में नास्तिक दर्शनों को भी अपनी सरल वैदर्भी शैली में नगवत् पिरोकर अपनी सुरुचिपूर्ण प्रौढ़ तथा प्रतिभाशाली प्रज्ञा का परिचय प्रदान किया है । कविश्रेष्ठ की रचनाओं के योगतत्त्वों के प्रसंग में कवि ने पतंजलि, श्रीमद्भगवत्गीता तथा उपनिषदों का समन्वय किया है ।

योगदर्शन का प्रारम्भ ही योग के अनुशासन से हुआ है ।[1] श्री पतंजलि ने राजयोग का ही आरम्भ किया है क्योंकि इसमें सभी प्रकार के योगों का समावेश है । कवि की रचनाओं का मननपूर्वक अध्ययन करने से भी यही ज्ञात होता है कि कवि ने अष्टांग युक्त राजयोग को अपनी कृतियों में स्थान प्रदान किया है । युज्यते अनेन इति योगम् व्युत्पत्ति से सिद्ध योग की परिभाषा दो प्रकार से दी जा सकती है । प्रथम अर्थ, जिसे गीता[2] में स्वीकार किया गया है, के अनुसार जीव तथा ईश्वर अथवा आत्मा और परमात्मा का सम्मिलन अर्थात् अद्वैतानुभूति है । तथा द्वितीय वैराग्य का अभ्यास द्वारा चित्तवृत्तियों की एकाग्रता जिसका परिणाम समाधि अवस्था में पहुँचना (स्वरूप प्रतिष्ठा) है । योग दर्शन के भाष्यकार ने योग का अर्थ समाधि बताया है । क्योंकि उसी अवस्था में पहुँच कर वृत्तियों के पूर्णतः विरोध तथा परमात्मा से तादात्म्य की स्थिति प्राप्त हो सकती है । कवि श्रेष्ठ कालिदास ने योग शब्द का प्रयोग

१- अथ योगानुशासनम् । -- यो० सू० १-२

२- योगः कर्मसु कौशलम् । -- गी० २-४०

अधिकता से किया है । योग अथवा मोक्षप्राप्ति और परमात्मा के साथ एकाकार होने के लिए आत्मचिन्तन का उल्लेख हुआ है । अतः योग सम्मत समाधि द्वारा मोक्ष प्राप्ति के अर्थ में कवि भी व्यवहार करता है तथा गीता से समता रखता है । इक्ष्वाकुवंशज रघु द्वारा योग के माध्यम से ही उस परमतत्त्व को प्राप्त करने का उल्लेख कवि सुस्पष्टतः करते हैं । मुक्ति की प्राप्ति के लिए तत्त्वज्ञान पर्याप्त नहीं प्रत्युत योगाभ्यास पर भी बल दिया गया है , कवि ने भी तत्त्वज्ञान को मुक्ति का कारण मानते हुए भी योगाभ्यास का आदेश देते हैं ।[1]

पतञ्जलि ने योग शब्द को पारिभाषित करने में चित्तवृत्ति का उल्लेख किया है जिसका प्रयोग कवि श्रेष्ठ ने भी प्रायशः किया है । सीता परित्याग की वेला में राम की चित्तवृत्ति तथा शकुन्तला के सन्दर्भ में दुष्यन्त की मनःस्थिति होती चित्रित है ।[2] चित्त की पंचावस्थाएँ होती हैं । इनमें मूढ, क्षिप्त तथा विक्षिप्त अवस्थाएँ योग के लिए प्रयुक्त नहीं है । किन्तु एकाग्र तथा विरुद्ध अवस्थाएँ योग के लिए उपयुक्त हैं । कालिदास ने भी शिव समाधि की अवस्था में एकाग्र अवस्था पर संकेत देते हैं । उनकी एकाग्र नेत्रदृष्टि नासिकाग्र पर स्थित थी ।[3] अतः एकाग्र अवस्था वह है , जिसमें चित्त देर तक किसी एक ही विचार पर लगा रहता है । इस अवस्था में चित्त किसी विषय पर विचार या ध्यान करना रहता है । अन्तिम अवस्था निरुद्धावस्था है जिसमें ध्येय विषय का भी लोप हो जाता है , शिव की योगावस्था में समाधिस्थ शिव

१- रघु० ८-२२-२४
२- दोलाचलचित्तवृत्तिः । रघु० १४-३४
३- कुमार० ३-४७

का अविनाशी आत्मा के दर्शन का वर्णन कवि श्रेष्ठ ने किया है , जिसमें चित्त अपनी स्वाभाविक अवस्था में रहता है । एकाग्र तथा निरुद्ध अवस्थाएँ योग के अनुकूल है , क्योंकि उसमें सत्वगुण का अधिकाधिक प्रकाश रहता है , जो आत्मसाक्षात्कार में सहायक है ।

इस चित्त की पंचवृत्तियाँ है , जिसमें विपर्यय ज्ञान को कवि संकेतित करते हैं । विपर्यय ज्ञान में भ्रम तथा संशय भी अन्तर्हित हो जाते हैं । राम की चित्त-वृत्ति का उल्लेख करते हुए कवि का कथन है -- कि "पत्नी सीता पर भीषण कलंक के जनप्रवाह को सुनकर सीतापति राम की चित्तवृत्ति संशययुक्त हो गई कि निर्दोष पत्नी का परित्याग करूँ अथवा इस आक्षेप को टाल दूँ ।"[1] इसी प्रकार का भ्रम दुष्यन्त को भी हुआ था ।[2] समक्ष स्थित शकुन्तला का वह अभिज्ञान न कर सका , किन्तु परोक्ष स्थित उसकी स्मृति उसी प्रकार प्रतीत होती है यथा गज को अगज (प्रिया को अप्रिया) समझना , अतः सर्वप्रथम भ्रम अथवा मिथ्याज्ञान हुआ ।

यह चित्त प्रकृति का प्रथम विकार है जो जड है किन्तु वह आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित हो उठता है तथा आत्मा से प्रतिबिम्बित होकर उसमें चैतन्य का आभास होता है तथा वह विषयाकारक बन जाता है । चित्त की वृत्तियों के निरुद्धी-करण का निरूपण करते हुए भी पतञ्जलि ने लिखा है ।[2]

कवि भी "अभ्यास" द्वारा चित्त की वृत्तियों के निरुद्ध होने का आदेश देते हैं , इनका कथन हैकि अभ्यास द्वारा मन को वश में कर मुक्ति की इच्छावाले

१- किमात्मनिर्वादकथामुपेक्षे जायामदोषामुत संत्यजामि ।
इत्येकपक्षाश्रयविक्लवत्वादासीत्स दोलाचलचित्तवृत्तिः । --रघु० १४-२४
--अभि० ७-३१

२- अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः । -- यो० सू० १-११

योगीगण आपका अन्वेषण करते हैं ।[1] अतः अभ्यास ही चित्त की वृत्तियों के संयम में सर्वोत्कृष्ट हेतु है । इसी अभ्यास की परिभाषा योगसूत्र के समाधि पाद में दी गई है ।[2] श्रीमद्भगवत्गीता में श्रीभगवान् ने अर्जुन को मन के वश में करने के लिए अभ्यास और वैराग्य इन दो उपायों को बताया है ।[3] वैराग्य का अर्थ विषय के प्रति अरुचि है ।[4] इस परिभाषानुसार रघु वैराग्य प्राप्त कर चुके थे । कवि की भारती स्पष्टतः ही रघु को प्रकृति के सत्व, रज तथा तम इन तीनों गुणों पर विजय प्राप्त करनेवाला बताती है ।[5] इस प्रकार आत्मा का ज्ञान हो जाने पर होने और प्रकृति के गुणों का स्वरूप समझ में आ जाने से तृष्णा का सर्वथा अभाव हो जाना ही वैराग्य है , जिसे विवेकख्याति कहते हैं । इसके प्राप्ति के पश्चात् अभ्यास द्वारा चित्त निर्मल होता जाता है । रघु का चित्त भी इसी प्रकार निर्मल हो गया था तथा आत्मानन्द ब्रह्मानन्द की ही प्राप्ति होती है , जिसे रघु ने भी प्राप्त किया था ।[6] यही पर वैराग्य है जिसे योगदर्शन में धर्म-मेघ ज्ञान प्रसाद भी कहा गया है ।

योगदर्शन में दो प्रकार की समाधियों का उल्लेख किया गया है --

(क) सम्प्रज्ञात तथा

(ख) असम्प्रज्ञात ।

१- अभ्यासनिगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम् । --रघु० १०-२३
२- तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः । -- यो० सू०१-१३
३- अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते । -- गी०
४- दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम् । -- यो० सू० १-१५
तत्परं पुरुषख्यातेर्गुण वैतृष्णतम् । -- यो० सू० १-१६
५- रघुप्यजयद् गुणत्रयं प्रकृतिस्थं समलोष्ठकाञ्चनः । -- रघु० ८-२१
६- रघु० ८-२१, २२,२४

सम्प्रज्ञात समाधि में ध्येय विषय का स्पष्ट ज्ञान रहता है यथा शिव का विषय लुप्त हो जाता है तथा आत्मा अपने यथार्थ रूप में पहचान लेती है । इस अवस्था में समस्त चित्तवृत्तियां निरुद्ध हो जाती है तथा आत्मा का सम्पर्क सभी विषयों से हट जाता है । असम्प्रज्ञात समाधि का सर्वोत्तम उदाहरण रघु की तपश्चर्या है जिससे अन्ततः अभ्यास एवं वैराग्य के माध्यम से परमज्योति रूप आत्मा का दर्शन कर लिया था । शिव की समाधि भी असम्प्रज्ञात अथवा निर्बीज समाधि है, क्योंकि उन्होंने समस्त चित्तवृत्तियों पर विजय प्राप्त कर लिया था । इसी प्रकार रघुवंशम् के अष्टादश सर्ग में पुत्र नामक नृपेश का योगाभ्यास द्वारा कैवल्य की प्राप्ति का संकेत मिलता है । कुमारसम्भव में सती का योगबल से शरीर त्याग भी मोक्ष की अवस्था को ही बताता है ।[1] इस निर्बीज समाधि प्राप्त करने का सुगम उपाय योगदर्शन में ईश्वर तत्त्व की उपासना द्वारा बतलाया गया है ।

ईश्वर का स्वरूप

योगदर्शन सम्मत ईश्वर तथा कविशिरोमणि के ईश्वर (ब्रह्म) में पर्याप्त भिन्नता है । कवि सम्मत ईश्वर के गुण वेदान्तसम्मत ब्रह्म के अधिक निकट है, तथापि योगदर्शन के ईश्वर से भी कुछ समता होने के कारण उसका उल्लेख अनुचित नहीं है ।

१- तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः । -- रघु० ८-२४

सती सती योगविसृष्टदेहा तां जन्मने शैलवधूं प्रपेदे ।

-- कुमार० १-२१

योगदर्शन में ईश्वर का मूलतः व्यावहारिक महत्त्व है, क्योंकि योग का मुख्य उद्देश्य चित्तवृत्तियों का निरोध है , जिसकी प्राप्ति प्राणिधान द्वारा सम्भव है । यही कारण है कि यहाँ ईश्वर को ध्यान का सर्वश्रेष्ठ साधन माना गया है । अतः योग का साधारण ईश्वर कवि को अभिमत नहीं , उसने तो प्रकृति पुरुष के ऊपर परमतत्त्व की स्थापना की है । पतञ्जलि ने स्वयं ईश्वर को विशेष प्रकार के पुरुष रूप में पारिभाषित किया है ।[1] इस आधार पर ईश्वर आत्मा से भिन्न नहीं , किन्तु संसार में आया जीवात्मा अविद्या रागद्वेष क्लेश से स्पृष्ट है , इसके विपरीत ईश्वर दुःख कर्मविपाक से अस्पृश्य है । जीव कर्म नियम के अधीन है किन्तु ईश्वर कर्मनियम से स्वतन्त्र है । ईश्वर मुक्तात्मा से भी भिन्न है क्योंकि मुक्तात्मा पहले बंधन में रहता है पश्चात् वह मुक्त होगा , किन्तु ईश्वर नित्य मुक्त है । अतः ईश्वर पुरुष होने पर भी विशेष पुरुष है । उस ईश्वर में सर्वज्ञता का गुण पूर्णमात्रा में[2] प्राप्त होता है । भूत-भविष्यत् तथा वर्तमान में जो स्थूल या सूक्ष्म पदार्थ हैं , उन सबका न्यूनाधिक्य मात्रा में ज्ञान अनेक मनुष्यों को होता है । वह सर्वज्ञ , सर्वशक्तिमान् , अनादि , अनन्त , सर्वव्यापी तथा त्रिगुणातीत है ।

कवि शिरोमणि कालिदास का ईश्वर इन प्रसंगों में योगसम्मत ईश्वर से पूर्णतया साम्य रखता है ।[3] वह अज, नित्य , अनन्त तथा विश्व का अन्त है । स्वयं प्रभुरहित सभी का प्रभु है । सर्वज्ञ, इच्छानुसार तरल-ठोस स्थूल-सूक्ष्म, गुरु-लघु ,

---

१- क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः । -- यो० सू० १-२४
२- तत्रनिरतिशयं सर्वज्ञबीजम् । -- यो० सू० १-२५
३- कुमार० २-९,१०,११,१२,१३,१४,१५,१६
रघु० १०-१८,१९,२०,२१,२२,२३,२४,२५,२६,२७,२८,३१ ।

प्रगट अन्तर्हित होता है । वह अजेय है किन्तु उसने सभी पर विजय प्राप्त की है । वह स्वयं अगोचर , दृश्यमान जगत् का कारण है । निष्काम होते हुए भी तपःशील दयायुक्त तथा दुःख से अपरामृष्ट है । पुराण होकर भी नाशरहित है सर्वज्ञ तथापि अज्ञात है । सभी का आदिस्रोत किन्तु स्वयंभू , निष्पक्ष, निरपेक्ष एवं निष्काम है ।

इन समानताओं के साथ ही साथ विभिन्नता का उल्लेख भी आवश्यक है योगदर्शन में ईश्वर एक ही है तथा कवि ने भी एक ब्रह्म की स्थापना की है तथापि कवि ने लोकविश्वास के आधार पर बहुदेवताओं की सत्ता स्वीकार की है तथा इस दृष्टिकोण से उन्हें बहुदेववादी भी कहा जा सकता है । योगदर्शन में ईश्वर की अधिकता सिद्ध न करने की दो संभावनाएँ हो सकती है ।

(क) अनेक ईश्वर एक दूसरे को सीमित करते हैं , फस्वरूप ईश्वर विचार खण्डित हो जाएगा ।

(ख) यदि अनेक ईश्वर की सत्ता मानी जाएगी तो उनकी अनावश्यकता होगी, फलतः योगदर्शन एकेश्वरवादी ही कहा जाता है ।

महाकवि कालिदास के सम्मुख इस प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित नहीं होती है क्योंकि मूलतः कालिदास एक कवि हैं , जिन्हें जनसाधारण के विश्वस, आस्थाओं के आधार पर ही अपनी रचनाएँ निर्मित करनी हैं अतः वे प्रचलित समस्त देवी-देवताओं का उल्लेख अपनी रचनाओं में करते हैं ।

द्वितीय विषमता इस आधार पर समझी जा सकती है कि योगदर्शन में ईश्वर को विश्व का सृष्टिकर्त्ता , पालनकर्ता तथा संहारकर्ता नहीं माना गया है । विश्व की सृष्टि प्रकृति के विकास के फलस्वरूप ही हुई है । ईश्वर विश्व का स्रष्टा

नहीं, किन्तु वह विश्व की सृष्टि में सहायक होता है । किन्तु कालिदास का अभीष्ट ब्रह्म अथवा ईश्वर आदि में जगत् का स्रष्टा , पुनः पालक तथा संहारक बना देते हैं अतः देवता विशेष की सर्वशक्तिमत्ता और समस्त देवताओं में मौलिक एकता की विद्यमानता में विश्वास रखने पर ही एकेश्वरवाद का सृजन होता है । ब्रह्मा की स्तुति में प्रसंग में कवि एक ही ब्रह्मा को सर्जक, पालकतथा संहारक रूप में स्वीकार कर लेता है । इसी प्रकार विष्णु की स्तुति वेला में भी उन्हें त्रिदेव की संज्ञा प्रदान करता है ।[1]

योग दर्शनानुसार विश्व की सृष्टि प्रकृति तथा पुरुष के संयोजन से आरम्भ होती है तथा दोनों को संयुक्त कराने के लिए ईश्वर की मीमांसा हुई है । अतः ईश्वर विश्व का निमित्त कारण है तथा प्रकृति उपादान कारण है , इस उक्ति की प्रामाणिकता विज्ञानभिक्षु तथा वाचस्पतिमिश्र ने प्रदान की है , किन्तु कविश्रेष्ठ ने जिस ईश्वर का विवेचन अपनी रचनाओं में वर्णित किया है , उस आधार पर उस ब्रह्म को सृष्टिरूप कार्य के प्रति निमित्तोपादान कारण है , यदि उसे मात्र निमित्त कारण मान लिया जाए तो ईश्वर के अतिरिक्त अन्य उपादानों की कल्पना करनी पड़ती है तथा उसकी स्वतंत्रता का विचार भी अनुचित सिद्ध हो जाएगा । अतः कालिदास स्वयं ब्रह्मा की स्तुति के प्रसंग में इन विचारों को प्रकट करते हैं --"हे भगवन् ! आपने विश्व की रचना में सर्वप्रथम जल उत्पन्न करके उसमें ऐसा बीज आरोपित कर दिया है , जिससे एक पक्ष में पशु,पक्षी , मानव प्रभृति चर जीव तथा द्वितीय पक्ष

१- तिसृभिस्त्वमवस्थाभिर्महिमानमुदीरयन् ।
प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां गतः ॥ -- कुमार० २-६
रघु० १०-१६

में वृक्ष, पर्वतादि अचर जगत् की उत्पत्ति हुई है ।" उपादान भी उसकी अपनी सृष्टि है यथा कवि का कथन है कि जल जो ईश्वर की प्रथम रचना है , उसी में बीजारोपण कार्य किया गया । अतः कवि सम्मत ब्रह्म विश्व के प्रति निमित्तोपादान कारण है ।[1]

योगदर्शन में ईश्वर को दयालु , वेदों का प्रणेता , धर्म, ज्ञान तथा ऐश्वर्य का स्वामी माना गया है । योगमार्ग में जो बाधाएं आती हैं , उसे ईश्वर दूर करता है तथा ईश्वर की भक्ति द्वारा निर्बीज समाधि प्राप्त होती है ।[2]

कविशिरोमणि भी त्रिमूर्ति के रूप में देवों की स्तुति में संकेत देते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, तथा महेश प्रत्येक देव अपने-अपने क्षेत्र में तथा अपने-अपने भक्तों के लिए सर्वशक्तिमान् है तथा दयावशात् अवतार भी लेते हैं तथा समस्त धर्म , ज्ञान और ऐश्वर्य का स्वामी है ।[3] "विक्रमोर्वशीयम्" में कवि का कथन है कि उस ईश्वर की प्राप्ति भक्ति तथा प्राणायामादि के माध्यम से प्राप्त कर सकते हैं ।[4]

योगदर्शन में ईश्वर शिव, विष्णु तथा ब्रह्मादि देवों तथा आत्माओं का प्रेरक एवं प्रकाशदाता है ।[5] वह ईश्वर पूर्वोत्पन्न ब्रह्मादिकों का भी गुरु है क्योंकि वह काल से परिच्छिन्न नहीं है । इस गुण से विशिष्ट ईश्वर कालिदास को अभिमत

१- यदमोघमपामन्तरुप्तं बीजमज त्वया ।
   अतश्चराचरं विश्वं प्रभवस्तस्य गीयते । --कुमार० २-५
२- ईश्वरप्रणिधानाद्वा । -- यो० सू० १-२३
३- कुमार० ७-४४
४- स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः । -- विक्रम० १६१
५- स एव पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् । --यो० सू० १-२६

नहीं । कवि अपने अभीष्ट शिव तथा अन्य देवताओं के ऊपर किसी परमतत्त्व की सत्ता स्वीकार नहीं करता । देववात्रय ही परस्पर स्थितिभेद से गुरु के गुरु तथा अनादि अनन्त है ।[1]

उस ईश्वर की संज्ञा योग दर्शन में "प्रणव" ॐ है ।[2] शास्त्रों में ईश्वर की अनेक संज्ञाएँ हैं किन्तु मूल प्रकृति और ईश्वर का जिस स्थान पर सम्बन्ध है, वहाँ से एक "ओऽम्" की ध्वनि निकलती है इसी स्वयं निसृत ध्वनि को योगीगण ध्यानपूर्वक समाधि द्वारा सुनते और ब्रह्मानन्द का आस्वादन करते हैं । अतः योगियों को "ओऽम्" की उपासना करना चाहिए तथा समस्त वेद स्मृतियां इसी "ॐ" को कहती हैं । इन भावों से अनुप्राणित कुछ पंक्तियाँ कवि श्रेष्ठ की रचना "कुमारसम्भव" में प्राप्त होती है । यद्यपि कवि ने विभिन्न देवताओं की स्पष्ट तथा विशद स्तुति की है तथा "प्रणव" का स्पष्टतः प्रयोग किया है ।[3] अन्ततः योगसूत्र में ईश्वर की उपासना की विधि बतलाई गई है प्रणव का जप और अर्थ विचारने से समाधि लाभ होता है ।[4] उपासना को कवि भी प्रश्रय देते हैं । रघुवंशम् में विष्णु की स्तुति के प्रसंग में पुण्डरीकाक्ष को समस्त मार्गों का अन्तिम मार्ग बताया है, जिस पर पूर्ण आत्म समर्पण तथा अपने समस्त कर्मों का त्याग भक्त के लिए आवश्यक था ।[5] कवि शिरोमणि का

१- एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम् । --कुमार० ७-४४
२- तस्य वाचकः प्रणवः । यो० सू० १-२७
३- उद्घातः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम् । --कुमार० २-१२
४- तज्जपस्तदर्थभावनम् । -- यो० सू० १-२८
५- त्वय्यावेशितचित्तानां त्वत्समर्पितकर्मणाम्
गतिस्त्वं वीतरागाणामभूयःसंनिवृत्तये । -- रघु० १०-२७
-- रघु० १०-२३, २४,२५,२६

कथन है कि परमानन्द के मार्ग यद्यपि अनेक है तथा धर्मग्रन्थों में विविध प्रकार से वर्णित है तथापि सभी उसी में आकर मिलते हैं । जिन व्यक्तियों की सांसारिक भोग-कामना पूर्णरूपेण क्षीणता को प्राप्त कर चुकी है तथा जिन्होंने अपने हृदय को उसमें लीन कर दिया है , अपने समस्त कर्मों को उस पर अर्पित कर दिया है, उनकी परमगति के लिए वही एक शरण है । ईश्वर की प्राप्ति भक्ति द्वारा होता है तथा समाधि लाभ होता है इसका उल्लेख शिव के प्रसंग में प्राप्त होता है , इसी के समानान्तर विचार गीता में भी प्रतिबिम्बित होते हैं ।[1] प्रणव के जप द्वारा भी चित्त की चंचलता समाप्त हो जाती है । जप से योग तथा योग से जप तथा दोनों के बल से परमात्मा का ज्ञान होता है । यही अनन्यभाव से लीन होना है । चित्त को सभी ओर से हटाकर ईश्वर में लगा देने की संज्ञा भावना है , उस भावना से क्लेश निष्काम कर्म, कर्मफल , वासनाओं के संस्कार जो जन्म-मृत्यु के कारण है , चित्त से निर्मल हो जाते हैं । सात्विक ज्ञान के संस्कार उदित होते हैं तथा परमात्मा ही ध्येय रह जाता है । यह भावना बारम्बार अभ्यास से दृढ होती है तथा तामसिक गुण का मर्दन हो जाता है । वाग्देवतावतार भी "मालविकाग्निमित्रम्" के नान्दी श्लोक में तामसिक वृत्ति को दूरंगम करने के लिए शिव की आराधना करते हैं ।[2] अभ्यास द्वारा ही यह भावना दृढ होती है यह भी कवि विष्णु स्तुति प्रसंग में उल्लिखित करता है ।[3]

१- यत्करोषि यज्जुहोषि .... । -- गी० ६ २८

२- सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः ।
-- मालविका० १-१

३- अभ्यासनिगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम् ।
-- रघु० १०-२३

क्रियायोग

योगदर्शन के प्रथमपाद में स्वाभाविक शुद्ध चित्तवाले साधकों के लिए योग के मुख्य उपाय अभ्यास , वैराग्य तथा ईश्वरप्रणिधान साधनों का वर्णन किया गया है जिसका उल्लेख कवि की रचनाओं में भी प्रायः प्राप्त है । द्वितीय पाद में साधारण साधकों के लिए चित्त की शुद्धि के सरल उपाय क्रियायोग से प्रारम्भ किया गया है ।[1] वस्तुतः समस्त अष्टांग योग साधन का जो फल समाधि अवस्था की प्राप्ति माना गया है वह तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है । अतः द्वितीय सूत्र में ही क्रियायोग का फल निरूपण किया गया है ।[2] अस्तु क्रियायोग के स्वरूप का कालिदास ने किस प्रकार चित्रण किया यह ज्ञात करना आवश्यक है --

(क) तप - जिस प्रकार धातु अग्नि में तपाने से शुद्ध हो जाती है , उसी प्रकार शारीरिक , मानसिक तथा वाचिक तप से अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है । कालिदास तप का विशद विवेचन अपनी रचनाओं में करते हैं । "शाकुन्तल" में मरीची के तप का वर्णन है[3] कि मुनि समाधि में लीन थे , फलस्वरूप शरीर में चीटियों तथा पक्षियों से घोंसले बना लिए थे । सर्प ने वक्षस्थल पर अपनी केंचुल छोड़ दी थी, तथा लताएँ उनके शरीर पर लिपटी हुई थी किन्तु उनकी दृष्टि एकाग्र होकर सूर्य में

१- तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः । -- यो० सू० २-१
२- समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च । -- यो० सू० २-२
३- वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिरुरसा संदष्टसर्पत्वचा ,
कण्ठे जीर्णलताप्रतानवलयेनात्यर्थसंपीडित ॥
अंसव्यापि शकुन्तनीडनिचितं बिभ्रज्जटामण्डलं ॥
-- अभि० ७-११

निबद्ध थी । ग्रीष्मकाल में जब प्रदीप्त सूर्य पंचमाग्नि के रूप में देदीप्यमान हो , उस वेला में चतुराग्नि के मध्य बैठना तपस्या का द्वितीयरूप है ।[1] शिव को पति रूप में प्राप्त करने के लिए उमा की तपश्चर्या तप की पराकाष्ठा है ।[2] इसके अतिरिक्त दूर्वा पर यापन करनेवाले , प्रखर सूर्य की धूप में प्रज्वलित अग्नि के मध्य स्थित हो स्वकर्मों में आत्म संयमित तथा रुद्राक्ष की माला ग्रहण करना आदि तपस्वियों का उल्लेख कवि अनुकूल स्थितियों में करते हैं ।[3] इस प्रकार शारीरिक तप का अर्थ शीतोष्णता से खिन्न न होना , शरीर पोषण को जो आहार प्राप्त हो उसी से सन्तुष्ट रहना तथा व्रत-उपवासादि करना । कालिदास ने शारीरिक तप का चित्र अपनी अनेक रचनाओं में चित्रित किया है , जिसका विशेष वर्णन मैंने अष्टांग योग के तप प्रसंग में किया है, जो इसी अध्याय में अन्यत्र प्राप्त होगा । मानसिक तप-हिंसात्मक क्लिष्ट भावनाओं को त्याग कर शुद्ध विचारों को मन में धारण करना है। वाचिक तप मौन व्रतादि हैं । मौन व्रतधारी तथा सूर्य में दृष्टि निबद्ध ऋषि द्वारा दक्षिण बाहु उठाकर मूकाशीर्वाद का स्पष्ट चित्र कवि ने चित्रित किया है ।[4]

१- हविर्भुजामेधवतां चतुर्णां मध्ये ललाटंतपसप्तसप्तिः
असौ तपस्यत्यपरस्तपस्वी नाम्ना सुतीक्ष्णश्चरितेन दान्तः ॥ --रघु० १३-४१

२- एषोऽक्षमालावलयं मृगाणां कण्डूयितारं कुशसूचिलावम् ॥ --रघु० १३-४३

३- कुमार० पंचम सर्ग

४- वाचं यमस्त्वत्प्रणतिं ममैष कम्पेन किञ्चित्प्रतिगृह्य मूर्ध्नः ।
-- रघु० १३-४४

(ख) स्वाध्याय[1]-- वेदादि स्वाध्याय से इच्छित देवता एवं तत्वज्ञानी महात्माओं का संसंग होता है । देवता का अर्थ दिव्य गुणवान् विद्वान् है यथाजिस्ऋषि सिद्ध अथवा दृष्ट देवता से परमात्मा का आश्रय ग्रहण हो सकता है । स्वाध्याय तथा प्रणव "ॐ" के जपादि से परमात्मा के साथ संयोग होता है , फिर उसकी सहायता से मुक्ति पद प्राप्त होता है अथवा स्वाध्याय से उपास्य के जिन गुणों की एवं यन्त्र मन्त्र की धारणा की जाती है , तो ध्यान की पूर्ण अवस्था प्राप्त होने पर रजोगुण , तमोगुण शून्य चित्त सात्विकता के प्रकाश में इष्ट आकार में स्थित हो जाता है । रघु के विषय में कवि का कथन है कि रघु मोक्ष की प्राप्ति के लिए तत्वदर्शी योगियों के साथ शास्त्र चर्चा करने लगे ।

(ग) ईश्वर प्रणिधान - मन, वाणी और कर्म से ईश्वर की भक्ति नामरूप गुण लीला प्रभाव आदि का श्रवण , कीर्तन , मनन करके समस्त वृत्तियों को ईश्वर में अर्पण कर देना । देह , इन्द्रियाँ , मन , अन्तःकरण , प्राण एवं उनसे होने वाले कर्मों तथा उनके परिणामों को वाह्य और आभ्यन्तर जीवन को ईश्वर में अर्पण कर देना ईश्वर के विशेष अर्थ "ॐ" का अर्थों की भावना सहित मानसिक जप करना -- ये समस्त ईश्वर प्रणिधान के अंग है । कालिदास के ईश्वर विषयक विचारों का विवेचन पूर्णरूप से करने के कारण यहाँ उसका उल्लेख पर्याप्त है । शिव के प्रसंग में भक्त कालिदास के लिए शिव-शिवा सविग्रह कैलास पर वर्तमान हैं । उन्हीं को कवि अपने समस्त कर्म अर्पित करना है । क्योंकि वे ही उसके अभीष्ट देव हैं ।[2] विष्णु की स्तुति

१- स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः । -- यो० सू० २-४४
२- पू० मे० ६०,६२,४२ आदि

में कवि योगीजनों के कर्मों को उनके चरणों में अर्पित कर रहा है ।[1] शिव स्तुति में कवि उनके लिए ईश्वर पद का प्रयोग करता है जिसको "प्रणव" ,"ॐ" के अतिरिक्त अन्य कोई संज्ञा नहीं दी जा सकती है । इन उल्लेखों से कवि का ईश्वर-विषयक ज्ञान प्रकट होता है ।

इस प्रकार क्रिया योग से चित्त शुध्द होकर समाधि प्राप्त करने योग्य होता है । तप करने से मन , इन्द्रियों और प्राण की मलिनता दूर होती है । स्वाध्याय से अन्तःकरण चित्त विक्षेपों के आवरण से शुध्द होकर समाधिस्थ होने योग्य होता है । ईश्वर प्रणिधान से समाधि की प्राप्ति होती है । क्लेशों के शिथिल होने पर अभ्यास वैराग्य व्दारा क्रम से सम्प्रज्ञात समाधि का लाभ होता है , ऊँची अवस्था में विवेक ख्याति प्राप्त होने पर क्लेशों के संस्काररूप बीज भी दग्ध हो जाते हैं । चित्त का भोग अधिकार समाप्त हो जाता है[2] तथा पर वैराग्य की प्राप्ति होती है , "जब "पर वैराग्य" के संस्कारों की वृध्दि होती है तब चित्त की विवेकख्याति स्थिति भी समाप्त होकर असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है । अतः क्रियायोग प्रथम साधन के रूप में जानना आवश्यक है , इसकी सम्यक् चर्चा कालिदास ने की है ।

राजयोग अथवा अष्टांग योग

क्रियायोग के अतिरिक्त चित्त को समाहित करने के लिए योगदर्शन ने अष्टांगों (साधनों) का अभ्यास आवश्यक बताया है ।[3]

१- रघु० १०-२३
२- न तु सर्प इव त्वचं पुनः प्रतिपेदे व्यपवर्जितां श्रियम् । -- रघु० ८-१३
३- यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि । -- यो० सू० २-२९

१- यम

कायिक , वाचिक तथा मानसिक संयम को यम कहते हैं । इनके पंच प्रकार हैं --

(क) अहिंसा का अर्थ सर्वथा तथा सर्वदा सभी भूतों के ऊपर द्रोह न करना । योगदर्शन में हिंसा को समस्त बुराइयों का आधार माना गया है । कवि ने मात्र एक स्थल पर हिंसा रहित यज्ञ का वर्णन किया है ।[1]

(ख) सत्य का अर्थ मिथ्या वचन का परित्याग अथवा वचन तथा मन में यथार्थ होना है अर्थात् जिस प्रकार देखा या अनुमान किया गया उसी प्रकार वचन और मन को रखना । प्रतापी रघुवंशियों के वर्णन में उनके विभिन्न गुणों यथा तपस्वी जीवन , परमात्मा का ध्यान करते हुए शरीर त्याग का उल्लेख मिलता है , वहीं रघुवंशी सत्य की रक्षा के लिए अल्प वचन बोलते थे ।[2]

(ग) अस्तेय - दूसरे के धन का अपहरण करने की प्रवृत्ति का त्याग ही अस्तेय है ।

(घ) ब्रह्मचर्य चतुर्थ यम है जिसका अर्थ विषय वासना की ओर झुकानेवाली प्रवृत्ति का परित्याग । ब्रह्मचर्य के द्वारा उन इन्द्रियों के संयम का आदेश है जो कामेच्छा से सम्बन्ध रखती है । ब्रह्मचर्य की महत्ता का गुणगान कविश्रेष्ठ भी करते हैं । ब्रह्मचारी रूप में शिव का पार्वती के प्रेम की परीक्षा के प्रसंग में कवि का कथन प्राप्त है ।[3] ब्रह्मचर्याश्रम मानवजीवन का प्रथम चरण है जहाँ छात्रजीवन, अध्ययन तथा

१- मालविका० १-४
२- सत्याय मितभाषिणाम् । -- रघु० १-७
३- अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग्ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा । -- कुमार० ५-३०

गुरुकुल निवास की परम्परा ही मान्य है ।

(ड) अपरिग्रह अर्थात् परद्रव्य स्वीकार न करना

२- नियम[1]

सर्व नियम का अर्थ सदाचार को प्रश्रय देना है ।

तपस् - शीत-ग्रीष्म सहन करने की शक्ति , निरन्तर बैठे अथवा खड़े रहना तथा शारीरिक कठिनाइयों को झेलना ही तपस् है । कवि कालिदास ने नियम के उपांग तपस् को विशेष प्रश्रय दिया है , जिसका अल्प संकेत मैंने "क्रियायोग" में दिया था , सम्प्रति उसका विशद विवेचन यहाँ अपेक्षित है । "कुमारसम्भवम्" में शिव को पतिरूप में प्राप्त करने के लिए उमा का तप चित्रित है । शिवा का तप वस्तुतः तप की पराकाष्ठा है । कन्दर्प के भस्मीभूत तथा शिव के अन्तर्हित होने के पश्चात् उमा ने जिस तप का प्रश्रय लिया वही तप का यथार्थ रूप है । अपने त्रिभुवन-जयी रूप लावण्य द्वारा शिव को आकर्षित करने में असफल पार्वती ने तपश्चर्या का कठोर संकल्प लिया तथा पिता हिमालय से आज्ञा लेकर गौरीशिखर" नामक हिमालय की चोटी पर अपना प्रारम्भिक तप प्रारम्भ किया तथा रक्तवल्कल वस्त्र, जटा, रुद्राक्ष , तथा कमर में मौंजी की त्रिगुण रशना धारण कर लिया ।[2] कुशांकरों के आदान में उनके कोमल हस्त परिक्षत हो गए तथा रुद्राक्ष हस्तों में सुशोभित होने लगे । कठोर भूमि उनकी शय्या बनी तथा बाहुलताओं को उपधायिनी बनाया अर्थात् कठोर

१- शौचसंतोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानिनियमाः -- यो० सू० २-३२

२- प्रतिक्षणं सा कृतरोमविक्रिया व्रताय मौर्व्वीं त्रिगुणां बभार याम् ।
अकारि तत्पूर्वनिबद्धया तया सरागमस्या रसनागुणास्पदम् । -- कु० ५-१०

भूमि पर वे शयन करने लगी तथा अपने चितवनों को त्यागकर शान्त बन गई ।[1] आलस्य का परित्याग कर छोटे-छोटे पौधों को सींचने लगी ।[2] किन्तु इन प्रारम्भिक नियमों द्वारा कार्यसिद्धि सुलभ न देखकर कठोर तप किया तथा कोमलांगिनी जो पितृगृह में कन्दुक क्रीडा में ही क्लेद का अनुभव करती थी , वह पार्वती तपोवन में हवन , पाठ प्रभृति के द्वारा अपनी तपस्या को फलीभूत होती न देखकर जिस कठोर तप का आलम्बन किया , वह निस्सन्देह प्रशंसनीय है । क्षीणकटि, शुचिमुख उमा ग्रीष्मकाल में चतुः अग्नि प्रज्वलित कर उसके मध्य अवस्थित हो देदीप्यमान सूर्य के आलोक पर विजय प्राप्त कर निर्निमेष दृष्टि से उसे देखने लगीं । इस कठोर तप द्वारा उनका मुख सूर्य के प्रखर ताप से मुर्झाया नहीं , प्रत्युत उनके सौन्दर्य श्री में वृद्धि ही हुई ।[3] भोजन के स्थान पर मात्र वर्षा का जल तथा चन्द्रमा की किरणों ही वे ग्रहण करने लगीं अर्थात् भोजन का त्याग कर दिया । वर्षाऋतु में गिरे जल के कण ही उनके भोज्य थे । उनके केशों पर जो वर्षा का जल पड़ता था , वह पलभर उनकी पलकों पर पुनः ओष्ठों का स्पर्श करता हुआ उनके कठोर पयोधर पर गिरकर बूँद-बूँद बनकर फैल जाता था तथा पुनः उनके पेट पर बनी त्रिवली का स्पर्श करता हुआ नाभि तक पहुँचता था । घनघोर वर्षा के साथ-साथ स रात्रिपर्यन्त अनिल बहा करते थे , उन दिनों उमा खुले प्रदेश में शिला पर लेटी रहती थी ।

१- अशेत सा बाहुलतोपधायिनी निषेदुषी... । -- कुमार० ५-१२

२- अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान्घटस्तनप्रस्रवणैः । -- कुमार० ५-१४

३- शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा ।
विजित्य नेत्रप्रतिघातिनीं प्रभामनन्यदृष्टिः सवितारमैक्षत ।-- कु० २-२०

अन्धकाररूपी रजनी अपनी विजलीरूपी नेत्रों से उन्हें उस प्रकार देखा करती थी, मानों वे उनके कठोर तप के साक्षी हों। पौष के जिन रात्रिवेला में शीतल पवन चतुर्दिशाओं में हिमवृष्टि करता था, उन दिनों वे रात्रिपर्यन्त शीतल जल में बैठी रहती थी तथा उनका मुख मात्र दृष्टिगत होता था। अत्यधिक शीतक के कारण उनके अधर कम्पित होते रहते थे तथा वे ऐसी प्रतीत होती थी मानों हिमवृष्टि से हत कमलों के समाप्त हो जाने पर वह ताल उनके मुखकमल से कमलयुक्त हो जाता था। स्वतः विशीर्ण पर्ण का भक्षण कर जीवन यापन करना ही तप की पराकाष्ठा मानी गई है। किन्तु उमा ने पर्णों को भी ग्रहण करना त्याग दिया, अतः उमा को पण्डितों ने अपर्णा कहा। तप ही भारतीय संस्कृति का मूलमन्त्र है, इसकी आराधना से मनुष्य अपनी समस्त कामनाओं की पूर्ति कर सकता है। मदन दहन के अनन्तर भग्नमनोरथा पार्वती ने तप को अपना एकमात्र अवलम्बन बनाया। मेना द्वारा तप की कठिनाइयों को समझाया गया क्योंकि तप अत्यधिक कठिन है। किन्तु उमा जगत् की समग्र आशाओं को त्यागकर इसकी सिद्धि में लीन हो गई। उनकी तपस्या इतनी कठोर थी कि कठिन शरीर से उपार्जित मुनियों की तपस्या उनके सम्मुख प्रभाहीन हो गई। प्रकृति के नाना प्रकार के विषय कष्टों को सहकर वे अपनी कामसिद्धि में सफल होती है।[1] कालिदास ने पार्वती का रहस्य विशेष रूप से प्रकट किया है। पार्वती की तपस्या का फल था -- अलौकिक

१- अयाचितोपस्थितमम्बु केवलं रसात्मकस्योडुपतेश्च रश्मयः।
बभूवः तस्याः किल पारणाविधिर्न वृक्षवृत्तिव्यतिरिक्त साधनः। --कु० ५-२२

२ शिलाशयां तामनिकेतवासिनी निरन्तरास्वन्तरवातवृष्टिषु
व्यलोकयन्नुन्मिषितैस्तडिन्मयैर्महातपः साक्ष्य इव स्थितः क्षपाः। -- कु० ५-२५

उत्कट कोटि का प्रेम और मृत्यु पर विजय प्राप्त करनेवाला महादेव रूप पति । महादेव ही मृत्यु पर विजय प्राप्त कर अपनी स्वतन्त्र स्थिति धारण कर सदा विराजते हैं । आजतक कोई कन्या मृत्युंजय को पतिरूप में पाने में समर्थ नहीं तथा वह प्रेम भी कैसा ? कालिदास ने "तथाविधं" शब्द द्वारा गम्भीर अर्थ की अभिव्यंजना की है । शंकर ने पार्वती को अपने मस्तक पर स्थान दिया है , जो आदर की पराकाष्ठा है , तपस्या ने गौरी को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया है ।[1]

तपस्या करनेवाले ऋषियों के अन्दर विचित्र तेज छुपा रहता है , वे स्वयं शान्तिपूर्वक रहते थे । सूर्यकान्त मणि की भाँति वे स्पर्श में कोमल हैं किन्तु दूसरे तेज के द्वारा अभिभूत होते हुए ही वे जलता हुआ तेज वमन करते हैं ।

शिव के जिस तप का चित्रण कुमारसम्भव में कवि ने अपनी तूलिका द्वारा किया है । वह गीता से समानता रखता है । शिव ने कामनारहित तप किया था । देवदारुओं के अधोभाग में बनी हुई वेदी पर बाघम्बर बिछाकर शिव समाधिस्थ थे ।

१- स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातपूर्ण ।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥
निनाय सात्यन्तहिमोत्किरानिलाः सहस्यरात्रीरुदवासतत्परा ।
परस्पराक्रन्दिनि चक्रवाकयोः पुरो वियुक्ते मिथुने कृपावती ॥
मुखेन सा पद्मसुगन्धिना निशि प्रवेपमानाधरपत्रशोभिना ।
स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः ॥
तदप्यपाकीर्णमतः प्रियं वदां वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः ॥ कु: ५- २४,२५,२६,२७,२८
अवाप्यते वा कथमन्यथा, द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ॥ --कु० ५-२
अद्यप्रभृत्यवनाङ्गि तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिः । -- कुमार० ५-८६
२- शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः ।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोऽभिभवाद्वमन्ति ॥ -- अभि० २-७

वीरासन से शरीर के ऊर्ध्व भाव को निश्चल करके मेरुदण्ड सीधा ताने हुए थे, उनके दोनों स्कन्ध प्रदेश कुछ आगे झुके थे, हथेली के ऊपर हथेली रखे हुए प्रफुल्ल कमल के समान अंक में धारण किए हुए थे। भुजंगों से लिपटी घटनाओं जटाओं वाले, कर्णों से लटकती दोहरी रुद्राक्ष की मालायुक्त, नीलकण्ठ की प्रभा के मिलने से अधिक युक्त कृष्ण मृगछाला कण्ठ में ग्रन्थित कर शंकर नीचे छूटती हुई प्रकाश की किरणों वाले उन नेत्रों से नासिका के अग्रभाग को देख रहे थे, जिन मन्दप्रकाश से युक्त नेत्रों की उग्र पुतलियाँ निश्चल थीं जो भ्रूविक्षेप में अनासक्त थे तथा जिनका निमेषोन्मेष कार्य भी बन्द था। वृष्टि के संक्षोभ से रहित मेघ के समान तथा तरंगरहित ताल के समान प्राणापानादि शरीरस्थ वायुओं का निरोध करके वे निष्कम्प प्रदीप के समान स्थित थे। कपालस्थ विवृत्तिमार्ग से भीतर प्रविष्ट होकर सिर पर फूटती हुई तेज की किरणें कमल से भी अधिक कोमल इन्दु की कान्ति को फीकी कर रही थी। इस प्रकार प्रणिधान से वश में किए हुए मन को, समस्त इन्द्रियों की वृत्तियों से हटाकर हृदय देश में अधिष्ठित करके उस परमात्म तत्त्व को आत्मा में ही प्रत्यक्ष कर रहे थे। त्रिनेत्र शंकर के तपस्वी रूप को देखकर कन्दर्प भयभीत हो गया।[1]

१- प्रान्तेषु संसक्तनमेरुशाखं ध्यानास्पदं भूतपतेर्विवेश ॥
स देवदारुद्रुमवेदिकायां शार्दूलचर्मव्यवधानवत्याम्,
आसीनमासन्नशरीरपातस्त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श ॥
पर्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं संनमितोभयांसम्,
उत्तानपाणिद्वयसन्निवेशात्प्रफुल्लराजीवमिवाङ्कमध्ये ॥
भुजंगमोन्नद्धजटाकलापं कर्णावसक्तद्विगुणाक्षसूत्रम्,
कण्ठप्रभासङ्गविशेषनीलां कृष्णत्वचं ग्रन्थिमतीं दधानम् ॥
किंचित्प्रकाशस्तिमितोग्रतारैर्भ्रूविक्रियायां विरतप्रसङ्गैः,
नेत्रैरविस्पन्दितपक्ष्ममालैर्लक्ष्यीकृतघ्राणमधोमयूखैः ॥
अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरङ्गम्,
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम् ॥

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में भी तपश्चर्या के अनेक संकेत प्राप्त होते हैं । इस नाटक का सप्तमांक पूर्णतः तपस्या की भावना से ओतप्रोत है । हेमकूट नामक पर्वत के वर्णन में मातलि का कथन है कि इस पर्वत पर तपस्या करनेवालों को सिद्धि शीघ्र प्राप्त होती है । मरीची के पुत्र कश्यप अपनी पत्नी के साथ तपस्या में लीन हैं । उनकी कठोर तपश्चर्या का चित्र इस प्रकार अंकित है --

"उनके अर्ध शरीर पर दीपक की वांबी बन गई है , वक्षस्थल पर सर्पों की केंचुल है तथा कण्ठ में शुष्क लताएँ लिपटी है । अंस तक लटकी जटाओं में पक्षियों ने घोंसले बना लिए हैं तथा स्थाणु के समान अचल मुनि सूर्य पर दृष्टि स्थिर किए बैठे हैं ।"[१]

इस वर्णन से ज्ञात होता है कि तप की अवस्था में मुनिगणों को अपने मानवीय शरीर का ज्ञान नहीं होता था । इसके अतिरिक्त शातकर्णी ऋषि द्वारा दर्भांकुर पर जीवन धारण करने का तथा चतुरग्नि के मध्य प्रखर सूर्य तपते हुए मौन व्रतधारी सूर्य में दृष्टि निबद्ध करने वाले सुतीक्ष्ण नामक मुनि[२] तथा धुएँ को पीकर रहने वाले शूद्र शम्बूक का वर्णन प्राप्त होता है ।[३] इस प्रकार तपस्वी अपने उद्देश्यों की

कपालनेत्रान्तरलब्धमार्गैर्ज्योतिः प्ररोहैरुदितैः शिरस्तः ,
-१ कपालसूत्राधिकसौकुमार्यां बालस्य लक्ष्मीं ग्लपयन्तमिन्दोः ॥
मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम् ।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ॥

--कुमार० ३-४३,४४,४५,४६,४७,४८,४९,५०

१- अभि० ७-११

२- रघु० १३-२९,४१,४३,४४,४५

३- अथ धूमाभिताम्राक्षं वृक्षशाखावलम्बिनम् ,
दर्दर्श कंचिदैक्ष्वाकस्तपस्यन्तमधोमुखम् । -- रघु० १५-४९

सिद्धि के लिए तपश्चरण करते थे । लोक व्यवहार में इस प्रकार की मान्यता थी कि तप के प्रभाव से भूत, भविष्य समस्त विचारों का ज्ञान एवं बोध हो जाता था किन्तु एक द्विजातीय करने का अधिकार नहीं था , इस प्रसंग में कवि ने मीमांसा दर्शन विषयक ज्ञान को स्वीकार किया है ।[1]

(घ) स्वाध्याय का अर्थ है शास्त्रों का अध्ययन करना तथा ज्ञानी पुरुषों के कथनों का अनुशीलन । महाराज रघु की मुक्ति के विषय में कवि भारती इस प्रकार है ।[2] इसका पूर्ण विवेचन पूर्वतः उल्लिखित होने के कारण विशेष वर्णन उचित नहीं ।

(ङ) ईश्वरप्राणिधान का अर्थ ईश्वर के प्रति श्रद्धा रखना है । योग दर्शन में ईश्वर के ध्यान को योग का सर्वश्रेष्ठ विषयमाना गया है । इसका विवेचन भी क्रियायोग में किया जा सकता है ।

३- आसन[3]

आसन तृतीय योगांग है । आसन का अर्थ शरीर को विशेष मुद्रा में रखना है । आसन की अवस्था में शरीर का हिलना तथा मन की चंचलता , दोनों का अभाव हो जाता है अतः तन, मन दोनों को स्थिर रखना पड़ता है । शरीर को कष्ट से बचाने के लिए आसन अपनाने का निर्देश दिया गया है । ध्यान की अवस्था में यदि कष्ट की अनुभूति विद्यमान रहे , तो ध्यान में बाधा पहुँचती है , अतः आसन

१- तपस्यनधिकारित्वात्प्रजानां तमधावहम् । --रघु० १५-५०
२- अनपायिपदोपलब्धये रघुराप्तैः समियाय योगिभिः । -- रघु० ८-१७
३- स्थिरसुखमासनम् । -- यो० सू० २-४६

पर विशेष बल दिया जाता है । आसन विभिन्न प्रकार के होते हैं तथा आसन की शिक्षा साधक को योग्य गुरु द्वारा ग्रहण करनी चाहिए । आसन द्वारा शरीर स्वस्थ तथा नीरोग हो जाता है और साधक को अपने शरीर पर अधिकार हो जाता है । सर्वदर्शन संग्रहकार सायण माधवाचार्य ने आसन के दस भेद बताए हैं ।[1]

महाकवि कालिदास ने भी योग साधना की प्रक्रिया में आसनों का निर्देश स्पष्ट रूप से किया है । ध्यानावस्थित अवस्था में ऋषिगण पर्यंक अथवा वीरासन लगाते थे । शिव के समाधिस्थ चित्र को चित्रित करते समय कवि ने सजीव चित्र-सा प्रस्तुत कर दिया है । कुछ स्थलों पर पर्यंकबन्ध को वीरासन की भी संज्ञा दी गई है किन्तु सर्वदर्शनकार ने इन्हें भिन्न-भिन्न आसन माने हैं । शिव इसी आसन में बैठे हैं , उनका अर्धशरीर निश्चेष्ट है , कमलरूप करतलों को जंघों पर ऊर्ध्वमुख रखना उल्लिखित है ।[2] श्रीमद्-भगवद्गीता में भी इस मुद्रा को आवश्यक माना गया है । अन्यत्र कवि पवन के न चलने से स्थिर तरुओं की उपमा वीरासन में लीन ऋषियों से दी गई है मानों वे तपस्वियों की भाँति योग की साधना कर रहे हैं । इन स्थिर आसनों से मन तथा वायु भी स्थिर होती है , शीतोष्ण द्वन्द्व क्लेश नहीं देता है ।

४- प्राणायाम

प्राणायाम योग का चतुर्थांग है । श्वास प्रश्वास को नियन्त्रित करके उसमें एक क्रम लाना प्राणयाम है । शंकर के अर्धनिमीलित एवं स्थिर दृष्टि का नासिकाग्र पर

१- पद्मासन -भद्रासन-वीरासन -स्वस्तिकासन, दण्डकासन , सोपाश्रयपर्यङ्क क्रौञ्च-निषदनो-ष्ट्रनिषदन समसंस्थानभेदाद्दशविधम् । -- यो० सू० २६ का भाष्य , पृ० ११४

२- पर्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं । कुमार० ३-४५
वीराशनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः । रघु० १३-५२

रहना, पंचवायु का शरीर में रुद्धीकरण तथा प्राणायाम विधि का उल्लेख कुमारसम्भव के तृतीय सर्ग में दर्शनीय है ।[1] यही प्राणायाम विधि[1] ईषद् विस्तार के सहित भगवद्-गीता में मिलती है ।[3] यावत्पर्यन्त व्यक्ति का श्वास चलता रहता है , उसका चित्त चंचल रहता है , अतः श्वास के स्थगित होने पर ही चित्त में स्थिरता का उदय होता है । प्राणायाम शरीर तथा मन को दृढ़ता प्रदान करता है , अतः समाधि में प्राणायाम पूर्णतया सहायक है । कविश्रेष्ठ रघु की समाधि प्राप्ति के पूर्व पंचपवनों पर विजय प्राप्ति का उल्लेख करते हैं । शिव द्वारा श्वास प्रक्रिया के विच्छेद का वर्णन "कुमारसम्भवम्" में प्राप्त होता है ।

प्राणायाम के तीन भेद हैं --

(क) पूरक में श्वास लिया जाता है ।

(ख) कुम्भक में श्वास को निरुद्ध किया जाता है , इस परिभाषानुसार रघु तथा शिव का योगबल द्वारा पवनों का निरुद्धीकरण कुम्भक नामक प्राणायाम है ।

(ग) रेचक द्वारा श्वास को बाहर निकाला जाता है । शिव ने समाधिभंग के पश्चात् श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया प्रारम्भ की उन्होंने श्वास को धीरे-धीरे छोड़ा, वह रेचक प्राणायाम का उदाहरण है ।

प्राणायाम द्वारा शरीर तथा मन दृढ़ हो जाता है तथा प्राणायाम के अभ्यास से हृदय सबल बनता है । योगसूत्र के अनुकरण में ही "शिरस्तः"[4] पद का

---------------------अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरंगम् ,

१- अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरंगम् ,
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपं । --कुमार० ३-४८

२- तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः । -- यो० सू० २-४९

३- गी० ४-२९,६-११,१२

४- कपालनेत्रान्तरलब्धमार्गैर्ज्योतिः प्ररोहैरुदितैः शिरस्तः । --कुमार० ३-४९

प्रयोग है इसका संकेत ब्रह्मरन्ध्र अथवा मस्तिष्क के ऊपरी भाग के रिक्त स्थान की ओर है , जो बुध्धि का चरम केन्द्र है तथा उसका सम्बन्ध सुषुम्णा से है । इसी प्रसंग में मेघदूतम् का मानस दर्शन उल्लेखनीय है । मेघदूतम् के योगपक्ष का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि समस्त ब्रह्माण्ड की चित्तशक्ति के रूप में परिव्याप्त अक्षर तत्त्व ही शिव है , जो सहस्रार में प्रतिष्ठित है । त्रिकोणात्मिका (इच्छा, शक्ति एवं क्रिया) शक्ति मूलाधार की शक्तिपीठ में सुस्थित होकर व्यक्ति की चेतना की ओर प्रेरित करती रहती है । यही त्रिकोणात्मिका शक्ति त्रिपुर है । मध्यवर्तिनी शक्ति त्रिपुर सुन्दरी के रूप में विख्यात है , इसी त्रिपुरण या त्रिकोण को वलयित कर निष्काम ज्योति शिखा-सी शान्त बसनेवाले शक्ति की शाब्दिक कल्पना सर्पिणी के रूप में की गई है । शिव के शरीर के विषधर वलयित रहने का यही रहस्य है । मूलाधार में यह शक्तिसर्पिणी शिवज्योति के परितः वलयित है । किन्तु आज्ञाचक्र में शिव पार्वती (शिव सुषुम्णा) का संयोग होने पर कुण्डलिनी का वलयन खुल जाता है , बन्धन मुक्त हो जाता है । शिव सर्पवलय को त्याग देते हैं तथा त्रिपुरविजय के फलस्वरूप त्रिपुरविजयी कहे जाते हैं ।[1] इस योग सिध्धान्त को कवि ने सूत्र ध्वारा संकेतित किया है । कैलासप्रणयी की गोद में स्रस्त गंगानुकूला अलका का वर्णन करते समय शिव महिमा में प्रसंग मे इस श्लोक का उल्लेख किया है । इसका मूल कारण है कि आज्ञाचक्र में कामप्रवेश सर्वथा अलंघ्य निषेध है ।[2]

१- शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकैः पूर्णमायाः,
संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः । -- पू० मे० ६०

२- मत्वा देवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद्वसन्तं
प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम् ॥

---उ० मे० १४

योगी योगसाधना के समय प्राणायाम में लीन रहता है । प्राणायाम की पराकाष्ठा प्राप्त करने पर प्राण षट्चक्र का भेदन करते हुए कपालस्थ जिस रन्ध्र में विलीन हो जाता है , कवि ने उस रन्ध्रद्वार को क्रौंचरन्ध्र कहा । कुण्डलिनी जागरितावस्था में मूलाधार से शिवाज्ञा चक्र में प्रवेश करते समय रन्ध्र से होकर जाती है । भृगुपति ने इसी रन्ध्र का छेदन किया था ।[1] भृगुपति एवं शिव ये सभी चैतन्य के अपर पर्याय है । जिन्हें कालिदास ने मेघदूत में अपनी प्रतिभा के बल पर काव्य प्रतीक का सरस चित्रण संकेतात्मक रीति से उपस्थित किया है । शिव के अट्टहास के प्रति संकेत करते हुए कालिदास ने लिखा है कि क्रौञ्चतट के आगे जो कैलास उपस्थित है वह त्रिलोचन शिव का पुंजीभूत अट्टहास है योग साधना के लिए आरब्ध नृत्य की सिद्धि के होने पर शिव चन्डाट्टहास करते हैं ।[2] प्रस्तुत श्लोक में कवि ने जिस योग पारिभाषित मणितट को इंगित किया है , उसका योग ग्रन्थों में सविस्तर एवं विशद वर्णन मिलता है । तन्त्रयोग ग्रन्थों में विशेषण पादुका पंचक में मणिपीठ की महती महिमा उल्लिखित है । मानव ब्रह्माण्ड में अग्नि के त्रिकोण यन्त्र स्थित है बीजात्मक यन्त्र के समान त्रिकोणमध्य स्थित एक मणिपीठ है । उस पर महोज्ज्वल रजतादि के समान जगद्ब्रह्म परमपुरुष शिव सुशोभित है , जिसके साथ परमाप्रकृति पार्वती आ मिली है । शंकर पार्वती के चरणन्यास से पवित्र पीठ होने के लिए ही मेघ को यक्ष का परामर्श है कि वह स्तम्भितान्त जलौघ होकर शिव-शिवा के मणितट आरोहण के लिए सोपान श्रेणी बन जाए ।[3] देवताओं ने शिव

१- प्रालेयाद्रेरुपतटमतिक्रम्य तांस्तान्विशेषान्हंसद्वारं ,
भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम् । --पू० मे० ६१

२- राशीभूतः प्रतिदिवसमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः । --पू० मे० ६२

३- भङ्गीभक्त्या विरचितवपुः स्तम्भितान्तर्जलौघः ।
सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाग्रयायी ॥ -- पू० मे० ६४

के क्रीडार्थ कैलास (रजतादि) तथा सुमेरु (कनकादि) मन्दर एवं गन्धमादन पर्वत बनाए थे , अतः उन्हें क्रीडाशैल कहा गया है ।[1]

मेरु से मेरुदण्ड की ओर निर्देश है तथा उसी के समीप क्रीडा शैल हैं। कैलास का उसके साथ परस्पर सम्बन्ध बताया गया है जो शिव का क्रीडा स्थल है । केलि शब्द पूर्वक आस् धातु से अच् प्रत्यय करने पर कैलास[2] बना है । उसी कैलास पर एक पक्ष में यक्ष , गन्धर्व , किन्नर , सिद्ध आदि विभिन्न प्रकार के विलास , विहार में लीन है वहीं दूसरे पक्ष में शंकर कठोर तपसाधना में अन्तर्लीन हैं तथा तप सिद्धि के पश्चात् पुनः शक्ति के साथ विवाह करके स्कन्द जन्म की स्थापना के लिए क्रीडाएँ करते हैं । तब इस प्रकार शिव के अधिष्ठान स्वरूप पार्श्व मेरु या मेरुदण्ड का मूलाधार चक्र में कीतिल जो भाग है उसे ही चित्रकूट कहा गया है । चित्रा या चित्रिणी सुषुम्णा नाडी का ही अपर पर्याय है ।[3] यह मूलाधार चक्र के आधार पर प्रतिष्ठित है । वस्तुतः चित्रा का कूट ही वह चित्रकूट या रामगिरि है जहाँ से कामरूप मेघ क्रमशः उत्थानामार्गी होता हुआ कैलासांकविराजिणी अलका को पहुँच जाता है ।

इस प्रकार मेघदूत में अत्युत्कृष्ट रूपक द्वारा कवि ने योगपथ को वर्ण्य विषय बताया है , जो निस्सन्देह अनुपमेय है ।

१- क्रीडाशैले यदि च विरहेत्पादचारेण गौरी । --पू० मे० ६४
२- केलीनां समूहः तदर्थम् आस्यते उपविश्यते यत्र स कैलासः ।
३- आर्थर एलवेन कृत सर्पेंट पावर पादुका पञ्चक भाग , पृ० १६५ डॉ० श्री वासुदेव शरण अग्रवाल के "मेघदूत का अध्ययन : शिव का स्वरूप" निबन्ध से उद्धृत ।

५- प्रत्याहार[1]

प्रत्याहार का अर्थ इन्द्रियों के वाह्य विषयों से हटाना , तथा मन को वश में रखना है । इन्द्रियाँ स्वभावतः विषयों के प्रति उन्मुख होती है । योगाभ्यास के लिए इन्द्रियों का संयम आवश्यक है । प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियाँ विषयों को त्याग कर मन के अधीन हो जाती है । अनवरत अभ्यास , दृढ संकल्प तथा इन्द्रिय निग्रह द्वारा प्रत्याहार को अपनाया जाता है । कालिदास भी इस प्रत्यहार को संकेतित करते हुए लिखते हैं -- "रघु ने इन्द्रियों को वश में करके अपनी सिद्धियाँ प्राप्त की अर्थात् प्रत्याहार योगांक द्वारा इन्द्रियों का निग्रह कर अपना अभीष्ट प्राप्त किया । "कुमारसम्भवम् में शिव समाधि की अवस्था में नवद्वार में होनेवाले वाह्य पदार्थों के साथ ही साथ शारीरिक संसर्गों को रोककर मन को पूर्णतया निगृहीत कर उसे हृदय में स्थिर कर देते हैं ।[2] भगवद्गीता[3] में लिखित नौ द्वार भी शरीर के वे नवद्वार हैं जिनसे होकर मन का चतुर्दिक् वाह्य जगत् से सम्पर्क होता है । अतः इन्द्रियों को वाह्य विषयों से हटाकर भीतर की ओर ले जाता आवश्यक है ।[4]

१- स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः । यो० सू० २-५४

२- मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम् । --कुमार० ३-५०

३- सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् । --गी० ५-१३ एवं ८-१३

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणम् ॥ -- गी० ८-१२

४-.... चेन्द्रियेषु च प्रतिषिद्धप्रपुरेषु जाग्रतो ।
-- रघु० ८-२३

६- धारणा

प्रत्याहार द्वारा जब मन संयमित हो जाता है , तब धारणा नामक योगांग की आवश्यकता होती है । धारणा का अर्थ है चित्त को अभीष्ट विषय पर जमाना । धारणा आन्तरिक अनुशासन का प्रथम सोपान है । धारणा में चित्त किसी एक वस्तु पर केन्द्रित हो जाता है । इस योगांग में चित्त को अन्य वस्तुओं से हटाकर किसी वस्तु विशेष पर केन्द्रित कर देना पड़ता है तथा वह वस्तु बाह्य अथवा आन्तरिक दोनों हो सकती है यथा सूर्य, चन्द्र अथवा देवता विशेष । कुमारसम्भव में शिव का नासिकाग्र पर चित्त को केन्द्रीभूत करने का चित्र कवि ने खींचा है ।[२] सूर्य पर चित्त केन्द्रित करने के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं । अभिज्ञानशाकुन्तलम् में मरीचि पुत्र कश्यप का सूर्य में एकाग्रदृष्टि , रघुवंश में सीता तथा सुतीक्ष्ण का रवि के किरण में चित्त अवस्थित करना और कुमारसम्भवम् में पार्वती द्वारा दीप्तांशु को केन्द्रीभूत करना उल्लेखनीय है ।[३] धारणा पद का स्पष्ट प्रयोग भी रघुवंशम् में प्राप्त है ।[४]

७- ध्यान[५]

ध्यान का अर्थ है अभीष्ट वस्तु का निरन्तर अनुशीलन है । ध्यान की अवस्था में वस्तु का ज्ञान अविच्छिन्न रूप से होता है । सर्वप्रथम विषयों के अंशों का ज्ञान जिसके फलस्वरूप विषय का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है ।

१- देशबन्धश्चित्तस्य धारणा । -- यो० सू० ३-१
२- नेत्रैरविस्पन्दितपक्ष्ममालैर्लक्ष्यीकृतघ्राणमधोमयूखैः । --कुमार० ३-४७
३- अभि० ७-११, रघु० १३-४४,१४-६६, कुमार० ३-४७
४- परिचेतुमुपांशु धारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम् । -- रघु० ८-१८
५- तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । -- यो० सू० ३-२

होता है तत्पश्चात् सम्पूर्ण विषय की रूपरेखा विदित होती है । पवन के अभाव में निष्कम्प वृक्षों की उपमा वीरासन में अवस्थित ऋषियों के साथ करते हुए ऋषियों को ध्यान में लीन रहने का संकेत मिलता है । यहाँ की ध्यान पद का प्रयोग प्राप्त है ।

८- समाधि[३]

समाधि अन्तिम अवस्था है जहाँ मात्र ध्येय वस्तु की ही चेतना रहती है । इस अवस्था में मन अपने ध्येय विषय में पूर्णतः लीन हो जाता है । समाधि की अवस्था में योगी अक्षर में ध्यान लगाता है तथा परम ज्योति को प्राप्त करता है , अतः उसे अपना कुछ भी ज्ञान नहीं रहता । ध्यान की अवस्था में वस्तु का ध्यान , क्रिया और आत्मा की चेतना रहती है , किंतु समाधि में यह चेतना लुप्त हो जाती है तथा चित्तवृत्ति का निरोध हो जाता है । समाधि को योगदर्शन में साधनरूप में चित्रित किया है तथा समाधि की महत्ता इसीलिए है कि उसमें चित्तवृत्ति का निरोध साध्य है । कालिदास ने समाधि का स्पष्टतः विवेचन अपनी रचनाओं में किया है । उन्होंने भी पूर्ण समाधि की अवस्था में योगी को अक्षर ब्रह्म में ध्यान लगाने का चित्रण किया है तथा फलस्वरूप योगी परम ज्योति को प्राप्त करते हैं । गीता में अक्षर ब्रह्म का पूर्ण विवेचन प्राप्त होता है , इस दृष्टि से भी कवि ने क्षेत्र का जो वर्णन किया वह भगवद्गीता में भी विवेचित है ।[४] समाधिस्थ शिव के द्वारा स्वतः प्रकाशमान आत्मा के प्रत्यक्ष का उल्लेख प्राप्त है और रघु ने भी उसी आत्मा का दर्शन किया था । विष्णु भी योगनिद्रा में शयित

१- तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । -- यो० सू० ३-२
२- वीराशनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः । -- रघु० १३-५२
३- तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः । --यो० सू० ३-३
४- यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् । --कुमार० ३-५०
अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते । -- गी० ८-३

चित्रित है ।[1] ध्यानावस्था अथवा समाधि की यह निद्रा सामान्य निद्रा से भिन्न है । इसमें समस्त चेतना का अभाव है , अतः यह मृत्यु की ही एक अवस्था है । यह योगी की निद्रा है जिसमें चेतना एवं स्मरण शक्ति विद्यमान रहती है तथा उस निद्रा विशेष में लीन रहनेवाले अप्रत्यक्ष वस्तुओं तथा भिन्न-भिन्न युगों के व्यक्तियों के सम्पर्क के सुख का अनुभव करता है , जिसमें वस्तुतः सामान्य अवस्था एवं ज्ञान की सीमा भिन्न-भिन्न रहती है । यह पुरुष की एक स्थिति है जो समस्त वस्तुओं का अभ्यासी है अर्थात् ध्यानगत विश्रान्ति । प्रत्येक चतुर्युगी के अन्त में वह ब्रह्माण्ड को प्रलय में लीनकर विश्राम लेता है तथा उसकी नाभि से निकले कमल पर बैठे आदिस्रष्टा उसकी स्तुति करते हैं

समाधि में मन एवं इन्द्रियों की क्रियाएँ पूर्णतः समाप्त हो जाती है । ध्येता समस्त बाह्य जगत् के ज्ञान से रहित होकर आत्मलीन हो जाता है , इसका प्रणिधान शब्द से भी बोध किया गया है । धारणा, ध्यान और समाधि का योगसूत्रों में पूर्ण विवरण मिलता है । प्रणिधान विशेषण युक्त योगी प्रकृति के गुणत्रय पर आधिपत्य प्राप्त कर मृत्तिका तथा सुवर्ण के मूल्य के भेद ज्ञान से शून्य हो , "स्थिरधी" की अवस्था को प्राप्त करता है ।[2] स्थिरधी द्वारा कवि को भगवद्गीता का स्थितप्रज्ञ अभीष्ट है ।[3] उसका हृदय विपत्तियों में विचलित नहीं होता , उसे सुख की कामना नहीं तथा प्रीति भय एवं क्रोध से दूरातिदूर हो जाता है , यह पूर्णशान्ति की अवस्था है पतञ्जलि ने प्रसंख्यान[4] पद का प्रयोग किया है तथा कवि ने भी इस शब्द का प्रयोग समाधि के प्रसंग

१- नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान्पुरुषोऽधिशेते । रघु० १३-६

२- रघुरप्यजयद्गुणत्रयं प्रकृतिस्थं समलोष्ठकाञ्चनः । --रघु० ८-२१
न च योगविधेर्नवेतारः स्थिरधीरा परमात्मदर्शनात् । --रघु० ८-२२

३- दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतभयारागक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ -- गी० २-५६

में किया है ।[१]

कालिदास ने मेघदूतम् में एक स्थान पर करण विगम शब्द का प्रयोग किया है ।[२] इसका अर्थ सुप्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ के अनुसार इस प्रकार है "वहाँ (हिमालय से) शिला पर स्पष्ट दिखाई देनेवाले शिव के पदचिह्न को भक्ति से नम्र होकर प्रदक्षिणा करना । इस चरण चिह्न पर सिद्ध लोग सदा पूजा की सामग्री चढ़ाते हैं । इसके दर्शन से पाप नष्ट होते हैं और श्रद्धावान् लोग शरीर त्याग के पश्चात् सर्वदा के लिए शिव के गणों का स्थिर पद प्राप्त करने में समर्थ होते हैं ।" इसमें मल्लिनाथ ने जो "करण विगमादूर्ध्वम्" का अर्थ किया है --"शरीर त्यागने के पश्चात्" करण शब्द इन्द्रिय वाचक है । इसका अर्थ मल्लिनाथ ने शरीर कर लिया है । किन्तु स्वयं वे स्वीकार करते हैं कि करण का अर्थ इन्द्रिय है । इसका शरीर अर्थ करने के लिए उन्हें कुछ आयास करना पड़ता है । उनके विचारानुसार करण शब्द का अर्थ इन्द्रिय है , इन्द्रिय जिसमें रहे करण अर्थात् शरीर ।[३] करणविगम का अर्थ है इन्द्रियों को उल्टी दिशा में मोड़ना अर्थात् इन्द्रियों को बाहरी विषयों की ओर से मोड़कर अन्तर्मुखी करना । चित्त वृत्तियों को बाहर की ओर से प्रयत्नपूर्वक निवृत्त करके चिदानन्द ज्योति की ओर उन्मुख करना यह आगम शास्त्र का प्राचीन सिद्धान्त है ।

४- प्रसंख्यानेऽप्य कुसीदस्य सर्वथा विवेकख्याते । धर्ममेघः समाधि । --यो० सू० ४-२९
१- तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौलेः ,
    शश्वत्सिद्धैरूपचितबलिं भक्तिनम्रः परीयाः ,
    यस्मिन्दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्धूतपापाः ,
    संकल्पन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्धधानाः ॥ पू० मे० ५६
२- करणानि इन्द्रियाणि क्रियन्ते यत्र तत् करणं वपुः अर्श आदिभ्योऽच ।

यद्यपि कालिदास के सभी टीकाकार जिनमें मल्लिनाथ भी शामिल हैं ये मानते हैं कि उनका परिचय आगम ग्रन्थों से था और अनेक स्थलों में उनके विचारों को स्पष्ट करने के लिए आगमशास्त्रियों का माध्यम भी ग्रहण करते हैं । अतः कालिदास का तात्पर्य यहाँ यह प्रतीत होता है कि शिव के चरणन्यास का दर्शन करने से श्रद्धावान् मनुष्य को इन्द्रियों को वहिर्व्यापार से मोड़कर अन्तर्मुखी करने की शक्ति प्राप्त होती है और शाश्वत गणपद प्राप्त करने में सिद्धि प्राप्त होती है । इसी प्रकार का प्रयोग शूद्रक के मृच्छकटिक नाटक के मंगलाचरण वाले श्लोक में हुआ है ।[1] वहाँ "व्यपगतकरणम्" शब्द क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त है । वहाँ महाकवि शूद्रक का कथन है कि शिव जिस ब्रह्मसमाधि में लगे हुए हैं, उसमें व्यपगतकरण होकर स्वयं स्वयं को देख रहे हैं अर्थात् उनके इन्द्रिय व्यापार वाह्य विषयों से विरत होकर अन्तर्मुखी हो गए हैं और स्वयं में स्वयं को देखने की दृष्टि प्राप्त हो गई है । करणविगम शब्द का प्रयोग कालिदास ने निश्चित रूप से इसी अर्थ में किया होगा । आगमशास्त्रियों ने समाधि के लिए इस प्रकार के अन्तर्मुखीकरण पर बड़ा बल दिया है । अमरौघशासन में कहा गया है कि जहाँ मन से ही मन को देखा जाए वही समाधि है ।[2] मृच्छकटिक के "आत्मन्यात्मनमेव" का भी यही भाव है । कालिदास के ग्रन्थों से स्पष्ट है कि सुन्दर वस्तुओं के दर्शन से मनुष्य की चित्तवृत्तियाँ वाह्य वस्तुओं से हटकर अन्तर्मुखी हो जाती है ।

१- पर्यङ्कग्रंथिबंधद्विगुणितभुजगाश्लेषसंवीतजानो
रन्तः प्राणारोध व्युपरतसकलज्ञानरुद्धेन्द्रियस्य ।
आत्मन्यात्मनमेव व्यपगतकरणं पश्यतस्तत्वदृष्ट्या ,
शम्भोर्वः पातु शून्येक्षणघटितलय ब्रह्मलग्नः समाधिः ॥ -- मृच्छकटिक १-१

२- यत्रमनसामनः समीक्ष्यते ।

जिस चित्र, मूर्ति या पदार्थ में अन्तर्निलीन करने की शक्ति जितनी अधिक होगी , वह उतना ही उत्तम होगा । कालिदास कलाकार को रचना के समग्र समाधिस्थ मानते हैं । यदि चित्र में कोई दोष रह जाता है तो उसका कारण रचयिता की समाधि का शिथिल हो जाना है , क्योंकि चित्र या मूर्ति केवल बाहरी अवयवों का संघटन मात्र नहीं है । जबतक रचयिता के चित्त में स्वयं रस की अनुभूति नहीं होती , तब तक उसका चित्र दर्शक के हृदय में भी रस का उद्रेक नहीं हो सकता । अतः कलाकार अथवा सहृदय को रसानुभूति होनी चाहिए । केवल रसानुभूति की अवस्था में ही कलाकार का चित्त और इन्द्रिय वाह्य विषयों से विरत होकर अन्तर्मुखी होकर समाधि की अवस्था में पहुँचते हैं । समाधि का अर्थ ही है --इन्द्रियों का वाह्य विषयों से निवृत्त होकर अन्तर्मुखी होना । भारतीय आचार्यों के अनुसार जबतक कलाकार के चित्त में स्वयं रसानुभूति नहीं होती, तबतक वह सहृदय को भी रस बोध नहीं करवा सकता । कलाकार अन्तरतर की रसनाभूति को रूप देता है और सहृदय उस रूप का वाह्यप्रत्यक्ष कर धीरे-धीरे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तत्त्व की ओर जाता है । इस क्रिया को कालिदास के शब्दों में "करण विगम" कह सकते हैं । यद्यपि कालिदास ने इस शब्द का प्रयोग भक्ति के प्रसंग में किया है । किन्तु इसे कलाकृति के प्रसंग में भी प्रयोग किया जा सकता है । किसी सुन्दर वस्तु के रस की अनुभूति करणविगम से ही होती है और फिर यदि वह सचमुच सुन्दर हुई तो उसकी छाप मन पर पड़ती है । इसी मानसिक व्यापार का नाम "भाव" है । यदि चित्रकार केवल अर्थ मात्र की अभिव्यक्ति करता है तो सहृदय का भीतर की ओर जानेवाला व्यापार यहीं समाप्त हो जाता है । किन्तु यदि कलाकृति और भी अधिक गहराई से निकली है , तो अन्तर्मुखी व्यापार या भावन व्यापार और भी अधिक गहराई की ओर बढ़ता है

और "करणविगम" की प्रक्रिया तीव्र-तीव्रतर होती जाती है । उदाहरणस्वरूप अभिज्ञान-शाकुन्तल में चित्र लिखित शकुन्तला वस्तुतः शकुन्तला नहीं है , कागज, रंग एवं रेखा है । उससे लौकिक शकुन्तला का काम नहीं चल सकता किन्तु दुष्यन्त उससे ऐसा व्यवहार करने लगा मानो वह सजीव शकुन्तला हो । विदूषक ने राजा को प्रलाप से विवृत्त करने के लिए बताया कि यह चित्र है ।[1] यहाँ इंगित से "करण विगमन की प्रभविष्णुता दिखाई गई है । धारणा , ध्यान तथा समाधि का साक्षात् सम्बन्ध होने के कारण योग प्रवर्तक इस समूह को "संयम" कहते हैं । इसे संयम इसीलिए कहा जाता है कि इन तीनों के सिद्ध होने से अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं क्योंकि समाधि के अंग धारणा, ध्यान है , समाधि अंगी है तीनों का समुदाय संयम है ।[2]

विभूतियाँ

योग साधन में सिद्धियों का वर्णन बड़ा विवादास्पद विषय है । यद्यपि समस्त शास्त्रों और महापुरुषों ने सिद्धियों को जघन्य और मोक्ष मार्ग में विघ्नरूप माना है , तथापि उनका वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है तथा उनकी प्रशंसा भी मिलती है । सामान्य व्यक्ति उन पर विश्वास रखते हैं तथा उनके विचारानुसार वास्तविक योगी का अर्थ सिद्धियों के बल पर असम्भव कार्यों को संपादित करने वाला है । स्वयं पतञ्जलि योगदर्शन में सिद्धियों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है तथा दो प्रकार के अभिमत प्रकट

१- दर्शनसुखमनुभवतः साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन
स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता ।
-- अभि० षष्ठोऽङ्क , पृ० ११८-११९

२- त्रयमेकत्र संयम । -- यो० सू० ३-४

किए हैं ।[1] सिद्धियों का उपयोग मात्र इतना कहा जा सकता है कि इनकी प्राप्ति से योगमार्ग में अग्रसर होते हुए योगी का उत्साह बढ़ता है तथा ये उनके लिए उपाधि के समान है ।

पातञ्जल दर्शन के तृतीय खण्ड "विभूतिपाद" में प्रायः त्रिदश सिद्धियों का वर्णन है । धारणा , ध्यान तथा समाधि के समन्वय "संयम" को प्राप्त करने पर भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान तीनों कालों का ज्ञान हो जाता है ।[2]

कविकुलश्रेष्ठ के समस्त ऋषिगण इस श्रेणी में आते हैं । दिलीप के पुत्रोत्पत्ति न होने के कारण स्वरूप जिस तथ्य का विवेचन करते हैं वह अतीतावस्था में अनुचित व्यवहार द्वारा ही ज्ञात होता है ।

"वसिष्ठजी ने नेत्रों को स्तमित कर ध्यान लगाया तथा योगबल के आधार पर ध्यान किया कि पवित्रात्मा वाले नृप को पुत्र प्राप्त क्यों नहीं हुआ ।"[3] इसी प्रकार का प्रसंग सीता परित्याग की वेला में वाल्मीकि के कथन द्वारा होता है । इसी प्रकार योगबलाधिकारी विशेष बल , बन्द कमरे में प्रविष्ट हो सकता है । कवि ने भी अयोध्या नगरी को नारी रूप में कुश के शयनागार में इसी प्रकार प्रविष्ट करवाया है, जिस सन्दर्भ में कुश ने इन शब्दों का प्रयोग करता है ।[4] इसी प्रकार दिव्य शक्ति प्राप्त योगीजनों

१- ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः । --यो० सू० ३-३७
तद् वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् । --यो० सू० ३-५०

२- परिणामत्रयसंयमादतीतानगतज्ञानम् । -- यो० सू० ३-१६

३- सोऽपश्यत्प्रणिधानेन संततेः स्तम्भकारणम् ,
भवितात्मा भुवो भर्तुरथैनं प्रत्यबोधयत् ॥ -- रघु० १-७४

४- जाने विसृष्टां प्रणिधानतस्त्वां मिथ्यापवादक्षुभितेन भर्त्रा । रघु० १४-७२

४- लब्धान्तरा सावरणेऽपि गेहे योगप्रभावो न च लक्ष्यते । रघु० १४-७

को तप प्रभाव से सुख साधन सामग्री उत्पन्न करने की शक्ति भी प्राप्त थी , यह संकेत भी मिलता है ।[1]

इस प्रकार की अनेक सिद्धियों के व्याख्याकार पतञ्जलि का कथन है[2] इससे यह ज्ञात होता है कि पतंजलि ने यद्यपि लोगों की श्रद्धा और विश्वास के लिए योगदर्शन में सिद्धियों का वर्णन अवश्य किया किन्तु साथ ही साथ यह भी लिखा कि इनको अत्यधिक महत्त्व देना अथवा अहंकार के कारण इनका प्रदर्शन उचित नहीं । इससे योगी का पतन भी होगा तथा वह योगभ्रष्ट श्रेणी में गिना जाएगा । कविकुलश्रेष्ठ ने भी राजयोग को जो उच्चतम एवं श्रेष्ठतम योग है उसे ही स्वीकृति दी है । इस कारण कवि ने संयमीकरण का सूत्र बोधित करवाया है । तत्त्वज्ञानी मृत्यूपरान्त इसी परमतत्त्व में लीन हो जाता है तथा योगियों का दाह संस्कार नहीं होता था । रघु के प्रसंग में भी इसी प्रकार का कथन है कि अज ने तत्त्वज्ञानियों के कथनानुसार रघु को वसुन्धरामाता में समाधिस्थ कर दिया गया है ।[3]

कर्मवाद, भाग्यवाद एवं जन्मान्तर

कर्मवाद योगदर्शन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है । वस्तुतः आर्य-ऋषियों ने योगसिद्ध प्रतिभा के बल से जिस अपूर्व प्रज्ञामन्दिर की रचना की है , उसके शिखर

१- सत्यामपि तपःसिद्धौ नियमापेक्षया मुनिः । --रघु० १-९४
भूयस्तपोव्ययो मा भूद्वाल्मीकेरिति । --रघु० १५-३७

२- तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् । -- यो० सू० ३-५०

३- श्रुतदेहविसर्जनः पितुश्चिरमश्रूणि विमुच्य राघवः ।
विदधे विधिमस्य नैष्ठिकं यतिभिः सार्धमनग्निमग्निचित् ॥ --रघु० ८-२५

पर निर्वाण की ज्योति है और उसकी आधारशिला कर्मवाद तथा जन्मान्तर पर स्थित है ।

कर्मवाद की क्या युक्ति है ? जगत् की ओर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि जगत् में वैषम्य ही वैषम्य है तथा विश्व के वैचित्र्य से सभी स्तम्भित हैं । वस्तुतः विचित्रता, विषमता की दूसरी संज्ञा है । देवसृष्टि , पशुसृष्टि , मनुष्य सृष्टि द्वारा जगत् की विषमता सिद्ध है । कविकुलश्रेष्ठ ने भी विभिन्न पौराणिक देवताओं इन्द्र, यम , स्कन्द , लाङ्गली , मदन की स्तुति करते हैं ।, विभिन्न पशुओं सिंह , हरिण , हस्ती का प्रसंग तथा चतुर्वर्ण मनुष्यसृष्टि सभी का उल्लेख करते हैं । अतः विषमता को कविश्रेष्ठ भी स्वीकार करते हैं । जीव मात्र में ही देहगत विषमता नहीं प्रत्युत जीव की प्रकृति तथा भोग के विषय में भी विषमता दृष्टिगत होती है । मनुष्य में ही कोई सुखी है तथा कुछ दुःखी । स्वयं कालिदास ने भी सुख-दुःख की उपमा चक्र के नेमि से दी है । सुप्रसिद्ध खण्डकाव्य मेघदूतम् में यक्ष को अपनी प्रिया सन्देश है कि जिस प्रकार चक्र की नेमि ऊपर से नीचे तथा नीचे से ऊपर क्रम से घूमती रहती है उसी प्रकार सुख-दुःख की भी अवस्था है ।[1] यह पूर्णतया अन्तःस्रोत द्वारा नियमित है न कि अन्य व्यक्ति अथवा बहिःस्रोत द्वारा । अन्तस्रोत द्वारा कर्मवाद ही संकेतित है ।[2]

किन्तु जगत् की विषमता का कारण क्या है ? सभी को समान रूप से सुख अथवा दुःख क्यों नहीं है । ईश्वर ने ही इस सृष्टि की रचना की है जो दयालु

१- कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा ।
 नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥ --उ० मे० २२

२- सुखस्य दुखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।

सर्वशक्तिमान् , करुणामय हैं । गीता इसकी साक्षी है ।[1]

तत्त्वदर्शी ऋषियों ने सत्य को उपलब्ध कर जीव के हितार्थ जिस सत्य समुच्चय का प्रचार किया , उसमें कर्मवाद प्रधान सत्य है । ऋषियों के मतानुसार आत्मा अज , नित्य , पुरातन सत्य वस्तु है । उसके लिए न जरा है न हि मृत्यु , न उत्पत्ति और न विनाश , तथापि बारम्बार देह से उसका संयोग वियोग होता है , यही जन्मान्तर है । जीव का यह प्रथम जन्म नहीं , इसके पूर्व भी उसके जन्म हो चुके हैं । कालिदास इन्दुमती तथा पार्वती के पुनर्जन्म का स्पष्ट संकेत देते हैं ।[2] इन्दुमती पूर्वजन्म में हरिणी नामक अप्सरा थी तथा पार्वती दक्ष प्रजापति की पुत्री सती । जीव इस जन्म में जिस प्रकार के पुण्य पाप करता है तथा जैसी शुभाशुभ वासनाओं को चित्त में रखता है तथा भले-बुरे विचारों को हृदय में स्थान देता है , उसी प्रकार की भावनाओं को उसने पूर्वजन्म में भी किया था , अतः उसी भावना, वासना तथा क्रिया के फलस्वरूप इस जन्म की प्रकृति तथा भोग नियमित हुआ करते हैं अर्थात् कर्मानुसार फल की प्राप्ति होती है । कालिदास ने भी स्पष्टतया कर्मफल विधान को मान्यता प्रदान की है । इन्दुमती के आकस्मिक निधन पर शोक विह्वल अज को महर्षि वसिष्ठ का सन्देश है कि रुदन व्यर्थ है , क्योंकि आप यदि प्राणों को त्याग दें तथापि प्रिया से सम्मिलन आवश्यक नहीं क्योंकि मृत्यूपरान्त समस्त प्राणी स्वकर्मानुसार भिन्न-भिन्न पथ पर जाते हैं ।

१--------------------

१- समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
-- गी० ९-२०

२- रघु० ८-७९,८०,८१,८२
कुमार० १-२१

३- परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम् । --रघु० ८-८५

इसी प्रकार इन्दुमती पूर्वजन्म में अप्सरा थी किन्तु कुकर्म के फलस्वरूप शाप को प्राप्त हुई तथा मर्त्यलोक में आना पड़ा । अपुण्य अल्प होने के कारण भोग शीघ्र पूर्ण हो गया अतः कर्मफल पूर्ण होने पर उसका आकस्मिक निधन हो गया । सत्कर्मों के कारण ही सती का पार्वती रूप में पुनर्जन्म हुआ । इस प्रकार कवि की रचनाओं में कर्मवाद तथा जन्मान्तर के अनेक प्रसंग प्राप्त है जिनका विवेचन प्रासंगिक है ।

उपर्युक्त कथन से यह ज्ञात होता है कि कर्मानुसार ही सभी की गति है उसमें ईश्वर का कणमात्र भी पक्षपात नहीं है , न हि उसमें करुणा की कमी है । किन्तु ईश्वर ने कर्मानुसार ही फल की व्यवस्था की है । यदि जीव पूर्वजन्म में शुभवासना तथा सत् भावना से प्रभावित रहा है कि तो इस जन्म में शुभ बुद्धि और सप्रवृत्ति के साथ उसका जन्म होता है । इसके विपरीत पूर्वजन्म में कुभावना तथा दुर्वासना से तृप्त रहता है , तब अगले जीवन में अशुभ प्रवृत्ति लेकर जन्म लेता है । इन भावों से अनुप्राणित वर्णन दिलीप के प्रसंग में करते हैं ।[1] जिससे ज्ञात होता है कि जिस प्रकार इस जन्म में किसी को सुखी अथवा दुःखी जीवन को देखकर मनुष्य समझते हैं कि उसने पिछले जन्म में अच्छे या बुरे काम किए थे , उसी प्रकार दिलीप के कार्यों के पूर्ण होने के पश्चात् ही उनके मन की बातें ज्ञात होती थीं । "पूर्वजन्म में शुभकामना तथा सद्भावना से प्रभावित रहने के कारण ही सती पार्वती रूप में उत्पन्न हुई, जिन्होंने शुभ बुद्धि तथा सुप्रवृत्ति के साथ ही जन्म लिया था । अतः कवि ने जगत् की विषमता के लिए इसी कर्मवाद की सहायता ली है । महर्षि बादरायण ने वेदान्तसूत्र में इस सिद्धान्त को

१- फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव । --रघु० १-२०

स्थापित किया है ।[1] जिसके भाष्य में श्रीशंकराचार्य ने लिखा कि जीवगत कर्म का तारतम्य ही वैषम्य सृष्टि का वास्तविक कारण है ।[2] ईश्वर तो निमित्त मात्र है । ब्रह्मसूत्र के इस सूत्र पर रामानुजाचार्य ने पराशर वचन उद्धृत किया है , वहाँ भी ईश्वर को निमित्त माना गया है ।[3] मीमांसकों ने भी कर्म की प्रधानता मानी है तथा उनके मतानुसार कर्म ही विषमता का जनक है तथा ते ईश्वर के अस्तित्व को ही स्वीकार करना नहीं चाहते , अतः कर्म की स्वतः सिद्धि प्रकट की है । अस्तु मीमांसक भी जगत् की विषमता का कारण कर्म ही मानते हैं ।

जगत् में दृष्टिगत विषमता का समाधान कर्मवाद की सहायता से किया जाता है किन्तु उससे सृष्टि के प्रारम्भ में जो विषमता प्रवर्तित की उसका कारण बतलाया जाना क्या सम्भव है ? शास्त्र में सृष्टि का जैसा विवरण मिलता है , उससे ज्ञात होता है कि जगत् में पहले से भी विषमता है ।[4] पतञ्जलि ने भी योगसूत्र में इसी विचार को प्रकट किया है ।[5]

१- वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति । --ब्र० सू० २-४३५

२- सापेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते । किमपेक्षते इति चेत् धर्माधर्मौ अपेक्षते इति वदामः ।......

देवमनुष्यादि वैषम्ये तु तत्तज्जीवगानि एव
असाधारणानि कर्माणि करणानि भवन्ति ।
एवं ईश्वरसापेक्षत्वात् न वैषम्यनैर्घृण्याभ्यां दुष्यति । शङ्कर भाष्य

३- निमित्तमात्रमेवासौ सृज्यानां सर्गकर्मणि ।
प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तयः ॥ रामानुज

४- तस्मात् च देवा बहुधा संप्रसूताः ।
साध्य मनुष्याः पशवो वयांसि ॥ --मुण्डक० २-१-७
तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति । --मुण्डक० २-१-१

५- तासां अनादित्वम् चाशिषो नित्यत्वात् । -- यो० सू० ४-१०

इसी प्रकार जन्मान्तर होने का क्या प्रमाण है ? क्योंकि समस्त दर्शन एक स्वर से पुनर्जन्म अथवा जन्मान्तर पर विश्वास करते हैं। न्याय दर्शन इसे प्रेत्यभाव कहते हैं[1] सांख्य में भी प्रसंगतः जन्मान्तर की चर्चा उठाई गई है, किन्तु इस मत के समर्थन के लिए कोई विशेष युक्ति नहीं दी गई है।[2] योगदर्शन में पतञ्जलि ने पंच क्लेशों का विवेचन किया है, उनका कथन है कि ये पंच सहजात क्लेश संस्कार रूप में निहित देखे जाते हैं। इनमें अन्तिम क्लेश अभिनिवेश (मरणभय) सर्वसाधारण है, आगन्तुक नहीं। पतञ्जलि का कथन है कि यह संस्कार अनादि है क्योंकि जन्म के साथ ही प्राणी पिछले जन्म के दुःख का अनुभव करने के कारण ही इस जन्म में मृत्यु भय रखता है। अतः मूर्ख तथा पण्डित सभी को मरादुःखानुभव जन्य यह संस्कार है।[3]

इस जन्मान्तर पर कविश्रेष्ठ भी विश्वास रखते हैं। जन्मान्तर पद का ही अनेक प्रयोग उनकी रचनाओं में प्राप्त होता है।

रघुवंशम् के अष्टादश सर्ग में बालक सुदर्शन के पराक्रम तथा तीव्र बुद्धि को देखकर कवि की कल्पना है कि पूर्वजन्म में ही शिक्षित क्रिया का इस जन्म में पुनः सीखा है क्योंकि पूर्वजन्म के संस्कार मनीषियों को संक्रमित हो जाते हैं।[4] इसी प्रकार जन्मान्तर पद का अन्यत्र प्रयोग सीता के मर्मभेदी विलाप में भी प्राप्त होता है।[5]

१- पुनरुत्पत्ति प्रेत्यभावः। -- न्या० सू० १-१-१९
   आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः। -- न्याय० सू० ४-१-१०
२- संसरति निरूपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्। -- सां० का० ४०
३- स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः। -- यो० सू० २-९
४- स पूर्वजन्मान्तरदृष्टपाराः स्मरन्निवाक्लेशकरो गुरूणाम्। -- रघु० १८-५०
५- ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः। --रघु० १४-६२

इन श्लोकद्वय द्वारा कवि ने पुनर्जन्म तथा जन्मान्तर दोनों सिद्धान्तों को व्याख्यायित किया तथा वर्तमान जन्म तो स्पष्ट ही है । क्योंकि वर्तमान जीवन प्राप्त सीता अपने पूर्वजन्म में कृत अशुभ कर्मों के प्रारब्ध का भोग इस जन्म में कर रही है तथा वर्तमान जीवन में शुभ कार्यों का सम्पादन करके अपना जन्मान्तर (अगला जन्म अथवा भविष्य में जो जन्म होने वाला हो) को सुधारना चाहती है । इस प्रकार इसमें कवि ने भूत, वर्तमान , तथा भविष्य तीन जन्मों का संकेत दिया है । नृप दिलीप के प्रसंग में कवि "प्राक्तन" पद का प्रयोग किया है" जिसका अर्थ है -- पूर्वजन्म में कृत , अतः यहाँ भी पुनर्जन्म की ही व्याख्या होती है ।[२] अज- इन्दुमती के विवाह प्रसंग में भी जन्मान्तर की व्याख्या है । वहाँ विदर्भदेश की अंगनाओं का कथन है कि अनेक नृपों के मध्य इन्दुमती ने अज का वरण किया , क्योंकि मन जन्मान्तर (पूर्वजन्म) के सम्बन्धों को पहचान लेता है ।[३] पूर्वजन्म में सती तथा जन्मान्तर में पार्वती का जन्म कवि स्पष्टतः विवेचित करता है ।[४] इतना ही नहीं , शिक्षा ग्रहण की वेला में उनकी तीव्र बुद्धि का वर्णन करते हुए कविश्रेष्ठ "प्राक्तनजन्मविद्याः" पद का प्रयोग कर पूर्वजन्म में प्राप्त विद्या का स्मरण कर लिया अर्थ निरूपित करते हैं , जिसके आधार पर जन्मान्तर स्वतः सिद्ध है ।[५] इन्दुमती पूर्वजन्म में अप्सरा थी ।[६] तथा तृण बिन्दु नामक ऋषि के क्रोध

१- साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये ।
भूयो यथा मे जनन्तान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः । -- रघु० १४-६६

२- फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव ।--रघु० १-२०

३- मनो हि जन्मान्तरसंगतिज्ञम् । -- रघु० ७-१५

४- अथावमानेन पितुः प्रयुक्ता दक्षस्य कन्या भवपूर्वपत्नी
सती सती योगविसृष्टदेहा तां जन्मने शैलवधूं प्रपेदे । --कुमार० १-२१

५- स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः। --कुमार० १-३०

६- प्रणिधाय समाधिभेदिनीं हरिरस्मै हरिणीं सुराङ्गनाम् । -- रघु० ८-७९
स तपः प्रतिबन्धमन्युना प्रमुखाविष्कृतचारुविभ्रमाम् ।
अशपद्भव मानुषीति तां शमवेलाप्रलयोर्मिणा भुवि ॥ --रघु० ८-८० ।

भाजन बनकर मर्त्यलोक में "इन्दुमती" मानवी शरीर लेकर उत्पन्न हुई ।

इन उदाहरणों से यह ज्ञात होता है कि कविश्रेष्ठ कर्मवाद तथा जन्मान्तर के सिद्धान्त को स्वीकार करते थे अन्यथा अनेक स्थलों पर इस प्रकार का उल्लेख कदापि न करते । कर्मवाद के सन्दर्भ में योगदर्शन में विशद व्याख्यान प्राप्त है अतः उसी के आधार पर कर्मवाद की शेष व्याख्या उचित प्रतीत होती है ।

कर्म क्या है ? अन्तर्दृष्टि करने पर यह ज्ञात होता है कि आत्मा की तीन शक्तियाँ हैं --

क- इच्छाशक्ति

ख- क्रियाशक्ति तथा

ग- ज्ञान शक्ति ।

ज्ञानशक्ति की क्रिया चिन्तन , इच्छाशक्ति की वासना तथा क्रियाशक्ति की चेष्टा है । इस त्रिविध कियाचिन्तन , वासना तथा चेष्टा का ही साधारण नाम कर्म है ।

कर्मफल कर्म से स्वतन्त्र नहीं , प्रत्युत कर्मफल कर्म का उत्तर रूप तथा कर्म कर्मफल का पूर्वरूप है । कर्मफल का परोक्ष तथा साक्षात् दो प्रकार का फल हो सकता है ।

"कर्म" पद का प्रयोग कविशिरोमणि की रचनाओं में प्राप्त होता है । दशरथ के उदाहरण द्वारा साक्षात् कर्म का ज्वलन्त उदाहरण हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है । अन्धकपति के एकमात्र पुत्र श्रवणकुमार को त्रुटिवशात् हाथी समझ कर शरविद्ध करनेवाले

१- परास्य शक्तिर्विविधा च माया ,
 स्वभाविकी ज्ञान-बल क्रिया च ॥ -- श्वेत० ६-८

दशरथ को मुनि दम्पति का श्राप मिला कि इस उत्कटअपुण्यात्मक कर्म के फलस्वरूप तुम्हारी मृत्यु भी पुत्र वियोग में ही होगी। यह सर्वविदित है कि दशरथ की मृत्यु का कारण राम वियोग ही रहा, स्वयं दशरथ ने भी कहा है।[1] इसके विपरीत कठोर तप द्वारा पुण्य कमाकर पार्वती ने उसी जन्म में मृत्युंजय को पतिरूप में प्राप्त कर लिया, किन्तु प्रायः परोक्ष फल की ही प्राप्ति होती है अर्थात् कर्म का भोग जन्मान्तर में होता है यथा हरिणी अप्सरा का जन्मान्तर में विदर्भराज की अनन्तरजा बनकर आना जिसका नाम इन्दुमति रखा गया।[2] गन्धर्वराज प्रियदर्शन का पुत्र प्रियम्बद भी अशिष्ट व्यवहार के फलस्वरूप हाथीरूप में परिवर्तित हो गया।[3] अतः प्रायः भोग अगले जीवन में महर्षि मनु के वचन के समान है।[4]

इस प्रकार कर्म का भोग अवश्य ही भोगना पड़ता है तथा यावत्पर्यन्त इस फल का भोग पूर्ण नहीं होता, कर्मनाश नहीं हो सकता।[5] कर्म का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है, वह कर्म पुण्यात्मक अथवा अपुण्यात्मक जो भी हो।[6] पुण्य का फल सुख है, पाप कर्म का फल दुःख। अतः पतञ्जलि ने भी इन आशय को प्रकट किया है।[7] इसका साक्षात् उदाहरण दशरथ तथा पार्वती हैं।[8] अपुण्य कार्य के फलस्वरूप

१- राजाऽपि तद्वियोगार्तः स्मृत्वा शापं स्वकर्मजम्। -- रघु० १२-१०
२- रघु० ८-७९,
३- मतङ्गशापादवलेपमूलादवाप्तवानस्मि मतङ्गजत्वम्।
अवेहि गन्धर्वपतेस्तनूजं प्रियंवदं मां प्रियदर्शनस्य। --रघु० ५-५३
४-फलति गौरिव मनुस्मृति
५- नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।
६- अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
शुभाशुभं च यत्कर्म बिना भोगान्न तत्क्षयः। --ब्रह्मवैवर्त कृष्ण जन्मखण्ड ८४
७- ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्। -- यो० सू० २-१४
८- रघु० १२-१०, तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः। -- कुमार० ५-२

दुःखमय मृत्यु नृपेश को प्राप्त हुई तथा पुण्यात्मक कार्य तप का फल पार्वती को प्राप्त हुआ ।

कर्म तीन प्रकार के हैं चिन्तन , वासना और चेष्टा । मनुष्य इस जन्म में अनेक कर्म करता है , वह अनेक चिन्तन , वासना तथा चेष्टाओं का कर्ता है । यह उसका क्रियमाण कर्म है किन्तु यह उसका प्रथम जन्म नहीं । इसके पूर्व भी उसके कई जन्म हो चुके हैं , गीता भी इसकी साक्षी है ।[1] इस क्रियमाण कर्म का विवेचन कालिदास बहुलता से करते हैं । सीता परित्याग की वेला में सीता राम को दोषी नहीं ठहराती किन्तु उसे अपने पूर्वजन्म के फल के रूप में स्वीकार करती है ।[2] किन्तु जीवन में सूर्य में दृष्टि निबद्ध कर तप करने का निश्चय करती है क्योंकि यह क्रियमाण कर्म ही जन्मान्तर में प्रारब्ध कर्म बन जाएगा , जिसका भोग अवश्यंभावी है । किन्तु पुण्यात्मक क्रियमाण कर्म के सम्पादन से सत्कर्म संचित होगा तथा जन्मान्तर में राम ही पति में प्राप्त होंगे जिनसे कभी वियोग न होगा । इसी प्रकार अतिथि को ऋषिगणों द्वारा प्राप्त आशीर्वचनों का योग जन्मान्तर में होना ही कवि को अभीष्ट है , क्योंकि इस जीवन में वे पूर्वजन्म में पुण्यात्मक क्रियमाण कर्म के फलस्वरूप सत्कर्मों का ही भोग कर रहे थे ।[3]

१- बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन । -- गी० ४-५

२- ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः ।
-- रघु० १४-६२

३- ते प्रीतमनसस्तस्मै यामाशिषमुदैरयन् ।
सा तस्य कर्मनिर्वृत्तैर्दूरं पश्चात्कृता फलैः ॥
-- रघु०१७।१८

अतः जो जीव क्रियमाण कर्म का कर्ता है , वही जीव उन उक्त कर्मों का भी कर्ता है । प्राक्तन का अर्थ है --पूर्ववत् अर्थात् पूर्वजन्म में किए हुए कर्म । अतः हमारे पूर्वजन्म में कृत अथवा इस इन जन्म में क्रियमाण कर्म या तो शुभ , पुण्य , सुकृत होंगे अथवा अशुभ, पाप , दुष्कृत होंगे तथा कृत कर्म का फल भोगना ही पड़ेगा । बिना भोग के कर्म क्षीण नहीं होता । उसी जीवन में कर्म का पूर्ण भोग नहीं होता , अतः शेष जन्मान्तर के भोग के लिए संचित बना रहता है । इसी अभुक्त प्राक्तन कर्म को संचित कर्म कहते हैं । अतः साधारणतया कर्म दो भागों में विभक्त है[1]--

क- क्रियमाण तथा

ख- संचित ।

प्राक्तन कर्मों में जिस निर्दिष्ट अंश को भोगने के लिए नवीन जन्म से पहले काल प्रेरणा करता है , वही प्रारब्ध है ।[2] अतः कर्म मुख्यतया तीन प्रकार के होते हैं ।

(I) संचित ,

(II) प्रारब्ध तथा

(III) क्रियमाण ।

संचित कर्म तो क्रियमाण कर्म के ही उत्तर रूप है अर्थात् इस जन्म में किए गए समस्त कार्य जन्मान्तर के लिए संचित हो जाते हैं , जिनका प्रारब्ध रूप होकर

१- क्रियमाणश्च यत्कर्म वर्तमानं तदुच्यते ।
अनेकजन्मसञ्जातं प्राक्तनं सञ्चितं स्मृतम् । -- देवी भागवत ६-१०, ९-१२

२- संचितानां पुनर्मध्यात् समाहृत्य कियत् किल
देहारम्भे च समये कालः प्रेरयतीव तत्
प्रारब्धं कर्म विज्ञेयं देवीभागवत ६-१०, ९-१३

जन्मान्तर में भोगना पड़ता है ।[1] निसर्गकन्या शकुन्तला दुष्यन्त के कठोर परुष एवं अनैतिक व्यवहार को अपने पूर्व जन्मान्तर के कर्मविपाक अर्थात् प्रारब्धकर्म के फलस्वरूप ही स्वीकारती है ।[2] दशरथ ने मात्र शब्द पर लक्ष्य कर शब्दवेधी वाण चलाया था । हत्या के स्थल पर श्रवणकुमार को देखकर विषाद तो उन्हें अवश्य हुआ किन्तु प्रारब्ध के अनुसार शीघ्र मृत्यु को प्राप्त किया ।[3] सीता भी राम के व्यवहार को निष्ठुर न बता अपने भोग रूप में ही स्वीकार करती है ।[4]

अतः दार्शनिकों ने प्रारब्ध कर्म की तुलना धनुष से छूटे तीर से की है । धनुषधारी यदि तीर छोड़ता है तो वह जिस प्रकार लक्ष्य पर पहुँचेगा उसी प्रकार जिस प्रारब्ध कर्म का भोग प्रारम्भ हो गया है , वह भोगना ही पड़ेगा । दुष्यन्त ने भी इस सिद्धान्त को संकेतित करता है ।[5] जिस जन्म से जिस कर्म का भोग होगा , उसे अनुरूप वासना का प्रकाश जीव के चित्तक्षेत्र में होता इस प्रकार भोग का सामंजस्य बना रहता है । इसके पश्चात् पतञ्जलि का कथन इस प्रकार है ।[6] अभिज्ञानशाकुन्तलम् में प्राप्त वर्णन के उल्लेखद्वारा इसे समझा जा सकता है ।[7] वस्तुतः पुनर्जन्म के सन्दर्भ में

१- प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः ।
२- कस ते भागधेयानि पृच्छ । -- अभि० सप्तमोऽङ्कः , पृ० १४१
३- परित्यक्तमत्सरेणानुकम्पिताऽस्मि देवेन । -- अभि० सप्तमोऽङ्क, पृ० १४१
४- रघु० १४।६२
५- भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र । -- अभि० १-१६
६-.... त्रिविधमितरेषाम् । --यो० सू० ४-७
ततः तद्विपाकानुगुणानामेव अभिव्यक्तिर्वासनानाम् । --यो०सू० ४-८
जातिदेशकालव्यवहितानामपि आनन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोः एकरूपत्वात् । --यो० सू० ४-९
७- रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्, पर्युत्सुकी भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं, भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि । --अभि० ५-२

यह ध्यातव्य है कि आत्मा एक शरीर से द्वितीय शरीर में जन्म लेने में आत्मा लाभप्रद अनुभव , ज्ञान एवं भावों को अचेतन मस्तिष्क में संचित कर लेती है । सामान्य व्यक्तियों के लिए यह ज्ञान एवं अनुभव व्यर्थ ही जाते हैं किन्तु जिन्हें तपस्या अथवा योग द्वारा विशेष शक्ति प्राप्त हो वे ही इस पूर्वानुभव के कोषों से लाभ उठाते हैं । कवि स्पष्टतः "भावस्थिराणि" पद का प्रयोग करते हैं । जिस काल में योगी पूर्वजन्म के विषय में चिन्तन करता है , उस काल में उत्कण्ठा तथा आकुलता का उल्लेख कवि करता है । दुष्यन्त अपनी आकुलता का कारण पूर्वजन्म के आनन्ददायी संस्कार मानता है । इसी प्रकार रघुवंश में पुरुषोत्तम राम का उल्लेख प्राप्त है जो पूर्व जन्म की घटनाओं को भली प्रकार स्मरण करने में असमर्थ है , यावत् पूर्वजीवन के वामनावतार रूप में जिस कुटी से सुपरिचित थे , वहाँ पहुँचते ही अनिर्वचनीय आनन्द तथा उदासी के भाव से ओत-प्रोत हो जाते हैं ।[1] इन्दुमती अज का उदाहरण भी हमारे सम्मुख कवि रखते हैं । इन्दुमती स्वयंवर को अनेक महान् तथा यशस्वी नृपों से सुशोभित किया था किन्तु इन्दुमती ने इक्ष्वाकुवंशीय अज का ही वरण किया । कवि कहते हैं --"यदि ब्रह्मा ने इस सुन्दर युगल को परिणय बन्धन के सूत्र में न बाधा होता तो उन्होंने जो इतनी सुन्दर दो कल्पनाएँ निर्मित की उसका निर्माण व्यर्थ होता । निश्चय ही रूप से ये दोनों पूर्वजन्म में रति और कन्दर्प रहे होंगे , अतः सहस्र नृपों के मध्य स्वयंवर में इन्दुमती ने अज को प्राप्त कर लिया क्योंकि पिछले जन्म की स्मृति एवं संस्कार तो बने रहने के कारण शीघ्र पहचान लिए जाते हैं ।[2]

१- वामनाश्रमपदं ततः परं पावनं श्रुतमृषेरुपेयिवान् ।
उन्मनाः प्रथमजन्मचेष्टितान्यस्मरन्नपि बभूव राघवः ॥ -- रघु० ११-२२

२- रघु० ७-१४, १५

अतः कर्म और भोग के मध्य अनेक जातियों, देश काल का आनन्तर्य रह सकता है, किन्तु इनसे कोई हानि नहीं होती, क्योंकि उनका सामंजस्य बना रहता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कर्म करने पर उसका भोग करना ही पड़ता है। कर्म दो प्रकार के है -- (क) पुण्य तथा (ख) पाप। पुण्य का फल सुख तथा पाप का दुःख।[1] अतः सुख पाने का एकमात्र उपाय धर्माचरण है तथा अधर्माचरण का अवश्यंभावी फल दुःख है, अतः प्राचीन पुरुषों ने इस प्रकार कहा है।[2] महाभारतकार भी इसी उक्ति को बताते हैं कि जिस प्रकार बीज के बिना अंकुर नहीं उगता उसी प्रकार सुकृत के बिना सुख नहीं होता।[3] प्रश्न है इस सुकृत अथवा दुष्कृत का फल भोग कब होता है। जिस जन्म में वह समस्त पाप पुण्य किया जाता है अथवा अन्य जन्मों में। सामान्यतः कर्मफल इस जन्म में प्राप्त नहीं होता किन्तु उत्कट कर्म का फल इसी जन्म में प्राप्त होता है।[4] पतञ्जलि भी उसका अनुमोदन करते हैं।[5] इसका सर्वोत्तम उदाहरण महाराज दशरथ का प्रसंग है। शब्द पर लक्ष्य कर नृपेश ने शब्दवेधी बाण चलाया, फलस्वरूप मुनिकुमार की हत्यारूप अत्युत्कट दुष्कृत कर्म के कारण पुत्र

१- ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्। --यो० सू० २-१४
ते जन्मायुर्भोगाः पुण्यहेतुकाः सुखफला अपुण्यहेतुका दुखफला इति। --व्यासभाष्य, पृ० ७६
यथा यथा कर्मगुणं फलार्थी करोत्ययं कर्मफले निविष्टः।
तथा तथायं गुणसंप्रयुक्तः शुभाशुभं कर्मफलं भुनक्ति। --महा० शा० प० २९१-११
२- नाबीजाज्जायते किञ्चित् नाकृत्वा सुखमेधते।
सुकृतैर्विन्देत सौख्यं प्राप्य देहमयं नरः। शां० प० २९१-१२
४- अत्युत्कटैः पुण्यपापैरिहैव फलमश्नुते। व्यासभाष्य पृ० ७६
५- क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः। यो० सू० २-१२
२- सुखं हि जगतामेकं काम्य धर्मेण काम्यते।

वियोगरूप दुःख तथा अकालमृत्यु का भोग करना ही पड़ा ।[1] व्यास भाष्य में इस तत्व को विशद करने के लिए दो दृष्टान्त प्राप्त है[2] नहुष तथा नन्दीश्वर । इन्द्र का पद प्राप्त कर नहुष ने अभिमान के कारण अगस्त्य मुनि को सताना प्रारम्भ कर दिया था, उसके इस उत्कट कर्म के फलस्वरूप उसे अजगर सर्प बनना पड़ा था । कवि ने भी इस उदाहरण को अपनी प्रौढ़तम रचना "रघुवंशम्" में राम-सीता वार्तालाप में प्रस्तुत किया है ।[3] चतुर्दश वर्षों के पश्चात् वनवास तथा रावण पर विजय प्राप्त कर पुष्पक विमान से लौटते हुए राम ने सीता को अगस्त्य मुनि की महत्ता बताई है । उर्वशी भी पुरुरवा के साथ गंधमादन पर्वत पर विहार करने गई तथा ईर्ष्याग्नि से क्रोधित होकर कुमारवन में प्रविष्ट होकर वासन्ती लता में परिवर्तित हो गई ।[4] किन्तु प्रायः कर्म का भोग जन्मान्तर में ही होता है । कबन्ध का राक्षस रूप में[5] गौतम वधू का शिलामयी[6] तथा प्रियम्बद का मतंग रूप में भोग दुष्कर्मों के फलस्वरूप ही होता है ।[7] किन्तु उत्कृष्ट कर्म के फल रूप में पार्वती ने उसी जीवन में शिव को प्राप्त कर लिया था, अतः कर्म-फल मूलतः धर्मनीति पर आधारित है ।[8]

१- रघु० १२-१०
२- दृष्टजन्मवेदनीयस्त्वेकविपाकारम्भी भोगहेतुत्वात्,
   द्विविपाकारम्भी वा आयुर्भोगहेतुत्वात्,नन्दीश्वरवन्नहुषवद्वा इति । --व्यासभाष्य, पृ०७३
३- भ्रूभेदमात्रेण पदान्मघोनः प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार । -- रघु० १३-३६
४- या किल स्त्री इमं प्रदेशं प्रविशति सा लताभावेन परिणंस्यतीति । --विक्रम० चतुर्थोऽङ्क, पृ० २३६
५- वधनिर्धूतशापस्य कबन्धस्योपदेशतः ।
   मुमूर्च्छ सख्यं रामस्य समानव्यसने हरौ । --रघु० १२-५७
६- प्रत्यपद्यत चिराय यत्पुनश्चारु गौतमवधूः शिलामयी ।
   स्वं वपुः स किल किल्बिषच्छिदां रामपादरजसामनुग्रहः ॥ --रघु० ११-३४
७- रघु० ५-५३
८- तथाविधं प्रेमपतिश्च तादृशः । कुमार० ५-२

कर्म जिनमें कामना (काम), चिन्तन (क्रतु) तथा चेष्टा (कृति) का समन्वय है, अतएव कर्म के तीन भेद हैं। सर्वप्रथम कामाना होती है अथवा वासना। एक जन्म की वासना अगले जन्म को किस प्रकार नियमित करती है ? वस्तुतः कामना जीव को काम्य वस्तु के साथ संयुक्त कर देती है, जहाँ पर काम्य वस्तु है, वहीं जीव जाता है।[1] वृहदारण्यक में भी कहा गया है कि जिसका मन जिसमें आसक्त है, उसी स्थान में कर्म उसे ले जाता है।[2] कालिदास भी इस विचार से सहमत प्रतीत होते हैं। शकुन्तला तथा दुष्यन्त के प्रेम का कारण पूर्वजन्म का संस्कार माना है। इसी कारण-वशात् दुष्यन्त को कवि नाटकीय रूप से कण्व के आश्रम में ले गया है तथा कण्व को आश्रम से दूर भेज दिया है, स्वयं दुष्यन्त की दक्षिण भुजा फड़कती है। इसके अतिरिक्त इस नाटक में कवि ने पूर्वजन्म की वासना अगले जीवन में नियमित करने का सन्देश देते हैं। सौन्दर्य तथा प्रेम के कवि कालिदास ने "शाकुन्तलम्" में प्रेम के तीन रूप प्रस्तुत किए हैं -- प्रकृति, प्रेम, पशुपक्षी प्रेम तथा नर-नारी प्रेम। दुष्यन्त का प्रथम प्रेम वाह्य सौन्दर्य पर आश्रित था तथा उसमें विषय वासना का प्राधान्य था अतः सफल नहीं हुआ। वियोग के पश्चात् तपस्या की अग्नि में निखरा तभी वह सफल हुआ। कालिदास ने पारस्परिक प्रेम का कारण पूर्वजन्म के संस्कारों को माना।[3] इसी प्रकार दुष्यन्त की आकुलता एवं व्याकुलता तथा यह कथन कि समस्त इष्टजन उसके

१- काममयं एवायं पुरुष इति। स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति। यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते तत् अभिसम्पद्यते। -- वृह० ४-४-५

२- स ईयतेऽमृतो यत्र कामम्। --वृह० ४-३-१२
कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र। -- मुण्डक० ३-२-२
तदेव सक्तः सह कर्मणेति, लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य। -- वृह० ४-४-६

३- अभि० ५-२

समीप है तथापि गीत श्रवणोपरान्त मन में उत्कण्ठा क्यों ? इसी के पश्चात् "सुरम्य वस्तुओं को देखकर एवं मधुर शब्दों को सुनकर पूर्वजन्म के आनन्दमयी संस्कार उद्बुद्ध हो जाते हैं।"[1] यह दुष्यन्त के अपने तर्क का समाधान है किन्तु कवि का संकेत तो शकुन्तला के प्रति है जिसके पूर्व प्रेम की स्पष्टरेखा उसके अवचेतन में कहीं सोई है, अन्यथा समस्त इष्टजानों के रहते हुए भी उसकी अन्यमनस्कता का क्या अर्थ हो सकता है ? इसी प्रकार दिलीप ने स्वर्ग की इच्छा (सकाम भाव) से यज्ञ किया था[1क] यह वर्णन तथा अन्य राजर्षियों द्वारा स्वर्ग की कामना से अश्वमेघ यज्ञ का सम्पादन कवि की रचनाओं में प्राप्त होता है। नृपेश दिलीप के अश्वमेघ द्वारा इन्द्र का भयभीत होना भी वर्णित है।[2] शतक्रतु ने ईर्ष्यावश उनका अन्तिम अश्व चुरा लिया जिसे रघु इन्द्र पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त भी न लौटा सके। अतः उन्होंने यह वर माँगा कि "मेरे पिता विधिपूर्वक यज्ञ समाप्त करके इन घोड़े के बिना भी सौ अश्वमेघ के फल को प्राप्त करें। इस प्रकार जिस दिलीप की आज्ञा कोई टाल नहीं सकता था उन्होंने मानों स्वर्ग जाने के लिए नवनवति यज्ञों का सोपान निर्माण कर लिया। अतः उन्हें स्वर्गप्राप्ति अवश्य होगी क्योंकि उसकी काम्य वस्तु स्वर्ग सुख है।[3] किन्तु इस स्वर्गलोक का भोगकर पुण्यक्षीण होते ही मर्त्यलोक में लौटना पड़ता है। कालिदास ने भी उत्प्रेक्षा अलंकार के

---

१ रमाशङ्कर त्रिपाठी कालिदास पृ० २११

१क स्वर्गकामोऽश्वमेधेन यजेत।

२- अपूर्णमेकेन शतक्रतूपमः शतं क्रतूनामपविघ्नमापसः।
ततः परं तेन मखाय यज्वना तुरंगमुत्सृष्टमनर्गलं पुनः,
धनुर्भृतामग्रत एव रक्षिणां जहार शक्रः किल गूढविग्रहः॥ --रघु० ३-३८, ३९

३- ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकं,
अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्।
--- गी० ९-२०

माध्यम से स्वर्ग की अनित्यता का संकेत दिया है ।[१] अतः इस वासना का त्याग आवश्यक है तथा यह धारणा बनानी चाहिए कि सुख विषयेन्द्रियों के संस्पर्श से होते हैं वे सभी दुःखदायक हैं ।[२] कवि कालिदास का भी यही सन्देश है । मेघदूतम् में उसकी अनित्यता बताकर तत्त्वज्ञान द्वारा कैवल्यप्राप्ति को ही अभीष्ट मानते हैं । कैवल्य अर्थात् मोक्ष अंतिम मुक्ति , परमानन्द , परमशान्ति । कवि उसको विविध प्रकार से मुक्ति , अपवर्ग अनपायितपद परार्ध्यगति अनावृत्ति अवस्था अजन्मा शब्दों द्वारा संकेतित करता है ।[३] जन्म जन्मान्तर की अभिज्ञता के फल से यह धारणा क्रमशः चित्त में एकान्तिभव से जम जाएगी तब कामना के भोग के साथ वासना का रस तक उसके चित्त से तिरोहित हो जाएगा ।[४] अतः कामनाओं के मूल दग्ध होने पर ही जीव अमरत्व को प्राप्त करता है । इक्ष्वाकुवंशीय रघु के संन्यास चित्र को अंकित करते हुए कवि ने भी इन्द्रिय संयम पर बल दिया है । इन्द्रियजन्य सुख की उत्पत्ति की मूल प्रकृति तथा गुणत्रय को हेय समझ कर रघु ने उनपर विजय प्राप्त की । अतः तत्त्वज्ञान द्वारा कर्माग्नि को दग्ध कर रघु प्रकाशमान अविनाशी ब्रह्म में लीन हो गए, जिसे उपनिषदों की भाषा में इस प्रकार कहा सकता है कि ब्रह्मबिन्दु जीव रघु ब्रह्म सिन्धु में निमग्न हो गए अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति हो गई ।[५]

१- ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं ,
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति । -- गी० ९-२१

२- स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानाम् ।
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम् । -- पू० मे० ३०

२- ये तु संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते । -- गी०

३- रघु० ८-१७, १८,१८-२३, कुमार० ५-७७

४- विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते । --गी० २-२३

५- रघु० ८-२०, २१,२२,२३, २४

द्वितीयमनः चिन्तन (भावना या क्रतु) है । जन्मान्तर को चिन्तन किस प्रकार नियमित करेगा , इस सम्बन्ध में छान्दोग्योपनिषद्[1] का कथन है । कृष्ण[2] ने भी गीता में कहा है । अतः हमारा स्वभाव अथवा आचरण पूर्वजन्म कृत चिन्तन का फल है । सदाचरण के फलस्वरूप ही नरेश अतिथि का वर्तमान जीवन का स्वभाव अत्यन्त पवित्र तथा मुनिगणों को प्रसन्न रखनेवाला बना । इन्दुमती अज के प्रसंग में भी कहा गया है कि मन चिन्तन द्वारा पूर्वजन्म के सम्बन्ध को भली प्रकार पहचान लेता है । उपनिषदों में जीव को हंस कहा गया है ।[3] "मेघदूतम्" में भी राजयोगियों की उपमा हंस से दी गई है ।[4] राजयोग साधनेवाले परमहंस योगी प्रत्येक संवत्सर में अपने चक्रों को बेध कर कैलास शिवलोक या सहस्रकमल की यात्रा कर आते हैं । यहाँ संवत्सर साधन का एक कल्प है । हंस तथा जीव की तुलना यथेष्ट साम्य रखता है । व्योमविहारी हंस जिस प्रकार धरातल पर उतर कर अपने लिए आहार संग्रह करते हैं तथा संग्रहोपरान्त अपने निज धाम को उड़ जाते हैं , उसी प्रकार जीव भी वसुन्धरा पर जन्म धारण कर चित्त का खाद्य चिन्तन लेकर व्योमविहारी हंस के समान अपने निजधाम स्वर्गलोक को जाता है तथा वहाँ उस चिन्तन को परिपाक करके अपने में मिला लेता है ।

१- अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः । यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति , तथेतः प्रेत्य भवति । -- छा० ३-१४-१

२- यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।

३- तस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे ।

४- संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसा सहायाः ।

-- पू० मे० ११

तृतीयतः चेष्टा या कृति है , इसके द्वारा जीव के अगला जन्म का निरूपण उसी प्रकार होता है जिस प्रकार का पूर्वजन्म का कर्म होता है अर्थात् एक जन्म की चेष्टा या कृति के फल से दूसरे जन्म की पारिपार्श्विक अवस्था नियमित होती है ।[१] पतञ्जलि ने भी इस तत्त्व को विशद किया है ।[२]

अतः इस जन्म के कर्म के विपाक से जन्मान्तर की जाति, आयु तथा भोग निर्दिष्ट है । हरिणी अप्सरा तथा उर्वशी का मर्त्यलोक में आगमन , कबन्ध का राक्षस रूप में परिवर्तित होना , प्रियम्बद का मतंग तथा अहल्या का शिला रूप में परिवर्तित होना उदाहरणों द्वारा जन्मान्तर को कवि ने मान्यता दी है ।

हरिणी अप्सरा सामान्य नारी जाति लेकर उत्पन्न हुई तथा अल्पायु , सुखद भोग जो उसके पूर्वजन्म के कर्मविपाक से निर्दिष्ट थे , उसी प्रकार कबन्ध राक्षस जाति तथा प्रियम्बद मतंग जाति में उत्पन्न हुए तथा भोगपूर्ण होने के पश्चात् ही उन्हें मुक्ति की प्राप्ति हुई । अहल्या पाषाण अर्थात् अचेतन द्रव्य रूप में जन्म लेकर अपना भोगपूर्ण करती है ।[३] अतः इस जन्म में जो कर्म करते हैं , उसके द्वारा दूसरे को सुख-दुःख , इष्टानिष्ट अथवा हिताहित होता है , उसका फल कैसा होगा ? योगदर्शन में इसे "ऋणानुबन्ध" की संज्ञा दी है । पूर्वजन्म के मित्र, बन्धुगण तथा शत्रु जो हमारे उपकार अथवा ऋण से अनुबन्धित हैं -- इस जीवन में भी प्राप्त होंगे ।

१- यथाकारी यथाचारी तथा भवति । -- बृह० ४-४-५
२- सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगा । -- यो० सू० २-१३
३- रघु० ७-१५, ११-१२, १८-५०, ८-७९, १२-५७, १२-१०, १४-६५, १३-३६ ।

यह ऋणानुबन्ध दो आत्माओं का अदृष्ट मिलन है । कालिदास ने ऋण का उल्लेख सर्वत्र किया है । ऋण तीन प्रकार में विभाजित हैं -- ऋषिऋण , देवऋण तथा पितृऋण । इन तीनों ऋणों का उल्लेख कवि ने एक ही श्लोक में समन्वित कर अपनी अभूतपूर्व प्रज्ञा का परिचय दिया है । अज के प्रसंग में कवि का कथन है कि "वेदों का अध्ययन करके ऋषियों के ऋण से यज्ञ करके देवताओं के ऋण से तथा पुत्र उत्पन्न करके पितृऋण से मुक्त होकर अज उसी प्रकार सुशोभित हुए यथा मण्डल से छूटकर पूर्ण शोभित होता है ।[1]

अन्तिम तथा नितान्त आवश्यक ऋण की संज्ञा पितृऋण है , जिसके लिए पुत्रोत्पत्ति आवश्यक है ।[2] मृत्यु प्राप्त पूर्वजों की संज्ञा पितृ है तथा वे विशिष्ट लोक में निवास करते हैं । इहलोकवासियों के लिए उनके प्रति ऋण की धारणा स्वीकार की गई है । पितरों को "पिण्डभाजा" पिण्ड लेने वाले कहे गए हैं ।[3] पिता की मृत्यु और निधन दिवस पर जो पिण्डदान क्रिया होती थी , पितृक्रिया या श्राद्ध कहलाती थी ।[4] मृतक की आत्मा को शान्ति पहुँचाने के लिए पिण्डदान आवश्यक था । मात्र पुत्र ही पिण्डदान का अधिकारी था , जिसकी अनुपस्थिति में पूर्वज अपना भोजन ग्रहण नहीं करते हैं । दुष्यन्त भी पुत्रहीनता एवं उसके परिणाम के लिए दुःखी है तथा दिलीप का नन्दिनी गो सेवा का उद्देश्य पुत्र अप्राप्ति जनित पश्चात्ताप के निवारण के लिए ही थे ।

१- ऋषिदेवगणस्वधाभुजां श्रुतयागप्रसवैः स पार्थिवः ,
अनृणत्वमुपेयिवान्बभौ परिधेर्मुक्त इवोष्णदीधितिः ॥ -- रघु० ८-३०
२- नूनं मत्तः परं वंश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः । रघु० १-६६
३- अहो दुष्यन्तस्य संशयमारूढा पिण्डभाजः । --अभि० षष्ठोऽङ्क , पृ० १२-५६
४- पितरीवाग्निसंस्कारात्परा ववृतिरे क्रियाः । रघु० १२-५६

व्यक्तिगत तथा जातिगत कर्म तथा कर्मविधाता

कर्म व्यक्तिगत तथा जातिगत दो प्रकार हो सकते हैं[१] किन्तु कविश्रेष्ठ ने मात्र व्यक्तिगत कर्म तथा उसके विपाक का उदाहरण हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है। दशरथ के द्वारा श्रवणकुमार की मृत्यु होने पर अन्धवृद्ध दम्पति ने व्यक्तिगत रूप से उस शाप दिया जिसका भोग उसे करना पडा। प्रश्न है कर्मविपाक के प्रसंग में कर्म-विधाता कौन है। उपनिषदों में परोक्ष रूप से ईश्वर को ही जीव के कर्मफल का दाता माना है। उन्हीं से जीव को कर्मफल मिलता है।[२] कविश्रेष्ठ ने भी ईश्वर को ही कर्मफल के विधाता रूप में स्वीकार किया है। दैव तथा पुरुषकार कर्मवाद की आलोचना करते समय मन में सहज ही यह प्रश्न उठता है कि पूर्वजन्मकृत कर्म ही यदि जीव के इस जन्म की जाति, आयु, भोग प्रभृति नियमित करता है तब मनुष्य जीवन में प्रयत्न तथा पौरुष को कहाँ स्थान ? मनुष्य भाग्य का प्रभु है अथवा दास। वह प्रयत्न द्वारा अपनी पारिपार्श्विक अवस्था में कहाँ तक परिवर्तन कर सकता है, वह पूर्णतया दैवाधीन है अथवा उसे कुछ स्वाधीनता भी प्राप्त है।

दैव की क्या परिभाषा है। भारतीय परम्परा में प्राप्त उक्तियाँ दैववाद को ही दृढ़ करती है।[३] कवि शिरोमणि कालिदास भी दैव शब्द का प्रयोग बहुतायत से करते हैं, दुष्यन्त की उक्ति तो[४] स्पष्टतया भवितव्यता का अनुमोदन कर रही हैं।

१- गहना कर्मणो गतिः। --गी० ३-२२
२- स वा एष महान् अज आत्मा वसुदानः। -- वृहद० ४-४-२४
३- भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्।
४- अथवा भवितव्यानां द्वाराणि सर्वत्र भवन्ति।
-- अभि० १-१६

किन्तु अन्यत्र कुछ उक्तियाँ भाग्य अथवा अदृष्ट को स्वीकार न कर प्रयत्न की ही प्रधानता स्वीकार करती है । उनके मतानुसार मनुष्य परिस्थितियों का दास नहीं प्रत्युत प्रभु है, वह स्वयं अपने भाग्य का विधाता तथा अदृष्ट का नियामक है । इस मत की ही प्रतिध्वनि निम्नश्लोक में अभिव्यंजित हो रही है ।[1]

कविश्रेष्ठ किस मत के पोषक थे । उनकी रचनाओं के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उन्होंने समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाया है । "अभिज्ञानशाकुन्तलम्" में उन्होंने पूर्णतया भाग्यवाद के प्रश्रय दिया है । मनुष्य का जीवन में लाभप्रद अवस्थाओं को खो देना अत्यन्त ही सहज है । किन्तु कभी-कभी जीवनपर्यन्त विषाद तथा दुःख का कारण बन जाती है । दुष्यन्त द्वारा इसी प्रकार की नाटकीय स्थितियों का उल्लेख कवि ने कियाहै, वे भाग्यवशात् ही आती है । उदाहरणस्वरूप दुष्यन्त शकुन्तला का प्रत्यभिज्ञान न होना समझा जा सकता है । दुष्यन्त के जीवन की सर्वोत्तम उपलब्धि तथा चिराभिलाषा शकुन्तला का त्याग तथा पश्चात्वर्ती कथानक में उसके विरह का राग यही बोध करता है कि उन्नति एवं अवनति, वृद्धि एवं क्षय, समृद्धि एवं विनाश क्रमवत् आते रहते हैं । यही प्रकृति का नियम है । सर्वशक्तिमान रवि तथा शशि भी नियमतः अस्तोदित होते रहते हैं, इस विचारानुसार इनका नियन्ता अन्तःस्रोत ही है ।[2] शकुन्तला दुष्यन्त को कश्यप ऋषि के आश्रम में भी इसी प्रकार विचार करती

१- उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी,
दैवं न देयमिति कापुरुषाः वदन्ति ।

२- यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनाम्
आविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः ।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां,
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ॥ -- अभि० ४-२

है । इसके अतिरिक्त शकुन्तला तथा पुत्र सर्वदमन के संवाद में शकुन्तला स्वेच्छा से भाग्यवाद को स्वीकार करती है ।[1]

इस प्रकार शकुन्तला के संवादों द्वारा कवि दैव को ही मान्यता प्रदान करता है , किन्तु सीता की तो पति-परित्यक्ता है , किन्तु वह भाग्य तथा कर्म दोनों को महत्त्वपूर्ण समझती है । यदि दैववाद को ही सत्य स्वीकार कि कर लिया जाए तो सभी कर्म दैवाधीन हो जाते हैं , यदि पाप पुण्य किसी विषय में स्वाधीन न हो , भवितव्यता की जंजीर यदि बद्ध रखें , तो अवश्यंभावी कार्य के लिए अब दायित्व का क्या स्थान , क्योंकि जो भवितव्या है , विधाता के द्वारा विहित पाप-पुण्य , शुभाशुभ , हिताहित तथा सुकृत-दुष्कृत क्रियमान कर्म द्वारा ज्यादा परिवर्तन नहीं हो सकता , तो कार्य की क्या सार्थकता ? एतदतिरिक्त क्रियमाण कर्म के पक्ष में यदि उसे किसी की स्वाधीनता तथा स्वतन्त्रता प्राप्त न हो तो मनुष्य इच्छाहीन तथा मात्र जड़ पदार्थ है , फलस्वरूप पाप-पुण्य का भी प्रश्न कहाँ ?

अदृष्टवाद

अतः दर्शन में उसका समन्वयात्मक दृष्टिकोण स्वीकार किया गया है , जिसे अदृष्टवाद की संज्ञा प्राप्त है । कविश्रेष्ठ ने भी इसी का अनुमोदन किया है । अदृष्टवादी कर्म के अतिरिक्त किसी प्रकार के दैव को नहीं स्वीकार करते हैं । दैव पौरुष का ही नामान्तर है । पूर्वजन्म कृत पौरुष ही इस जन्म में दैवरूप में प्रकाशित होता है अतः कार्यसिद्धि के लिए दैव और पौरुष दोनों की ही आवश्यकता है । कवि

1- वत्स ते भागधेयानि पृच्छ । सप्तमोऽङ्क , पृ० १४१

ने सीता के मर्मभेदी विलाप में इनका सुन्दर समन्वय किया है ।[1] जानकी के विलाप से यह ज्ञात होता है कि प्रारब्ध कर्म जिसका भोग आरम्भ हो गया है , उसका भोग आवश्यक है किन्तु क्रियमाण कर्म द्वारा कृत पौरुष ही जन्मान्तर में दैव बनेगा । अतः सीता इस जन्म में सत्कर्मरूप पौरुष द्वारा अपने जन्मान्तर के दैव को सुधारना चाहती है , इस प्रकार दैव तथा पौरुष दोनों का सुन्दर समन्वय आवश्यक है ।

कर्मविपाक की आलोचना से यह ज्ञात होता है कि संचित कर्म के फल से व्यक्ति की प्रकृति गठित होती है तथा क्रियमाण कर्म के फल से जाति, आयु तथा भोग । प्रश्न है कि इन कर्म फलों का पौरुष द्वारा परिवर्तन किया जा सकता है अथवा नहीं ।

व्यक्ति जो चिन्तन , वासना तथा चेष्टा का अनुष्ठान बारम्बार करता है , वही अभ्यास में परिपक्व होता है तथा इस अभ्यास समुच्चय से स्वभाव गठित होता है । कालिदास ने भी इसी भाव से अनुप्राणित विचारों को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि मुक्ति की प्राप्ति के इच्छुक अभ्यास द्वारा मन को साधते हैं । अतः अभ्यास द्वारा संचित कर्म में परिवर्तन लाने में व्यक्ति समर्थ है । इस प्रसंग में लघुयोगवाशिष्ठ में कुछ सुन्दर उपदेश है ।[2]

प्रारब्ध के फल से व्यक्ति की जाति, आयु और भोग नियमित होते हैं अतः क्या संचित कर्म के अनुसार प्रारब्ध के फल में परिवर्तन सम्भव है । उत्तर में कहा जा सकता है कि क्रियमाण सुकृत दुष्कृत निरोध कर संचित दुष्कृत सुकृत का

१- रघु० १४-६२, ६६
२- यो० वा० मु० ५-५, ६-१०

निरोध असम्भव नहीं । इसे ही ज्ञानाग्नि द्वारा कर्म को भस्म करना कहा गया है । नृपेश रघु के प्रसंग में कवि भी क्रियमाण कर्म द्वारा संचित कर्म के दग्ध करने का स्पष्ट संकेत देता है ।[1] इसके अतिरिक्त मुक्ति की इच्छा वाले जन्म-मरण से छूटने के लिए कर्म के बन्धनों को काटने का उपाय ढूँढते हैं तथा योगी द्वारा इन्द्रियरूपी शत्रुओं को जीतने के लिए तत्त्वज्ञान की सहायता का उल्लेख करके भी कवि उसी क्रियमाण कर्म द्वारा संचित कर्म को भस्म करने का संकेत देते हैं ।

इस प्रकार कर्म तीन प्रकार के हैं -- संचित , प्रारब्ध तथा क्रियमाण । क्रियमाण के विषय में व्यक्ति स्वाधीन है अतः समस्त प्रकार के कर्म से निवृत्त रहकर नैष्कर्म्य का अवलम्बन करके इस पाप से मुक्ति क्यों न प्राप्त करें । कर्म ही जब हमारे समस्त बन्धनों का हेतु है । सीता की वेदना में भी इसी भाव को प्रकट किया गया है कि क्रियमाण कर्म में यदि मनुष्य नैष्कर्म्य भाव का अवलम्बन करे तो बन्धन नहीं होगा । क्योंकि आसक्त रहकर जिस कर्म का अनुष्ठान हो , उसका भोग करना ही पड़ेगा । शकुन्तला के रुदन में स्पष्टतः प्रारब्ध कर्म के भोग का उल्लेख है । अतः जिसके समस्तकार्य इच्छा , संकल्प के बिना होते हैं उसे ज्ञातागण पंडित कहते हैं तथा उनके कर्म ज्ञानार्जन में दग्ध होते हैं । इस प्रकार का कार्यकौशल ही योग है । किन्तु कालिदास का योग क्वचित् भिन्न है , वह पातञ्जल योग से सामंजस्य रखता है वहाँ तत्त्वज्ञान द्वारा कर्म को दग्ध करने का आदेश दिया गया है साथ ही साथ योगांगों को आवश्यक समझा गया है ।[2]

१- इतरो दग्धे स्वकर्मणां ववृते ज्ञानमयेन वह्निना । -- रघु० ८-२०

२- न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरा परमात्मदर्शनात् । -- रघु० ८-२२

इस कर्मयोग के लिए सर्वप्रथम फलेच्छा त्याग आवश्यक है , अतः फल की कामना छोड़ , मात्र कर्म करना तथा जयाजय सिद्धि-असिद्धि को समान समझने वाले ज्ञानी कर्मानुष्ठान संपादित करके भी कर्मपाश में नहीं बंधते । रघु जनक आदि मनीषियों का स्पष्ट उल्लेख कर कवि इन सिद्धांतों को मान्यता देते हैं ।[1] विष्णु की स्तुति प्रसंग में भी कवि अनासक्त तप की दुहाई देते हैं ।[2] यह फल की कामना का प्रथम सोपान है , इसके पश्चात् कर्तृत्वाभिमान का त्याग आवश्यक है । जिसमें अहंकार बुद्धि नहीं तथा बुद्धि निर्लिप्त रहती है , वह कर्म करके भी बद्ध नहीं होता । कर्मयोग का तृतीय सोपान ईश्वरार्पण अर्थात् ईश्वर को समस्त कार्य समर्पित करना है । कालिदास ने भी ईश्वरभक्ति पर विशेष बल दिया है ।[3] रघुवंशम्में रावण के अत्याचारों से आक्रान्त देवतागणों ने विष्णु स्तुति में कहा है "जो योगी सर्वदा आपका ध्यान करते हैं , जिन्होंने अपने समस्त कर्म आपको ही समर्पित कर दिए हैं , उन्हें आप मुक्ति दिलाते हैं ।" शिव की स्तुति के प्रसंग में भी ईश्वर में समस्त कार्यों के अर्पण का कवि आदेश देता है ।

इस प्रकार की भावना से शुभाशुभ समस्त कर्मबन्धन से मुक्ति प्राप्त होती है , इसको वेदान्त में अश्लेष कहा है ।[4] यही उपनिषदों में भी कहा है ।[5]

१- रघु० १४-७४

२- रघु० १०-२३,२४

३- रघु० १०-२७ , विक्रम० १-१, मालविका० १-१

४- तदधिगम्य उत्तरपूर्वाधयोः अश्लेषविनाशौ इतरस्यापि एवम् असंश्लेष ।
-- ब्र० सू० ४-१। १३-४

५- यथा पुष्करपलाशे आपो न श्लिष्यन्त एवं विद्धि पापं कर्म न श्लिष्यते । तद्यथा ईषिकातूलम् अग्नौ प्रोतं प्रदूयेत एवं हास्य सर्वे पाप्मानः सर्वे पाप्मानोऽतः निवर्तन्ते । -- वृह०

जन्मान्तर

कर्मवाद की आलोचना में बारम्बार जन्मान्तर का उल्लेख प्राप्त होता है, वस्तुतः यदि जन्मान्तर ही असिद्ध हो, तब कर्मवाद की आधारशिला ही नहीं रहती। आर्य ऋषियों की बुद्धि से समुद्भूत तत्वमन्दिर के दो धारणा स्तम्भ है -- कर्मवाद तथा जन्मान्तर। कर्मवाद की आलोचना के पश्चात् जन्मान्तर विवेचन अभीष्ट है। मृत्यु मनुष्य जीवन के प्रतिदिन की घटना है जिससे समस्त विश्व सुपरिचित है। जन्म-मृत्यु परस्पर यमज है, मरण जीवन के साथ सर्वदा जुड़ा हुआ है। वर्षों पूर्व भारत के एकान्त तपोवन में भी सम्भवतः यही प्रश्न मनीषियों के सम्मुख होगा।[1]

कवि की रचनाओं में जीवन की क्षणभंगुरता, मृत्यु की अनिवार्यता तथा उनके प्रति सुधीजनों की वांछित दृष्टिभंगी का उल्लेख राजा नृप को इन्दुमती के निधन के सन्दर्भ में वसिष्ठ द्वारा दिए गए उपदेशों में उपलब्ध होता है। वसिष्ठजी का कथन है "जिसने शरीर धारण किया है, उसका मरना अनिवार्य है। पण्डितों का कथन तो यह है कि वास्तव में जीना ही एक विचार है, अतएव प्राणी जितने क्षण जीवित रहे उतने ही उसे सन्तोष करना चाहिए। प्रियजन की मृत्यु को मूर्ख व्यक्ति वैसे ही कष्टकारक मानते हैं यथा वक्ष में शल्य चुभ गया हो किन्तु विद्वान् लोग यह समझते हैं कि जिसने मृत्यु को प्राप्त कर ली वह समस्त प्रपंचों से मुक्त हो गया है।[2]

१- अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यमालयम्। -- महा० वनपर्व
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च। --गी० २-२७
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति, गौतम।
२- अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम्।
स्थिरधीस्तु तदेव मन्यते कुशलद्वारतया समुद्धृतम्॥ -- रघु० ८-८८

जड़वादी देहातिरिक्त देही को स्वीकार नहीं करते , उनके विचारानुसार परमाणुओं के मनमाने संयोग से इस जगत् की सृष्टि होती है । उनके मतानुसार चिन्तन मस्तिष्क की क्रियामात्र है तथा देह नष्ट होते ही समस्त नष्ट हो जाता है । किन्तु उनका उत्तर युक्तिसंगत नहीं तथा प्रत्यक्ष दृष्टिगत घटनाओं से सामंजस्य भी नहीं बनता है । जीव के मरने पर कुछ आत्मा के स्थायित्व को स्वीकार करते हैं कुछ नहीं । किंतु उपनिषदों के अनुसार जीव अविनाशी है तथा देह के साथ उसका सम्बन्ध नहीं , यह सिद्धान्त सम्मत है ।[1] देहातिरिक्त चैतन्य है तथा देह के अभाव में भी वह बना रहता है । आर्य ऋषियों के मतानुसार शरीर अनित्य तथा शरीरी नित्य है । शरीर नश्वर किन्तु शरीरी अविनाशी है । शरीर नाश से शरीरी का नाश नहीं होता । यह शरीर मर्त्य मृत्युग्रस्त है किन्तु अशरीरी तथा अमृतात्मा का अधिष्ठान है । आर्य ऋषियों की शिक्षानुसार जीव अजर , अमर तथा अक्षर है ।[2]

जीवन की अनित्यता का संकेत मेघदूतम् में प्राप्त होता है । यक्ष द्वारा अपनी वल्लभा के लिए प्रेषित सन्देश में जीवन की क्षणभंगुरता ध्वनित हुई है । मेघ उस विरहिणी से सर्वप्रथम यही कहेगा --अबले । तुम्हारा सहचर जीवित है , उसने तुम्हारी कुशलता पूछी है , क्योंकि जिन लोगों पर विपत्ति पड़ी हो , उनसे पहले पहल यही पूछना उचित है ।[3] इसके अतिरिक्त वसिष्ठजी के सन्देश में भी जीव तथा

१- येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये ,
   अस्तीत्येके नायमस्तीति चान्ये । --क० उ०
२- मर्त्यं वा इदं शरीरम् आर्तं मृत्युना ।
   तदस्य अशरीरीस्यात्मनोऽधिष्ठानम् । -- छा० ८-१२-१
३- अव्यापन्नः कुशलमबले पृच्छति त्वां वियुक्तः ,
   पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव । -- उ० मे० ४३

शरीरी का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त है । आश्चर्य का विषय है कि कवि ने स्पष्टतः शरीर एवं शरीरी पद का प्रयोग भी किया है । वसिष्ठजी का सन्देश यही है कि "जब शरीर तथा आत्मा भी परस्पर बिछुड़ने वाले हैं तब स्त्री पुत्रादि बाह्य सम्बन्धियों से वियुक्ति का दुःख पण्डितों को नहीं होना चाहिए । आप तो जितेन्द्रियों के शिरोमणि हैं अतः आप साधारण व्यक्तियों के समान शोक विह्वल न हों । यदि पर्वत भी वृक्ष के समान वायु से चलायमान होगा , तो दोनों में क्या अन्तर रह जाएगा ।[1]

जीव का न मरण होता है और न जन्म । वह उत्पत्ति तथा विनाश , अपचय और उपचय से हीन है । वह अज , नित्य , पुरातन और सनातन है ।

देह नष्ट होने पर आत्मा की क्या गति होती है । हिन्दू तथा बौद्ध दर्शन मृत्यूपरान्त जीव की लोकान्तर गति मानते हैं । उनका कथन है कि जीव कुछ काल तक लोकान्तर में जीवन व्यतीत कर इस लोक में लौट आता है तथा दूसरा जन्म धारण करता है । अवश्य ही एक दिन वह आता है कि जीव को इस लोक में लौटने की आवश्यकता नहीं रहती तथा वह आवागमन के शृंखला को काटकर अन्य लोकों में जा पहुँचते हैं ।[2] पुनर्जन्म के इस सिद्धान्त को सम्मुख रखते हुए कुल श्रेष्ठ की रचनाओं का अध्ययन किया जाए, तो अक्षरशः सत्यता दृष्टिगत होती है । मेघदूतम् में सरस उत्प्रेक्षा द्वारा पुण्यसंचय के भोगोपरान्त अवशिष्ट पुण्य से उज्जयिनी नगरी के रूप में स्वर्ग का सुन्दर भाग बसाया ।[3] स्वर्गप्राप्ति होने पर भी

१- स्वशरीरशरीरिणावपि श्रुतसंयोगविपर्ययौ यदा,
विरहः किमिवानुतापयेद्वद बाह्यैर्विषयैर्विपश्चितम् । -- रघु० ८-८९

२- न पुनरावर्तन्ते ।

३- स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां,
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम् । -- पू० मे० ३०

मनुष्य जन्म , जरा-मृत्यु के चक्र से नहीं छूटता , अतः शाकुन्तलम् के भारतवाक्य में स्वर्गप्राप्ति की कामना न कर पुनर्जन्म से मुक्ति की प्रार्थना शंकर से की गई है ।[1] कवि के विचार में आत्मा के लिए न जरा है न हि मृत्यु न हि उत्पत्ति विनाश । वह अज , नित्य , पुरातन सत्य वस्तु है किंतु बारम्बार शरीर के साथ उसका संयोग तथा वियोग होता है , यही जन्मान्तर है । पुनर्जन्म के विषय में यह ध्यातव्य है कि आत्मा एक शरीर से द्वितीय शरीर में जन्म लेते ही लाभप्रद अनुभव, ज्ञान तथा भावों को अचेतन मस्तिष्क में संचित कर लेती है , किन्तु सामान्य व्यक्तियों के लिए यह ज्ञान प्रायः व्यर्थ हो जाता है । कविश्रेष्ठ ने यहाँ न्यायदर्शन की युक्तियों का आधार लिया है । ऋषि गौतम ने जन्मान्तर के लिए साधक युक्तियाँ दी है --

(क) सहजात संस्कार

(ख) जन्मसिद्ध राग द्वेष ।

सहजात संस्कार कहाँ से आता है ? न्याय का कथन है कि पूर्वजन्म के अनुभूत विषय का अभ्यास से उत्पन्न दृढबद्ध संस्कार है । उदाहरणार्थ न्यायदर्शनकार ने सद्योजात शिशु के दूध पीने की इच्छा का उल्लेख किया है ।[2] कविशिरोमणि भी उसी प्रकार योगीजनों जिन्होंने योग अथवा तप द्वारा विशेष शक्ति प्राप्त की है , वे पूर्वानुभव के कोषों से लाभ उठाते हैं । कवि ने संस्कार पद का स्पष्टतः प्रयोग कर न्याय दर्शन के सिद्धान्त को संकेत दिया है । यह अनुभूति जिसमें

१- ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः । -- अभि० ७-३५
२- प्रेत्याभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् । -- न्या० ३-१-२१

सौन्दर्य के कण संयुक्त है उसकी स्मृति अमिश्र आनन्द की नहीं रहती प्रत्युत उसमें वेदना की मन्द कनकनाहट बनी रहती है । यह वेदना का तत्व इसलिए उदित होता है कि पूर्वजन्म के अनुभव या संस्कार सौन्दर्यानुभूति के साथ ही साथ हमारे उपचेतन में आ जाते हैं । अतः किसी भी अनुभव की प्रतीति स्मृतिमूलक होने के कारण थोड़ी टीस लिए होती है । अन्यत्र वे कहते हैं कि जीवन मरण की चक्र में बद्ध जीव पुनर्जन्म की अज्ञात बातों का स्मरण न कर पाने पर खिन्नता का अनुभव करते हैं । राम जब विश्वामित्र के साथ आश्रम में पहुँचते हैं, उस समय उन्हें अपने पूर्वावतार के कार्यों की स्मृति न होने के कारण अन्तःकरण में कुछ खलबली मच गई ।"[2] इसी प्रकार नृपेश के पुत्र के महर्षि जैमिनि द्वारा योग सीखकर आवागमन से मुक्ति का उल्लेख मिलता है ।[3] रघु के प्रसंग में भी यही विचार मनोनीत किए गए हैं, किन्तु यह बहुत अधिक साधना की अपेक्षा रखता है ।[4] सामान्य मनुष्य बारम्बार जीवन मृत्यु की शृंखला में बद्ध होता है । कालिदास का कथन है कि जन्मों के क्रम का अन्त अवश्य होना चाहिए । शरीर के काया में बद्ध आत्मा की मुक्ति तथा क्षणभंगुर असत्य शरीर की गति समाप्त होना आवश्यक है । अनिर्वचनीय आनन्द की अवस्था की उपलब्धि के लिए आत्मा को शरीर बन्धन से मुक्त होना आवश्यक है । जबतक सदसत्

१- अभि० ५-२
२- रघु० ११-२२
३- महीं महेच्छः परिकीर्य सूनौ मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा ।
तस्मात्सयोगादधिगम्य योगमजन्मनेऽकल्पत जन्मभीरुः । -- रघु० १८-३३
४- रघु० ८-२२,२४

कर्मों के फल भस्मसात् नहीं किए जाते , तबतक शरीर बन्ध से छुटकारा सम्भव नहीं । मृत्यूपरान्त भी जीवन है , जिसे लोकान्तर तथा परलोक कहा जाता है , जो विशिष्ट लोक में आत्मा (प्रेत) के अस्तित्व का अर्थबोध कराता है । पुण्यकर्मों से स्वर्ग तथा अपुण्य से नरक की प्राप्ति होती है । स्वर्ग में सुर सुन्दरियों द्वारा अभिनन्दन, देवताओं के समूह में स्थान प्राप्ति का भी उल्लेख है । इन पुण्यों में पवित्र नदियों के संगम पर स्नान तथा युद्धभूमि में मृत्यु को प्राप्त करना है । स्वर्ग की ही दूसरी संज्ञा विष्णुलोक है । आवागमन से चिरन्तन मुक्ति के लिए तत्त्वज्ञान जिसके द्वारा कर्मदग्ध किए जाए, कवि को अभीष्ट था ।[1]

दार्शनिकों ने जगत् की विषमता के आधार पर जन्मान्तर सिद्ध किया है । मनुष्यों में मात्र दशा और भोग का भी प्रभेद नहीं वरन् प्रवृत्ति, प्रकृति तथा सुयोग के कारण भी यथेष्ट प्रभेद पड़ जाता है । स्वयं कालिदास के शब्दों में विलक्षण मनुष्यों की शक्ति जन्मान्तरीय संस्कार का ही फल है । दार्शनिक तथा वैज्ञानिक जबतक इस प्रतिभा समस्या और विलक्षण मनुष्यों की व्याख्या अन्य रूप में नहीं करते तबतक कालिदास की युक्ति का अनुसरण करना ही उचित है । "जिस प्रकार शरत्काल उपस्थित होने पर हंसों की श्रेणी स्वतः गंगाजल में उतर आती है तथा जिस प्रकार रात्रि होने पर औषधि अपने आप चमकने लगती है , उसी प्रकार समय उपस्थित होने पर प्राक्तन जन्मविद्या अर्थात् पूर्वजन्म के शक्ति संस्कार जीव में आत्मप्रकाश करते हैं ।[2] ऐसा क्यों

१- रघु० ४-६०
२- तं हंसमाला शरदीव गङ्गां महौषधिं नक्तमिवात्मभासः ।
स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः ।
--- कुमार० १-३०

होता है ? ईश्वर दया के सागर हैं , अतः भोग, सुख , बुध्धि सभी व्यक्तियों को समान रूप से क्यों प्रदान नहीं किया । क्या उन्होंने पक्षपात किया है ? किन्तु यह विचार उचित नहीं । आर्य ऋषियों ने इस प्रश्न की मीमांसा अन्य रूप से की है । इनके मतानुसार पूर्वजन्म के चिन्तनों , वासनाओं तथा क्रिया से ही इस जन्म की प्रकृति और भोग नियमन हुआ है अर्थात् उसने जैसे कर्म किया है वैसा ही फल उसे मिलता है , इसमें ईश्वर का पक्षपात नहीं , न हि करुणा का अभाव है । ईश्वर ने कर्मानुसार फल की व्यवस्था की है । इसका पूर्ण विवेचन "कर्मवाद" में प्राप्त है । रूप लावण्य को भी कवि पूर्वजन्म कृत सत्कर्मों का फल मानते हैं ।

वास्तविकता की दृष्टि से देखा जाए तो ज्ञात होता है कि देश काल , वातावरण धर्म तथा विश्वास के परे ही उच्च एवं संस्कृत विद्वज्जन अन्तिम आत्माओं के विषय में अपने विचार प्रकट करते हैं । "मरणं हि नाम प्रकृतिः" की तुलना सुप्रसिध्ध आंग्ल कवि शैली की रचना "एडोनिस" से की जा सकती है ।[1] शरीर की क्षण-भंगुरता के विषय में स्वविचार प्रस्तुत करते हुए कविश्रेष्ठ ने वहिर्वस्तुओं पर रुदन व्यर्थ बताया है । यह विश्व कवि की दृष्टि से कुछ क्षण के लिए विश्राम स्थल अथवा आत्माओं के पुनरुत्थान के लिए शिक्षणकेन्द्र है , जिसके द्वारा वह अधिक उच्च एवं सुखमय परमात्मा को

१- We look before and after and ;ine for what is not our sincerest laughter with some pain in frought and our sweetest songs are those that speak of saddest thoughts.Peace,Peace he is not dead, He does not sleep. He has awakened from the dreams of life.

T' is we who lost in stormy visious keep with phantoms an unprofitable strife. --P.B.Shelly 'Adonis'

समीप जा सके । इसी प्रकार मृत व्यक्ति के भूत शरीर के प्रति मोह व्यर्थ है ।

कर्मवाद , पुनर्जन्म (जन्मान्तर) एवं भाग्यवाद परस्पर अन्योन्याश्रित हैं । ये सिद्धांत सुवर्णमाला रूप भारतीय दर्शन के अमूल्य रत्न हैं तथा योगदर्शन के सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धांत हैं । इनकी नितान्त मंजुल एवं प्रभविष्णु व्यंजना कविकुलगुरु के ग्रन्थों में प्रस्फुटित हुई है ।

अनावृत्ति

हिन्दू दृष्टिकोण में मानवीय कामनाएँ अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष की सिद्धि के लिए है । अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष है -- अन्तिम मुक्ति , परमानन्द , परम-शान्ति । कवि इसको विविध प्रकार से मुक्ति[1], अपवर्ग, अनपायिपद[3], परार्ध्यगति[4] , अनावृत्ति[5] अवस्था , अजन्मा[6] शब्दों द्वारा निर्देशित करता है । जन्म शरीर के कारागार में बद्ध बन्धन तथा दुःख समझा जाता है , जिसे मुक्ति की कामना होती है । इसी मुक्ति के प्राप्त न होने पर ही आत्मा बारम्बार जन्म लेकर और पूर्वजन्मों में कर्मों के अनुसार जीव श्रृंखला से जाना पड़ता है । प्रसिद्ध हिन्दू षड्दर्शन में से प्रत्येक और बौद्ध तथा जैन धर्म आत्मा की अन्तिम मुक्ति के सम्बन्ध में अपने विचार तथा मार्ग का निरूपण करते हैं । वेदान्तानुसार यह ब्रह्म-जीव के भेद के मिट जाने पर प्राप्त होती है । किन्तु कालिदास योगदर्शन का अनुसरण करते हैं । यहाँ यह अवस्था समाधि द्वारा

१- रघु० १०-२३
२- रघु० ८-१६
३- रघु० ८-१७
४- कुमार० ५-७७
५- रघु० १८-३३
६- रघु० १२-५८

प्राप्त होती है । उनका कथन है कि निष्कलुष , ऐन्द्रिय रसवाले , लौकिक जीवन को व्यतीत करने के पश्चात् योग के माध्यम से शरीर त्याग कर पवित्र एवं आध्यात्म की चरमावस्था को प्राप्त कर लेना है । बौद्ध दार्शनिक इस अवस्था के लिए निर्वाण शब्द का प्रयोग करते हैं । निर्वाण का शाब्दिक अर्थ है "जो फूट निकला है तथा इसका संकेत है अहंकार का पूर्णतः निष्कासन , सर्वज्ञता तो परम चैतन्य विश्रान्ति जिसका उत्तर-कालीन अर्थ परमानन्द , परमशान्ति माना जाने लगा ।

स्मरणीय है कि सदसत् कर्मों से मुक्ति प्राप्त नहीं होती, क्योंकि इच्छाओं और संग से निर्लिप्त कर्म असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है । मनोरथों की सिद्धियां निश्चय ही कर्मों के उद्देश्य के भाग से होती है , क्योंकि मनोरथों का अन्त नहीं । मीमांसक यज्ञ , दान , तप आदि सत्कर्मों को करने पर अधिक बल देते हैं , किन्तु सत्कर्म (पुण्य) केवल सुख की प्राप्ति कराते हैं -- सप्तलोकों में किसी एक में निवास उनकी सिद्धियों की चरम सीमा स्वर्ग की प्राप्ति है । किन्तु वह अवस्था चरमशान्ति की नहीं हो सकती तथा पुनर्जन्म से मुक्ति नहीं मिलती । पुण्य कर्मों के अनुसार स्वर्ग में निवास करने की अवधि होगी तथा पुण्यकर्म के क्षीण होने पर आत्मा पुनः धरातल पर लौट पाएगी और जन्म शृंखला में अपना अस्तित्व बना लेगी । त्रिवेणी में स्नान द्वारा पुनर्जन्म से मुक्ति का उल्लेख कालिदास ने मात्र सत्कर्म में व्यक्तियों के उत्साहार्थ अर्थवाद रूप में दी है ।[1] वस्तुतः आत्मा का अस्तित्व स्वयं कर्मों के बन्धन में पड़ा है , और मोक्ष प्राप्ति के लिए उनसे निर्बन्धता , इस दुरासद बन्धन को काटना अनिवार्य होगा । जब

१- रघु० १२-५६

ज्ञानाग्नि में कर्मदग्ध हो जाते हैं , तब मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है और जीवन की यह भयानक शृंखला से मुक्ति प्राप्त हो सकती है । वस्तुतः त्रिदेव का अद्वैतभाव तथा योग द्वारा उस अक्षर ब्रह्म का साक्षात्कार ही कालिदास का दार्शनिक मत है । उनके अनुसार योग द्वारा परमात्म संज्ञक परम ज्योति का दर्शन करना ही जीवन की परम सिद्धि है ।[1]

योग तथा सांख्य में निकट सम्बन्ध है , अतः उन्हें समानतन्त्र कहा गया है । दोनों दर्शनों के अनुसार जीवन का मुख्य उद्देश्य मोक्षानुभूति प्राप्त करना है । सांख्य के समान योग भी विश्व को दुःखत्रय परिपूर्ण मानता है । दुःखत्रय आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक दुःखों को "सांख्य दर्शन" सोपान में विस्तारपूर्वक विवेचन करने के कारण यहां उसका संकेत मात्र पर्याप्त है । बन्धन का कारण अविवेक है अतः मुक्ति से प्राप्ति के लिए तत्वज्ञान आवश्यक है । वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को ज्ञात कर ही मनुष्य मुक्त हो सकता है । सांख्यानुसार मोक्ष विवेक ज्ञान द्वारा प्राप्त होता है किंतु योगदर्शन योगाभ्यास पर विशेष बल देता है । वस्तुतः योगाभ्यास पर विशेष आकर्षण ही योगदर्शन की निजी विशेषता है । योग द्वैतवादी दर्शन है साथ ही साथ वह सांख्यदर्शन के तत्वों के अतिरिक्त ईश्वर की सत्ता भी स्वीकार करता है अतः योग में षट्विंश तत्वों की सत्ता मानी गई है । कविशिरोमणि भी योगदर्शन से ही सहमत हैं , उन्होंने ईश्वर को सर्वोत्तम स्थान दिया है । योग तत्वों की व्याख्या सांख्य से भिन्न रूप में नहीं करता प्रत्युत सांख्य के तत्वविचार को स्वीकार कर ईश्वर को भी संयुक्त

१- योगात्स चान्तः परमात्मसंज्ञं दृष्ट्वा परं ज्योतिरुपरराम ।
-- कुमार० ३-५८

कर देता है । इसी प्रकार योग सांख्य के प्रमाण शास्त्र को भी पूर्णतया स्वीकार करता है । प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द शब्द तीनों का विवेचन भी "सांख्य दर्शन" के सोपान में प्राप्त है । सांख्य का विकासवादी सिद्धान्त भी योग को मान्य है । योग विश्व के निर्माण की व्याख्या प्रकृति से करता है । प्रकृति का ही रूपान्तर विश्व की विभिन्न वस्तुओं में होता है , अतः योग परिणामवाद को मानता है । समस्त विश्व अचेतन प्रकृति का वास्तविक रूपान्तर है । कार्य कारण सिद्धान्त को योग सांख्यसम्मत ही स्वीकार करता है । अतः वह सत्कार्यवाद को स्वीकार करता है , इसका विशदीकरण भी सांख्य दर्शन में ही किया गया है । सांख्य में ईश्वर की चर्चा नहीं की गई किन्तु वह इसका खण्डन भी नहीं करता । योग में ईश्वर की चर्चा स्पष्ट रूप से है जिसे योग का विषय कहा गया है । वस्तुतः सांख्य के सैद्धान्तिक पक्ष का व्यावहारिक प्रयोग ही योगदर्शन कहा गया है ।

तृतीय सोपान

सांख्य दर्शन एवं कालिदास

दुःखत्रय ,प्रमाणचर्चा ,सत्कार्यवाद ,प्रकृति,

गुणवाद,पुरुष,जगत् की सृष्टि प्रक्रिया ,

लिङ्ग शरीर ,संयुक्तिक अपवर्ग ।

कालिदास एवं सांख्य दर्शन

दुःख त्रय

पाश्चात्य विचारकों के मतानुसार दर्शन की उत्पत्ति आश्चर्य से होती है ।[१] यह आश्चर्य एक मानसिक कौतूहल, एक जिज्ञासा मात्र है , किन्तु भारतीय दर्शन की उत्पत्ति दुःखनिवृत्ति तथा सुखप्राप्ति या मोक्ष साधन के लिए हुई है । सांख्यदर्शन का भी मुख्य उद्देश्य दुःखनिवृत्ति है तथा दुःख के विवेचन से ही प्रारम्भ हुआ है ।[२]

वस्तुतः यदि जगत् में दुःख ही न हो अथवा होने पर भी उसके त्याग की इच्छा न हो , किं वा त्यागेच्छा होने पर भी उसकी नित्यता के कारण उसकी निवृत्ति सम्भव न हो अथवा निवृत्ति सम्भव होने पर भी प्रकृति-पुरुष का

१- " Philosophy begins in wonder."

२- दुःखत्रयाभिघातात् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।
दृष्टे सापार्था चेत्नैकान्तिकात्यन्तिकदुःखाभावात् ॥ सां० का० १

विवेकज्ञान उस दुःख की निवृत्ति का उपाय न हो अथवा विवेकज्ञान की अपेक्षा कुछ सुलभ तथा सरलतर उपाय हो । किन्तु जगत् में दुःख का अस्तित्व है तथा उसकी निवृत्ति भी अभीष्ट है यह ज्ञातव्य है । अतः सांख्यदर्शन में "दुःखत्रयाभिघातात्" कहा गया है , क्योंकि बुद्धितत्त्वान्तवर्ती रजोगुण के विशिष्ट परिणामभूत एवं प्रत्येक के द्वारा अनुभवित किए जाने वाले इस दुःख को स्वीकार नहीं किया जा सकता । श्री वाचस्पति मिश्र ने भी इस विषय पर स्पष्ट टीका लिखी है ।[1] इसी दुःख का विवेचन कवि शिरोमणि कालिदास अपनी समस्त रचनाओं में बहुतायत से करते हैं । "काव्येषु नाटकमस्ति रम्यरुचिरं तत्रापि शाकुन्तलम्" सम्बोधन विशिष्ट "अभिज्ञानशकुन्तलम्" में कवि ने दुःख को अनेक रूपों में प्रस्तुत किया है । दुष्यन्त के विरह में सन्तप्त शकुन्तला की विरहावस्था का चित्र प्रस्तुत करते हुए कवि भारती इस प्रकार बोल रही है --

"शकुन्तला की अस्वस्थता देख उसकी प्रिय सखिया प्रियंवदा तथा अनुसूया उसके दुःख के कारण ज्ञात करना चाहती है । मसृण कपोल , कृश तथा पीतवर्ण की आभा से युक्त शकुन्तला जिसकी लावण्यमयी छाया ही उसके सौन्दर्य का वर्धन कर रही है , वह शकुन्तला इस कार्य में सखियों की सहायता चाहती है , अतः सखियों का कथन है ।[2] सखियों द्वारा पुछे जाने पर यह बाला अपना दुःख प्रकट करेगी अथवा नहीं इस विषय पर नृप दुष्यन्त का कथन इस प्रकार है ।[3]

१- "तदेतत् प्रत्यात्मवेदनीयं दुःखं रजःपरिणामभेदो न शक्यते प्रत्याख्यातुम् ।"
सांख्यतत्त्वकौमुदी , पृ० ३ ।
२- "स्निग्धजनसंविभक्तं हि दुःखं सह्यवेदनं भवति" तृतीयांक , पृ० ४५ ।
३-" पृष्टा जनेन समदुःखसुखेन .... गतोस्मि" ३-९

इसके पश्चात् शकुन्तला अपने प्रेम को स्पष्टतः स्वीकार करती है , प्रणय पत्र लिखती है तथा दुष्यन्त के सहसा प्रकट हो जाने पर उससे प्रेम की बातें भी करती है । यह सम्पूर्ण प्रसंग प्रेम विह्वलता की निर्व्याज विज्ञप्ति से ओतप्रोत है । सखियों के चले जाने पर दुष्यन्त का आत्मनियमन कठिन हो गया है , इस स्थल पर शकुन्तला का कथन है भारतीय नारी के अनुकूल है ।[1] फिर भी उसका मन अत्यन्त कातर तथा वेदना व्यथित है तथा गौतमी के साथ कुटी में चलते समय उसकी आत्म व्यथा अत्यधिक बढ़ जाती है तथा वह दुःखपूर्वक गमन करती है ।[2]

इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि कालिदास ने दुःख का अस्तित्व भी स्वीकार किया है तथा उससे निवृत्ति की इच्छा भी प्रकट की है ।

सांख्यदार्शनिकों ने दुःख को तीन वर्गों में विभाजित किया है[3]-- (१) आध्यात्मिक (२) आधिभौतिक और (३) आधिभौतिक और आधिदैविक ।

आध्यात्मिक[4] दुःख शारीरिक तथा मानसिक भेद से दो प्रकार का होता है । शारीरिक दुःख वात , पित्त , कफ के प्रदोष से उत्पन्न होने वाले ज्वरादि या शरीर में स्वाभाविक रूप से होने वाले भूख प्यासादि । महाकवि कालिदास ने वात, पित्त और कफ का उल्लेख "मालविकाग्निमित्रम्" में राजमहिषी धारिणी के अस्वस्थ्यता के प्रसंग में किया है ।[5] एतदतिरिक्त शकुन्तला के लू लगने के ब्याज से कुसुमों की

१- पौरव । रक्षाविनयम् तृतीयोऽङ्कः पृ० ५३ ।
२- "इति दुःखेन निष्क्रान्ता शकुन्तला सहेतराभिः" अभि० तृ० पृ० ५५ ।
३- दुःखानां त्रयं दुःखत्रयम् । तत् खलु आध्यात्मिकं , आधिभौतिकं , आधिदैविकश्च ।"
४- "तताध्यात्मिकं द्विविधं शारीरं मानसं च" सां० त० कौ० पृ० १२
५- राजा-देवि । आतपक्रान्तोऽयमुद्देशः।शीतक्रिया चाद्य रुजः प्रशस्ता ॥ मालविका० पृ०३२१

शय्यावाली पटिया पर लेटी हुई चित्रित किया है अतः यहां विरहानल से सन्तप्त शकुन्तला की दयनीय अवस्था का चित्र अंकित है ।[1] इसी प्रकार "रघुवंशम्" में जहां लक्ष्मण-मेघनाद के युद्ध का प्रसंग है वहां स्पष्टतः लक्ष्मण की शारीरिक व्यथा का उल्लेख है । इसी स्थल पर हनुमान द्वारा हिमालय से संजीवनी बूटी लाने फलस्वरूप लक्ष्मण की समस्त पीडा के दूरीकरण का वर्णन मिलता है ।[2]

नैसर्गिक अशनाया रूप दुःख का उल्लेख कवि ने किसी स्थल पर नहीं किया है । इसका मूलकारण संभवतः यही प्रतीत होता है कि कविकुलगुरु ने सर्वत्र नृपों एवं धनिक वर्ग का ही उल्लेख किया है । निर्धनता इनकी रचनाओं में कदापि चित्रित नहीं । समस्त नाटकों में विदूषक अवश्य भोज्यसामग्री के प्रति संकेत देते हैं किन्तु वह हास्य रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत होते हैं ।

मानसिक दुःख का अर्थ है जो मन , काम , क्रोध , लोभ ,भय , ईर्ष्याग्नि विषाद तथा विषय विशेष के अदर्शन से उत्पन्न होते हैं । मानसिक दुःख के अनेक उदाहरण कवि की रचनाओं में प्राप्त होते हैं ।

"अभिज्ञानशाकुन्तलम्" के षष्टांक में दुष्यन्त के पश्चाताप का चित्रण प्राप्त होता है । आनन्द तथा सुख उसकी दिनचर्या से पलायन कर रहे हैं । अंगुलियक के दर्शन से शकुन्तला का पूर्ण प्रसंग स्मरण हो आया तथा वह संतप्तावस्था में जल रहा है अपने कुकृत्य के कारण पश्चाताप की ग्लानि से दुर्बल नृप का चित्रण इस प्रकार है ।[3]नृपाधिराज

१- अभि० ३.९

२- रघु० १२. ७८

३- इतः प्रत्यादेशात्स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता ,
स्थिता तिष्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे ।

को सान्त्वना प्रदान करते हुए उसके परममित्र का कथन इस प्रकार है ।[1] वह किसी भी रमणीय वस्तु में ध्यानकेन्द्रित नहीं कर सकता न हि पूर्व के समान मन्त्रियों से मन्त्रणा करता है । अंतःकरण ही रमणियों के पूछने पर त्रुटिवशात् शकुन्तला का नाम ले लेता है । उसने अलंकरणों को तिरस्कृत कर दिया है तथा उच्छ्वासों से नीचे का ओष्ठ रक्तिम हो गया है तथा चिन्ता के कारण रात्रिजागरण के कारण नेत्र अलस हो गये हैं । अथ च उसकी विह्वलता अत्यधिक बढ़ जाती है ।[2] उसकी व्यथा केवल इसीलिये नहीं कि उसने एक प्रेमिका खोई है प्रत्युत उसके पितरों का कौन विधिपूर्वक तर्पन्ण करेगा ? अतः शाकुन्तलम् में कवि ने "दुःख" पद का बारम्बार प्रयोग किया है ।

"मालविकाग्निमित्रम्" में भी मालविका तथा अग्निमित्र भी परस्पर एक दूसरे के विरह में सतप्त है तथा चकवा-चकवी की भाँति परस्पर बैठे हुए भी रात्रि बनी हुई धारिणी उन दोनों को मिलने नहीं दे रही है ।

"विक्रमोर्वशीयम्" में भी उर्वशी के वियोग में पुरुरवा का विलाप विरहजनित संताप का सर्वोत्तम उदाहरण है । नाटककार ने पुरुरवा को ऐसे प्रणयी नृपेश के रूप में चित्रित किया है जिसकी कल्पना नितान्त कल्पनामयी है । गंधमादन पर्वत पर उर्वशी के अविवेक के कारण जो वियोग घटित हुआ उसका दण्ड प्रत्यक्षतः पुरुरवा को सहन करना पड़ा है । उर्वशी तो वासन्ती लता बन गई । वस्तुतः कालिदास ने पुरुरवा को

अ पुनर्दृष्टिं वाष्पप्रसरकलुषामर्पितवती
मयि क्रूरे यत्तत्सविषमिव शल्यं दहति माम् ॥ अभि० ६.९

१- कदाऽपि सत्पुरुषः शोकवक्तव्या न भवति । अभि० षष्ठोऽङ्कः पृ० ११०

२- अभि० ६.१०

जैसा प्रणयार्द्र चित्रित किया है वैसा उर्वशी को नहीं । तथापि पुरुरवा का उन्माद पागलों का असम्बद्ध प्रलाप नहीं है । उसके उद्गारों में तर्कना की एक ऐसी धारा है जो उसे उन्मादियों की सामान्य कक्षा से ऊपर उठा देती है । पुरुरवा का मनस्पटल विवेक तथा भ्रान्ति के क्षणों से आलोकित एवं आच्छादित होता रहता है । उर्वशी के आकस्मिक दृष्टि-विलोप से पुरुरवा को यही प्रतीत होता है कि संभवतः केशी दैत्य ने उसे पुनः हर लिया है तथा मिट्टी का ढेला लेकर मारने दौड़ता है जब उसका विवेक सहसा खुल जाता है और वह कहता है कि यह अभी-अभी बरसनेवाला बादल है राक्षस नहीं । इसमें यह खींचा हुआ इन्द्रचाप है , राक्षस का धनुष है । जो बरस रहे हैं वे बाण नहीं प्रत्युत जल की बूंदे है तथा जो स्वर्णरेखा के समान चमक रही है , वह प्रिया उर्वशी नहीं , विद्युत है ।"[1] इसके उपरान्त पुरुरवा का विवेक क्षण-भर को अक्षुण्ण बन जाता है , जिसमें वह शोकप्रताडित सामान्य जन की भांति उच्छवसित आलाप करता है । इसके पश्चात् पुरुरवा का विवेक पुनः उन्माद की छाया से ग्रस्त हो जाता है तथा वह हरी घास पर फैली हुई बीर-बहूटियों को , उर्वशी की सुग्गे के पेट के समान हरे रंग का वस्त्र समझ लेता है ।[2] अनन्तर पुरुरवा क्रमशः मयूर कोयल , हंस , चकवा , भ्रमर तथा मतवाले हाथी से उर्वशी का सम्वाद पूछता है , जब उसे किसी से कोई उत्तर नहीं मिलता तो वह किसी पर से असूया का आरोप लगाता है[3], किसी को उदारतापूर्वक क्षमा कर देता है[4], किसी पर चोरी का दोष

१- विक्रम० ४-१२
२- विक्रम० ४-१७
३- विक्रम ० ४-२२
४- विक्रम० ४-२७

मदता है[१] किसी को उदासीनता के लिए उपालम्भ देता है[२] किसी की उदासीनता का स्वतः कारण अनुमानित कर लेता है[३] तथा किसी की अपने साथ समकक्षता का कथन कर उसे निरन्तर प्रिया समागम का आशीर्वाद देता है ।[४] इन कथनों में विक्षिप्तता के कोई लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होता । कोई भी कोमलमना , प्रियानुरक्त व्यक्ति अपनी प्राणदयिता के वियोग में इस प्रकार की कातर मनोदशा की अनुभूति करता है । तदनन्तर पुरुरवा पर्वत से , नदी से हरिण से तथा अशोक से वल्लभा का पता पूछता है ।[५] नदी को उसने अवश्य प्रिया समझने की भ्रान्ति की है ।[६] अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध में उसकी चेतना के विकृत होने का प्रमाण नहीं मिलता सहानुभूति न मिलने पर तीव्र उपालम्य की मुद्रा अथवा अपने भाग्य की विषादपूर्ण स्वीकृति की भावना-- ये प्रतिक्रियाएँ अधिकांशतः ऐसी ही है ।

ये समस्त मानसिक दुःख विषय विशेष के आदर्शन तथा कामजन्य है । इस सबों की मंजुलमय अनुभूति का साकार चित्र सुप्रसिद्ध करुणगीतिका "मेघदूतम्" नामक खण्डकाव्य है । संस्कृत साहित्य के गीतिकाव्यों में सर्वप्रथम स्थान रखने वाला मेघदूत का कथानक ही कुबेर के शाप से प्रिया से विप्रयुक्त हुए विरह संतप्त यक्ष के व्यथित हृदय की वेदना भरी करुणगीतिका है । यक्ष तो निमित्त मात्र है वस्तुतः

१- विक्रम० ४-३४
२- विक्रम० ४-३८
३- विक्रम० ४-४२
४- विक्रम० ४-४७
५- विक्रम० ४-४९, ५०
६- विक्रम० ४-५२

विरह व्यथित मानव का समस्त अन्तर्जगत् क्या आशाएं क्या निराशाएं किं हर्ष तथा किं वा विषाद सम्पूर्ण चित्र हमारे सम्मुख चित्रित हो जाते हैं । मेघदूत के प्रति श्लोक के प्रति शब्द किं वा प्रत्येक अक्षर भी विरहव्यथित हृदय की गहरी विकलता है । वाह्य यथा प्रकृति यथा पर्वत , नदियां , नगरियां , ग्राम , भूमियां भी सहानुभूतिपूर्ण अन्तर्जगत् के साथ अपनी एकता स्थापित करती हुई स्वयं विरह ज्वाला से संतप्त है । सर्वप्रथम प्रकृति का ही एक अंश मेघ चिर विरह के कारण अश्रु विमोचन कर प्रिय सखा शैल का आलिंगन[1] कर रहा है तथा अन्यत्र पीतपत्रों के रूप में विरह से दुर्बल कृशगात , निर्विन्ध्या की कृशता को दूर करता हुआ तथा कभी-कभी मीन की किलोल के रूप में गम्भीरा के चंचल चितवन को विफल न जाने देता हुआ चित्रित हुआ है ।[2] कहीं प्रतनु सलिल की एकवेणी धारिणी कृशगात सिन्धु अपनी विरहावस्था को व्यक्त कर रही है ।[3] कहीं सूर्य प्रवास से आकर अपने करों से विरह पीड़िता नलिनी के कमल वदन पर गिरे हुए ओस रूप अश्रुओं को पोंछ रहा है ।[4] कहीं अपने फेन से गौरी के भ्रूभंग का उपहास करती जह्नुकन्या वियोग के भय से लहर करों द्वारा शंकर के केशों को पकड़ रखा है ।[5] प्रकृति की इस समवेदना से विरही यक्ष के संतप्त हृदय को अतीव शान्ति मिलती रहती है । इस प्रकार विरही यक्ष की भावना से प्रतिबिम्बित बहिर्जगत् को पृष्टभूमि बनाकर कलाकार ने उत्तरमेघ में अन्तर्जगत् का चित्रण किया

१- पू० मे० १२
२- पू० मे० २८
३- पू० मे० २९
४- पू० मे० ४१
५- पू० मे० ५२

है विरहपीड़िता यक्ष पत्नी के विरह व्यथा की दशा यक्ष इन शब्दों में करता है "विरह के प्रथम दिवस मैंने उसकी जिस वेणी को शीघ्रता में बांधा था और शापान्त में मैं ही जिसे खोलूंगा, उस खुरदुरी वेणी को छूने से भी उसे पीड़ा होती होगी। बढ़े हुए नखोंवाले हाथों से वह अपने कोमल कपोलों पर से बारम्बार हटाती होगी। उस अबला ने आभरण त्याग दिए होंगे तथा शय्या पर किसी प्रकार अपना सुकुमार शरीर रखती होगी। वह रूपसी वियोग की गाढ़ी उत्कण्ठा के कारण कुछ ऐसी विवर्ण बन गई होगी यथा पाले की मारी कमलिनी अन्य प्रकार की द्युतिवाली बन जाती है।"[१]

यद्यपि सभी प्रकार के दुःख मन जन्य होने के कारण मानसिक होते हैं अतएव आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक रूप से उनका विभाजन सम्भव नहीं तथापि सांख्यमतानुसार अथवा श्रीवाचस्पतिमिश्र के भाष्यानुसार जिसमें मात्र मन की अपेक्षा हो उसे मानसिक दुःख के रूप में पारिभाषित करना चाहिए तथा जिसमें उसके अतिरिक्त वाह्य निमित्तों की भी अपेक्षा हो वह तदितर अर्थात् शारीरिक है।

शरीर में प्रविष्ट न करने वाले मणिमन्त्रादि उपायों द्वारा दूर किए जाने वाले दुःखों को वाह्य दुःख कहा गया है। वाह्योपाया साध्य दुःख दो प्रकार के होते हैं[२]-- (१) आधिभौतिक (२) आधिदैविक।

आधिभौतिक दुःख का अर्थ है चोर नृपादि, मनुष्य ग्राम्य चतुष्पद गो

१- उ० मे० २३, २४, २५, ३४
२- वाह्योपायसाध्यं दुःखं द्वैधा आधिभौतिकम् आधिदैविकश्च सां० त० कौ० पृ० १२

अश्वादि पशु , पंखयुक्त गृध्रादि पक्षी , अल्पचरण वृश्चिकादि सरीसृप प्रायः प्रत्यक्ष-चेष्टारहित विषवृक्षादिस्थावर आदि के कारण होने वाले दुःख को आधिभौतिक दुःख कहते हैं ।

मानवकृत आधिभौतिक दुःख का सर्वोत्तम उदाहरण सीता का परित्याग तथा शकुन्तला का विस्मरण रूप दुःख है । सीता के सन्देश में यथेष्ट उष्णता वर्त्तमान है जो हमारे मर्म को चोट पहुँचाती है । अन्तिम उक्ति में कितनी करुणता भरी है "राजाओं का धर्म वर्णों एवं आश्रमों की रक्षा करना है , अतएव घर से निष्कासित करने पर भी महाराज यह समझ कर मेरी देखभाल करेंगे कि सीता भी उनकी प्रजा और तपस्विनी है ।[१]अर्धांगिनी सीता के इस कथन में जो विवशता जो मर्मभेदी व्यथा गर्भित है , वह कठोर से कठोर हृदयों को भी द्रवित कर देगी । इसी प्रकार सीता के रुदन का चित्र भी अत्यन्त हृदयविदारक है । लक्ष्मण के विदा होते ही सीता के समान गला फाड़ -फाड़कर रोने लगी । इस क्रन्दन को सुनकर मयूरों ने नृत्य बन्द कर दिया , वृक्ष फूल के आंसू गिराने लगे तथा हरिणियों ने मुख में भरे हुए घास के कौर को गिरा दिया । सीता के दुःख से दुःखी होकर सम्पूर्ण वन ही रोने लगा ।[१] यहाँ कवि ने चराचर व्यापिनी उस हृदय सत्ता की ओर संकेत किया है जो अखिल विश्व को एक रागात्मक सम्बन्ध सूत्र में आबद्ध किए है । शकुन्तला भी दुष्यन्त द्वारा परित्यक्त होने पर दुष्यन्त को "नीच" तथा अनार्य" तक कह डालती है ।[२] सभासद के मध्य तिरस्कृत शकुन्तला तिलमिला जाती है तथा उसके अन्तस् की अग्नि जल बनकर नेत्रों के पथ से धाराओं में बाहर निकलने लगी । शार्ङ्गरव की

१- रघु० १४-६९
२- अभि० पंचमोऽङ्कः पृ० ९२

भर्त्सना से शकुन्तला के मर्म पर अन्तिम चोट पहुंचती है तथा पृथ्वीमाता से प्रार्थना करती है ।[1] उसके अपमान एवं तिरस्कार की पराकाष्ठा हो गई , जब उसके आत्मीय ने भी उसपर अविश्वास किया तथा ऐसी परिस्थिति में वह वाह्य विश्व को अपने मुख क्यों दिखा सकती है । अतः तत्काल स्त्री जैसी एक स्वर्गीय ज्योति आई तथा उसे गोद में उठाकर अप्सरातीर्थ की ओर चली गई ।[2]

सर्वोत्तम ग्रन्थ "रघुवंशम्" के प्रथम सर्ग में नृपाधिराज दिलीप ने अपनी चातुर्यपूर्ण वाणी में वशिष्ठ जी की कृपा को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं "आपकी कृपा से इस राज्य में मानुषी विपत्तियों (चोर , डाकू , शत्रु) तथा दैवीय विपत्तियों (अग्नि , जल , महामारी , अकालमृत्यु) को दूर करने वाले महर्षि आप स्वयं विद्यमान है , आप ही मन्त्रों के रचनाकार हैं तथा आपके मन्त्र इतने शक्तिशाली हैं कि मुझे अपने शर चलाने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि बाणों से मैं मात्र सम्मुख आने वाले शत्रु का ही हनन कर सकता हूं" किन्तु आपके मन्त्र दूर से ही शत्रुओं को नष्ट कर देते हैं । हे यज्ञ करनेवाले आप जब शास्त्रीय विधि से अग्नि में हवन देते है तब आपकी आहुतियां अनावृष्टि से शुष्क धान के खेत पर, जलवृष्टि होकर बरसने लगती है तथा यह आपके ब्रह्मतेज का ही फल है कि न किसी की अकालमृत्यु ही होती है तथा न बाढ , अकाल , राजकलह , शत्रुओं के के आक्रमण , किसी प्रकार की ईति तथा विपत्ति का डर होता है ।[3]

१- भगवति वसुधे देहि मे विवरम् अभि० पंचमोऽङ्कः पृ० ९५
२- अभि० ५-३०
३- रघु० १- ६०,६५,६६

इसी प्रकार रामराज्य का उल्लेख कवि जहां पर करता है वहां अकाल मृत्यु का उल्लेख मिलता है । पुरुषोत्तम राम के सम्मुख किसी ब्राह्मण ने अपने नवयुवक पुत्र की अकालमृत्यु पर विलाप करते हुए जिन शब्दों का कहा , उसे कवि-कुलगुरु ने इस प्रकार लिखा है --"हे पृथ्वी ! इस दशरथ के साथ छूटकर राम के हाथ में आकर बड़े कष्ट में पड़ गई हो तथा तुम्हारी दशा अतीव शोचनीय हो गई है । प्रजापालक नृपेश राम ने जब इस विलाप को सुना तो उन्हें अत्यन्त दुःख हुआ क्योंकि इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के राज्य में किसी की अकाल मृत्यु नहीं होती थी ।[1]

इसके अनन्तर रघुवंशम् के ही द्वितीय सर्ग में नन्दिनी गौ को आक्रान्त करनेवाले सिंह का वधकरने के लिए तूणीर से शर निकालने का उद्योग करने पर दिलीप का हस्त शर के पुच्छ से चिपक गया तथा भुजा के बन्ध जाने से अत्यधिक क्रोधित हुआ वह नृपेश दिलीप समीप स्थित अपराधी को स्पर्श भी न कर पाने के कारण अपनी क्रोधाग्नि से अन्तःकरण में उसी प्रकार जलने लगा जिस प्रकार मन्त्रों और औषधियों के प्रभाव से अवरुद्ध हुए पराक्रम वाला सर्प अन्दर ही अन्दर जलने लगता है ।[2] यहां भी मणिमन्त्रादि का उल्लेख प्राप्त है जिसे आधिभौतिक दुःख के अंतर्गत समन्वित किया जाता है ।

वे दुःख जो देवयोनि विशेष यक्ष , राक्षस तथा विनायक वेश और ग्रहों के आवेश से होता है, आधिदैविक दुःख हैं। कवि कालिदास ने आधिभौतिक दुःखों का उल्लेख

१- रघु० १५-४४
२- राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः ।
रघु० २- ३२

प्रायः अपनी रचनाओं में करते है। संभवतः तत्कालीन जनसामान्य का विश्वास राक्षस प्रभृति में था। समस्त विश्व के सर्वोत्कृष्ट नाटक "अभिज्ञानशाकुन्तलम्" में दुष्यन्त तथा शकुन्तला की प्रणयकथा वर्णित है। षष्ठांक में शकुन्तला के विरह के संतप्त भग्नहृदय दुष्यन्त के मनोगत दुःख का उल्लेख है। विरही नरेश वल्लभा के वियोग में कलप रहा है तथा धीवर प्रसंग के पश्चात् प्रिया के साथ व्यतीत किए गए मधुर क्षणों की स्मृतियाँ उसे व्यथित कर रही हैं। दुःखावेग में वह वसन्तोत्सव रोक देता है तथा आभरणों, रमणीय वस्तुओं तथा मंत्रियों के साथ मन्त्रणा में उसे कोई रुचि नहीं रहती। विदूषक से वह अपनी प्रिया के विषय में वार्तालाप करता हुआ दुःखातिरेक से मूर्च्छितावस्था को प्राप्त करता है। कविशिरोमणि ने दुष्यन्त की मूर्च्छना दूर करने के लिए नवीन कल्पना कर विदूषक को प्रेत से पीड़ित करते है। दुष्यन्त जिस वेला में मोह को प्राप्त करता है, नेपथ्य से विदूषक का करुण विलाप तथा आर्तनाद की ध्वनि आती है, जिसका श्रवण कर नृप का मोह शीघ्र दूर हो जाता है।[1]

इस वार्तालाप में उस अदृष्ट के लिए "कोई" प्रयुक्त है, जिसके द्वारा यक्ष, ग्रह अथवा भूतप्रेतादि ही इंगित हैं, जिसके दर्शन जनसाधारण द्वारा सम्भव नहीं है। युद्ध में नृपेश की प्रवृत्ति देखकर नेपथ्य द्वारा उस प्रेत का कथन आकाशवाणी रूप में प्राप्त होता है।[2]

१- "अदृष्टरूपेण केनापि सत्त्वेनातिक्रम्य मेघप्रतिच्छन्दस्य प्रासादस्य अग्रभूमिमारोपितः
मा तावत्। ममापि सत्त्वैरभिभूयन्ते गृहाः। अभि० षष्ठोऽङ्कः पृ० १२४।

२- एष मां कोऽपि प्रत्यवनतशिरोधरमिक्षुमिव त्रिभंगं करोति। .... तिष्ठ कुणपाशन। .... शून्यं खल्विदम्। अभि० षष्ठोऽङ्कः पृ० १२५।
एष त्वामभिनवकण्ठशोणितार्थी शार्दूलः पशुमिव हन्मि चेष्टमानम्। अभि० ६-२७।

"अभिज्ञानशाकुन्तलम्" के ही द्वितीय अंक मे ऋषिकुमारों का नृपेश से विनय है कि राक्षस गण उनके यज्ञों में विघ्न पहुंचा रहे हैं अतः वे रक्षा करें। महर्षि कण्व के आश्रम में न रहने का कारण पूछने पर ज्ञात होता है कि ललनाललाम-भूता शकुन्तला के ग्रहशान्ति के लिए ग्रह शान्ति के लिए सोमतीर्थ गए हैं।[1]

अन्यतम नाटक "विक्रमोर्वशीयम्" जिसमें देवलोकवासिनी अप्सरा उर्वशी तथा मर्त्य के नृप पुरुरवा की प्रणय-कथा वर्णित है का प्रारम्भ ही आधिदैविक दुःख से प्रारम्भ होता है। सूर्य-पूजा करके लौटते हुए पुरुरवा को यह ज्ञात होता है कि कुबेर भवन से वापस आती स्वर्गीया अप्सरा का केशी दैत्य ने पकड़ लिया है।[2] पुरुरवा कुछ देर में ही दैत्यग्राह से उर्वशी का उद्धार कर लौटता है।

मालविकाग्निमित्रम् के चतुर्थांक में मालविका-अग्निमित्र के मिलन में सहायक गौतम राजमहिषी धारिणी के सम्मुख सर्प काटने के फलस्वरूप अतीव व्यग्रता का नाटक करता है तथा रानी की नागमुद्रांकित अंगुलीयक ले लेता है। तदनन्तर वह बन्दीगृह की निरीक्षिका माधविका के समीप जाता था तथा यह बहाना बनाकर कि रानी धारिणी ने तत्काल समस्त बन्दियों की मुक्ति का आदेश दिया है, क्योंकि ज्योतिषियों के कथनानुसार राजा के ग्रह बिगड़े हुए हैं, जिसके शमनार्थ बन्दियों की मुक्ति आवश्यक है इसप्रकार मालविका को पातालगृह से छुड़ाता है।[3]

१- इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः। अभि० प्रथमोऽङ्कः पृ० ९

२- विक्रम० १-४

३- सोपसर्गं वो नक्षत्रम्। तदवश्यं सर्वबन्धमोक्षः क्रियतामिति।
मालविका० चतुर्थोऽङ्कः पृ० ३२३

इन उदाहरणों द्वारा यह ज्ञात होता है कि ग्रहादि आदि स्थितियां मनुष्य को दुःखित करती हैं तथा इन ग्रहों का शमन भी हो सकता था , इसका उल्लेख कालिदास करते हैं ।

करुणगीतिका मेघदूतम् में यक्षेश्वर कुबेर द्वारा शापित यक्ष की ही मनोव्यथा है । दोनों महाकाव्यों रघुवंशम् और कुमार सम्भवम् में भी दैत्याक्रांत देवगणों का उल्लेख प्राप्त होता है ।[1]

रघुवंशम् का महत्त्वपूर्ण खण्ड रामचरित का व्याख्यान है । कालिदास ने राम को विष्णु का अवतार माना है तथा राक्षसों के विनाश को रामजन्म का प्रयोजन । रावण के आक्रमणों से दुःखित देवतागण विष्णु के संमुख अपनी समस्या रखते हैं तथा उसके फलस्वरूप रावण वध के हेतु ही विष्णु रामावतार ग्रहण करते है । कुमारसम्भवम् में भी कठोर तपस्या लीन शिव तथा पार्वती के पराक्रमशाली तनय कार्तिकेय के जन्म तथा उसके द्वारा देवसैन्य का नायकत्त्व ग्रहणकर भयंकर असुर तारक के संहार की ही कथा है । तारकासुर से आक्रान्त देवतागण समाधिस्थ शंकर से सेनापति की याचना करते हैं । फलस्वरूप शिव ने पार्वती से विवाह किया , तभी कुमार का जन्म हुआ , जिसकी अध्यक्षता में देवसेना ने तारकासुर पर विजय प्राप्त की ।[2]

इस प्रकार मूलसांख्यकारिका सम्मत दुःखत्रय का विवेचन कवि की रचना में सुतरां प्राप्त है । बौद्ध दार्शनिक प्रभृति के वचनानुसार सत्कार्यवादी सांख्य के मत

१- रघु० दशमः सर्गः
२- तदिच्छामो विभो स्रष्टुं सेनान्यं तस्य शान्तये कुमार २·५१

में दुःख का नाश किस प्रकार हो सकता है क्योंकि उनके विचारानुसार असत् की उत्पत्ति या सत् का विनाश नहीं हो सकता। सांख्य दार्शनिकों ने उसका पूर्ण निरोध या विनाश सम्भव न मानकर भी उसका अभिभव स्वीकार किया गया है। सांख्यदर्शनानुसार यद्यपि दुःखत्रय की निवृत्ति लौकिक एवं सरल उपाय सुलभ है तथापि वह सार्वकालिक निवृत्ति में समर्थ नहीं।[1] कविकुलश्रेष्ठ कालिदास भी प्रेयस् के ऊपर श्रेयस् के संगीत को सुना जाते हैं। वस्तुतः कालिदास का उद्देश्य भी पारलौकिक अभ्युदय की श्रेष्ठता दिखलानी है।

मीमांसकों ने स्वल्पसाध्य वेदोक्त यज्ञ कर्म को दुःख त्रिविध की सर्वकालिक निवृत्ति का साधन माना है तथा श्रुति भी उसमें प्रमाण हैं।[2] सांख्याचार्य एवं कालिदास स्वयं भी इस विचारधारा का खण्डन करते हैं। कार्यकलापरूप वैदिक उपाय अशुद्धि, विनाश तथा न्यूनाधिक्य दोष से युक्त है। स्वर्गादि "भाव पदार्थ" होते हुए दूसरे के कार्य हैं -- अतः उनका क्षयित्व अर्थात् अनित्यत्व सिद्ध है।[3] कविश्रेष्ठ ने भी यद्यपि यज्ञादि का वर्णन बहुतायत से किया है किन्तु स्वर्ग की अनित्यता को मेघदूतम् में सरस उत्प्रेक्षा द्वारा दर्शित किया है।[4] उसी प्रकार रघुवंशम् में भी स्वर्ग की

१- दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्। सां० का० १
२- दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
२- तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्॥ सां० का० २
 यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
 अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥
३- स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः
 यत् कार्यं तदनित्यम्
४- पू० मे० ३०

अस्थिरता का संकेत कवि ने दिया है ।[1]

वैदिक क्रिया कलाप से सम्पन्न यज्ञानुष्ठान अशुद्धात्मक होने के कारण सांख्यसम्मत नहीं है । कालिदास भी बलिकर्म द्वारा संपादित यज्ञादि का समर्थन नहीं करते । इतना अवश्य है कि अश्वों की यज्ञ में आहुति प्रदान करने से अदृष्ट बनता है , इसका उल्लेख उनकी रचनाओं में प्राप्त है ।[2] सांख्यदार्शनिकों का कथन है कि तत्वज्ञान से ही दुःख की एकान्तिक एवं आत्यन्तिक मुक्ति सम्भव है ।[3] महाकवि कालिदास भी तत्वज्ञान द्वारा मुक्ति स्वीकार करते हैं उनकी वाणी स्पष्ट रूप से इसका अनुमोदन करती है ।[4]

प्रमाण - चर्चा

सांख्य का ज्ञानविषयक सिद्धान्त मुख्यतः उसके द्वैतवाद पर अवलम्बित है । सांख्यमात्र त्रय प्रमाणों की सत्ता स्वीकार करता है.--प्रत्यक्ष , अनुमान एवं शब्द । अन्यान्य प्रमाणों में अभाव तथा मीमांसक सम्मत उपमान प्रमाण को प्रत्यक्ष प्रमाण में , अर्थापत्ति , सम्भव तथा नैयायिक सम्मत उपमान तथा ऐतिह्य प्रमाण आगम अथवा शब्द प्रमाण में अन्तर्हित करते हैं । सांख्यदर्शन का अनुसरण करते हुए कविकुलश्रेष्ठ कालिदास तीन

१- रघु० ४-६०
२- रघु० ३-६५
३- एवं तत्वाभ्यासात् .... । सां० का० ६३
४० ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।" गीता ।
४- इतरो दहने स्वकर्मणां ववृते ज्ञानमयेन वह्निना "रघु० ८-२०
इन्द्रियाख्यानिव रिपूंस्तत्वज्ञानेन संयमी " रघु० ४-६०

प्रमाणों अर्थात् सत्ताधारी समस्त वस्तुओं की प्रकृति के यथार्थज्ञान प्राप्त करने के त्रय साधनों का उल्लेख करते हैं ।

सांख्यदर्शनानुसार बुद्धितत्व में सकल पदार्थों को ग्रहण करने की शक्ति रहने पर भी तमोगुण से प्रतिबद्ध होने के कारण वह स्वयं स्वतन्त्र रूप से विषय के समीप नहीं पहुंच पाता किंतु जब इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष द्वारा तम को हटा दिया जाता है उस वेला में इन्द्रिय के माध्यम से विषय के समीप पहुंचकर उस विषय के आकार में परिणत हो जाता है , उसी को अध्यवसाय वृत्ति या प्रमाण कहते हैं । इस वृत्ति नामक ज्ञान का जो फल है उसे प्रभा कहते हैं जिसका अनुभव चेतन ही करता है क्योंकि अचेतन बुद्धि का अध्यवसाय भी अचेतन ही है ।

सांख्य कारिकाकार ने सामान्यलक्षणों तथा प्रमाणों की संख्या का उल्लेख सांख्यकारिका के प्रारम्भ में ही सिद्ध की गई है ।[1] कविशिरोमणि कालिदास ने भी सांख्य सम्मत प्रमाणत्रय को ही अपनी समस्त रचनाओं में स्थान प्रदान करते हैं । संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में अपनी विमल कीर्ति की ध्वजा फहराता "रघुवंशम्" में विष्णु की स्तुति के प्रसंग में कवि की कविभारती स्पष्टतः प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द प्रमाण की सत्ता बताती है ।[2]

कवि कहता है यद्यपि पृथ्वी आदि को देखने से आपकी महिमा प्रकट

१- प्रीतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम् ।
तल्लिंगलिंगिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥ सां० का० ४

२- प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव ।
आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा ॥ रघु० १०-२८

होती है किन्तु उसके द्वारा आपका वर्णन सम्भव नहीं , अतः मात्र अनुमान तथा आप्तवाक्य (वेदादि) के वर्णन से आपका ज्ञान किस प्रकार हो सकता है ।

प्रत्यक्ष प्रमाण को लक्षित करते हुए सांख्यकारिकाकार का कथन है कि इन्द्रियों के सम्बन्ध में होनेवाला ज्ञान चित्तवृत्तिरूप प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण है । सुप्रसिद्ध खण्डकाव्य तथा करुणगीतिकाव्य "मेघदूतम्" में प्रत्यक्ष प्रमाण का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होते हैं । जब यक्ष द्वारा मेघ का दर्शन हुआ उस वेला में उसकी चतुरिन्द्रिय द्वारा मेघ का दर्शन हो गया तथा आकाश रूप विषय का यक्ष की इन्द्रियों के साथ संयोग होने से जो साक्षात् ज्ञान हुआ वही प्रत्यक्ष कहलाता है । यहां प्रत्यक्ष का अर्थ नेत्रगोचर न होकर इन्द्रिय - गोचर है ।

सांख्यानुसार प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है --

निर्विकल्प प्रत्यक्ष तथा सविकल्प प्रत्यक्ष । निर्विकल्प प्रत्यक्ष में वस्तुओं की प्रतीतिमात्र होती है , इस प्रत्यक्ष में वस्तुओं की प्रकारता का ज्ञान नहीं रहता । यथा मेघ ने जिस वेला में मेघ का प्रथम दर्शन किया , उस समय वह टीले से मिट्टी उखाड़ने के खेल में तिरछे दन्तों से प्रहार करते हुए हाथी के समान दृष्टिगत हो रहा था । किन्तु जब वस्तु का स्पष्ट और निश्चित ज्ञान होता है उसे सविकल्प प्रत्यक्ष कहते हैं उदाहरणस्वरूप यक्ष का मेघ रूप विषय से साक्षात् ज्ञान प्राप्त हुआ ।

अनुमान प्रत्यक्ष के पश्चात् होता है । अनुमान "अनु" तथा "मान" के योग से निर्मित है । अनु का अर्थ पश्चात् है तथा मान का अर्थ ज्ञान है । अतः अनुमान उस ज्ञान को कहते हैं जो किसी पूर्वज्ञान के पश्चात् आता है ।

अनुमान प्रमाण[1] के अनेक उदाहरण संस्कृत साहित्य के चूड़ामणि की

1- मितेन लिंगेन अर्थस्य पश्चान्मानमनुमानम् " न्याय भाष्य १-१-१३ ।

रचनाओं में प्राप्त होते है । उनकी लेखनी "आप्तवाक् अनुमानाभ्यां साध्यम्" द्वारा अनुमान प्रमाण की विस्तृत व्याख्या के प्रति संकेत देती है । इस श्लोक का प्रसंग ईश्वरसत्ता सिद्धि के प्रसंग में प्राप्त है । अतः यहां कवि ने सांख्य दर्शन को सेश्वर बना दिया है अथवा न्याय-वैशेषिक एवं वेदान्त सम्मत प्रमाण को प्रश्रय दिया है , किन्तु प्रकृति के सन्दर्भ में इसकी व्याख्या सरलतापूर्वक की जा सकती है । सांख्य दार्शनिकों ने भी अनुमान प्रमाण द्वारा ही प्रकृति की सत्ता की सिद्धि की है । सांख्य सम्मत प्रकृति सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के कारण अप्रत्यक्ष है अतः प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा उसका दर्शन सम्भव नहीं है । यहाँ पूर्वपक्षी शंका कर सकते हैं कि जिस प्रकार अभाव के कारण खाद्यों में सप्तम रस की अनुभूति नहीं होती उसी प्रकार प्रकृति का भी अभाव होने के कारण उसका प्रत्यक्ष नहीं होता , अतः अदृश्य प्रकृति तत्व की सत्ता क्यों स्वीकार की जाए? इसके समाधान में सिद्धान्ती का कथन है कि प्रकृति के अप्रत्यक्ष का हेतु उसकी सूक्ष्मातिसूक्ष्मता[1] है क्योंकि सांख्यकारिका भी यही कहती है । प्रकृति के दर्शन का अनुमान उसके कार्यों की अवगति से होती है । कार्य महत्तत्व प्रभृति है जो प्रकृति के समान भी है उससे विलक्षण भी । प्रकृति के इन कार्यों का संकेत कवि अनेक स्थानों पर इंगित करता है । प्रकृति सृष्टि का मूल कारण है , जगत् का विकास है तथा अव्यक्त है । सरयू के रूप में ब्रह्म समुद्र उस अव्यक्त की भांति है जिससे महत्तत्व उत्पन्न होता है ।[2] इसी अव्यक्त से शेष विकृति का कार्य होता है । महत्तत्व की ही दूसरी संज्ञा बुद्धि है ।

१- सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतः तदुपलब्धेः ।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृति सरुपं विरुपं च ॥ सां० का० ८

२- रघु० १३-६० ।

बुद्धि के साथ मन तथा अहंकार को मिलाकर अन्तःकरण की उत्पत्ति होती है । अहंकार द्वारा पंचज्ञानेन्द्रिय , पंचकर्मेन्द्रिय तथा पंचमात्रों की उत्पत्ति स्वीकार की गई है । शब्द गुण[1] का स्पष्ट उल्लेख कवि अनेक स्थलों पर करता है तथा पंचतन्मात्राओं से पंचमहाभूतों की स्वतन्त्र रूप से सृष्टि की व्याख्या "रघुवंशम्" में प्राप्त होती है । ब्रह्मा ने नृपेश दिलीप को पंचतत्वों से निर्मित किया था क्योंकि पंचतत्व जिस प्रकार निरन्तर गन्ध , रूप , रस , स्पर्श तथा शब्द गुणों से समस्त सृष्टि की सेवा किया करते थे उसी प्रकार दिलीप के समस्त गुण भी परोपकार तथा सेवाभाव से परिपूर्ण थे ।[2] रघु के प्रसंग में भी गुणों के वृद्धित्व का संकेत मिलता है ।[3]

अतः किसी वस्तु के प्रत्यक्ष न होने के कारण ही उसकी सत्ता अथवा आसत्ता का निर्णायक नहीं हो सकता क्योंकि अनेक कारणों से सत्तावान् पदार्थ दृष्टिगत नहीं होते , सांख्यकारिका में भी श्रीमदीश्वरकृष्ण ने स्पष्टतः इसका विवेचन किया है ।[4] इससे सिद्ध है कि सूक्ष्मता का प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त न होने पर भी कार्य से प्रकृतिरूप कारण की सत्ता का अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध किया जा सकता है ।

विश्वप्रसिद्ध नाटक "अभिज्ञानशाकुंतलम्" के षष्ठोंक में शकुन्तला के विरह में संतप्त दुष्यन्त शोकाकुलावस्था में अङ्गुलीयक के प्रीत ही आक्रोश प्रकट करता है --"भो अंगुलीयक । मेरे समान ही तेरे पुण्यों का भोग भी पूर्ण हो गया

१- अभि० १-१ , रघु० १३-१
२- रघु० १-२९
३- रघु०४-११
४- सां० का० ७

था , अन्यथा प्रियतमा के अरुण नखोंवाली कोमल अंगुली ने निकलकर क्योंकर गिरती ?"[1]

इस श्लोक के द्वारा यह ज्ञात होता है कि पुण्य इन्द्रियगोचर नहीं है , उसका फल प्रतनु है , यह किस प्रकार ज्ञान हो , इसी शंका के समाधान के लिए फलेन पद की प्राप्ति होती है । फल देखकर अनुमान प्रमाण द्वारा ही यह ज्ञात होता है कि वह (फल) अल्प है फलस्वरूप पुण्य भी अल्प होगा । "मम इव" द्वारा सूचित होता है कि मेरे (दुष्यन्त) पुण्य के समान ही तुम्हारा पुण्य भी अल्प होगा ।[2]

इसी प्रकार अनुमान प्रमाण के प्रति निष्ठा का उल्लेख "शाकुन्तल" में अन्यत्र भी प्राप्त होता है । दुष्यन्त अपनी विस्मरण शक्ति पर आश्चर्य प्रकट करते हुए अपने भावों की अभिव्यक्ति इस प्रकार करते हैं[3]-- "मुझे यह त्रुटि उसी प्रकार प्रतीत हो रही है मानो इन्द्रिय सन्निकर्ष प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा प्राप्त गज को देख यह संशय हो रहा है कि यह हाथी है अथवा नहीं किन्तु उसके गमनोपरान्त उसके पदों के चिह्न द्वारा विश्वास हो कि वह निस्सन्देह हाथी ही था । यहाँ सर्वप्रथम भ्रम अथवा मिथ्याज्ञान हुआ , जिससे विपरीत प्रतीति हुई , पश्चात् में संशय हुआ कि हाथी था अथवा नहीं , अंततः पदचिह्न रूप अनुमान द्वारा निश्चय हुआ । इसी अनुमान प्रमाण द्वारा निर्धारित ज्ञान (प्रमा) की संज्ञा सांख्य दार्शनिकों ने अनुव्यवसायात्मक अनुमिति है प्रत्यक्ष ज्ञान के पश्चात् ही अनुमान ज्ञान की सहायता ली जाती है तथा

१- अभि० ६-१०
२- अभि० ६-११
३- अभि० ७-३०

संशय को दूर किया जाता है ।

शब्द प्रमाण तृतीय तथा अन्तिम प्रमाण है । जिस विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा प्राप्त नहीं होता उसका ज्ञान आप्तवचन के द्वारा होता है । विश्वस्त वाक्य को आप्तवाद कहते हैं । वाक्य का अर्थ है -- शब्दों का एक विशेष क्रम से विन्यास । वाच्य विषय ही शब्द का अर्थ है अर्थात् शब्द वह संकेत है जो किसी वस्तु के लिए प्रयुक्त होता है । वाक्य-बोध के लिए शाब्दबोध होना आवश्यक है । श्रीमदीश्वर कृष्ण ने उसकी परिभाषा निम्न प्रकार से दी है जिसकी भाष्य में श्रीवाचस्पतिमिश्र ने भी स्पष्ट किया है ।[1] वाक्य से उत्पन्न होने वाला ज्ञान दो प्रकार का होता है । स्वतः प्रमाण तथा परतः प्रमाण । अन्य प्रमाण की अपेक्षा न रखते हुए अपने अर्थबोधन में जो समर्थ हो वह स्वतः प्रमाण है तथा अन्य प्रमाणों की अपेक्षा रखकर स्वार्थ बोधन में समर्थ हो वह परतः प्रमाण है । सांख्य तथा मीमांसा में ईश्वर को वेद का कर्त्ता स्वीकार नहीं किया गया है । अतः वेदों की रचना पुरुष विशेष रूप ईश्वर के द्वारा भी न की जाने के कारण अपौरुषेय है ।[2] यह वैदिक अनुभव किसी व्यक्ति विशेष के ज्ञान या इच्छा पर आश्रित नहीं किन्तु सर्वदेशीय तथा सर्वकालिक सत्य है किन्तु ये नित्य नहीं क्योंकि वे द्रष्टा ऋषियों के दिव्य अनुभवों से उत्पन्न है तथा सनातन पठन-पाठन की परम्परा से सुरक्षित है । वैदिक शब्द अर्थात् साधारण विश्वासपात्र व्यक्तियों के आप्त-वचन को लौकिक शब्द कहते हैं । सांख्य इसे स्वतंत्र प्रमाण की कोटि में नहीं रखता

१- आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु सा० का० ५
आप्त प्राप्ता युक्तेति यावत् । आप्ता चासौ श्रुतिश्चेति आप्तश्रुतिः ।
श्रुतिः वाक्यजनित वाक्यार्थज्ञानम् । सां० त० कौ० पृ० ७१ ।
२- न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात् ।

क्योंकि यह प्रत्यक्ष और अनुमान पर आधारित है । कविशिरोमणि कालिदास ने मात्र एक स्थल पर अपौरुषेय वैदिक छन्द को उल्लिखित किया जो स्वतः प्रमाण तथा अभ्रान्त है । सर्वोत्कृष्ट नाटक "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" में पतिगृह गमनोद्यत निसर्ग कन्या शकुन्तला को महर्षि कण्व ऋग्वेद के छन्द में आशीर्वचन देते हैं ।[1] परतः प्रमाण के अनेक उदाहरण कवि की रचनाओं में प्राप्त हो सकते हैं क्योंकि कवि ने महर्षि वशिष्ठ महर्षि वाल्मीकि ऋषि कण्व प्रभृति को अपनी रचनाओं में सम्मानपूर्वक स्थान दिया है । किन्तु सांख्यसम्मत न होने के कारण उनका उल्लेख यहां आवश्यक नहीं है ।

अन्ततः उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि कविकुलगुरु जगत् स्थित समस्त सत्ताधारी वस्तुओं की प्रकृति के यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए साधनत्रय को स्वीकार करते हैं , जिस प्रकार सांख्यदर्शन में प्रमाण त्रय की सत्ता स्वीकार की गई है ।

सत्कार्यवाद

तत्त्व चिन्तन की नींव कार्यकारणभाव की विचारणा है । जहां कार्य-कारण भाव की विचारणा उत्पन्न नहीं होती वहां तत्वमीमांसा के उदय की सम्भावना ही

१- अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्या
   समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः ,
   अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धैर्वैतानाः
   त्वां वह्नयः पावयन्तु ॥ अभि० ४-८

नहीं होती वहां तत्वमीमांसा के उदय की सम्भावना ही नहीं है। कार्यकारण भाव की विचारणा देश तथा काल की मर्यादा में ही हो सकती है। उसमें गहराई तथा सुनिश्चितता भी अधिकाधिक आती जाएगी। ऐसे विस्तार विकास एवं संशोधन के कारण ही तत्व-चिन्तन में नवीन-नवीन चिन्त्य विषय पर विवेचन प्राप्त होता है तथा स्वरूप चिन्तन में भी परिवर्तन होता है। कार्य की क्या संज्ञा है तथा कारण क्या है ? इसका विशद विवेचन वेद, ब्राह्मण उपनिषद्, आगम एवं पिटक आदि ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से मिलता है। कविशिरोमणि कालिदास ने भी अपनी विभिन्न रचनाओं में तत्वचिन्तन अर्थात कार्यकारणभाव की विचारणा की है। जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दर्शन के विभिन्न सम्प्रदाय के मत भिन्न है। कविकुलगुरु की तत्व विचारणा सांख्यसम्मत सत्कार्यवाद मत[1] से सामंजस्य रखती है अतः क्या वे सत्कार्यवादी थे ? इस प्रश्न की विचारणा यहां अपेक्षित है।

जगत् की उत्पत्ति के विषय में कालिदास ने सांख्यसम्मत विचारों को मान्यता प्रदान की है, यद्यपि कविकुलगुरु ने प्रकृति एवं पुरुष के ऊपर परम पुरुष को प्रतिष्ठित कर सांख्य को आस्तिक माना है, किंतु यहां ब्रह्म ही प्रकृति है तथा महदादि कार्य और गुणत्रय उसी में सन्निविष्ट हो जाते हैं। प्रकृति का प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः तन्निष्ठ कार्य महदादि का भी दर्शन नहीं होता है, क्योंकि कार्य-कारण से भिन्न कदापि नहीं हो सकता। रघुवंशम् के द्वितीय सर्ग में भूभृत् दिलीप तथा

१- असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्। सां० का० ९

शिवानुचर रूप में अपना परिचय देनेवाले मायावी सिंह के मध्य वार्ता के सम्बन्ध में नरेश का कथन है --"यदि आप किसी प्रकार मुझे अपने द्वारा मारे जाने योग्य नहीं समझते तो मेरे यशरुपी शरीर पर दया कीजिए । निश्चित रूप से विनष्ट हो जाने वाले पृथ्वी आदि पंचभूतों से निर्मित शरीर के प्रति मुझे कोई मोह नहीं ।"[1] दिलीप के इस कथन का भाव इस प्रकार समझा जा सकता है कि हे सिंह (यदि आप किसी कारणवशात् ऐसा समझते हैं कि मैं आपके द्वारा मारे जाने योग्य नहीं हूँ और आप मुझे मारना नहीं चाहते तो यह आपका मेरे प्रति दयाभाव ही हो सकता है । किन्तु पंचमहाभूतों द्वारा निर्मित शरीर की अपेक्षा मुझे अपना यश ही अधिक प्रिय है । पंचभूत निर्मित शरीर (आकाश , वायु , अग्नि , जल तथा पृथ्वी) का विनाश अवश्यंभावी है किन्तु विमल कीर्ति अक्षुण्ण है । अतः दयाभाव यदि रखना ही चाहते हैं तो मेरे यश को अक्षुण्ण बना रहने दीजिए , अपयश मरण से भी अधिक दुःखदायी है ।" इस श्लोक में कवि द्वारा शरीर की नश्वरता के प्रति स्पष्ट संकेत है । पंचभूत निर्मित शरीर का नाश अवश्यमेव ही होगा तथा वह कारणभूत प्रकृति में लीन हो जाएगा , उसके प्रति मोह व्यर्थ है ।

सांख्यदर्शनानुसार जिस क्रम से सृष्टि की उत्पत्ति होती है , उसी के विपरीत क्रम में जब कार्य कारण में लीन होते जाते हैं । पंचमहाभूत कार्य अपने कारण पंचतन्मात्र में लीन हो जाते हैं , एकादशेन्द्रिय तथा पंचतन्मात्र रूप कार्य अपने

१- किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशः शरीरे भव मे दयालुः ।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥
रघु० २-५७

कारण अहंकार में , अहंकार महत् में तथा महत् अपने मूलकारण प्रकृति में लीन हो जाते हैं । कवि ने इस श्लोकार्ध में सांख्य सिद्धान्त के बीज अतीव सूक्ष्मता से सन्निहित किए हैं , जिसमें उनकी विद्वता तथा पाण्डित्य भूरिशः प्रगट हो रही है । उनका स्पष्ट संकेत सत्कार्यवाद के प्रति है जहां कार्य को कारण में लीन होना स्वीकार किया गया है ।विभिन्न दार्शनिकों[1] ने कारण-कार्य भाव की विचारणा भिन्न-भिन्न रूप में की है । सांख्यमतानुसार कारण व्यापार द्वारा उपादान में पूर्वतः विद्यमान कार्य की ही अभिव्यक्ति होती है यथा पीडन से तिल में तैल तथा अवघात से धान्य में तण्डुल व्यक्त होता है । उसी प्रकार प्रकृति में महदादि कार्य पूर्वतः विद्यमान रहते हैं तथा प्रकृति-पुरुष के पारस्परिक संयोग प्राप्त होने पर प्रकृति में भीषण आन्दोलन उत्पन्न होता है तथा नानाविध सांसारिक विषयों की उत्पत्ति होती है । कवि शिरोमणि प्रकृति-निष्ठ विभिन्न तत्वों का उल्लेख अनेक स्थलों पर करता है ।[2] द्वितीय अनुमान इस प्रकार किया गया है कि किसी भी कार्य को प्राप्त करने के लिए उसका उपादान देखते है । यदि उस उपादान कारण में कार्य अनागतावस्था में न हो तो वृक्षरूप कार्य के लिए बीज की क्या आवश्यकता ? इसी प्रकार महदादि तत्वों रूप कार्य के लिए उपादान कारण प्रकृति की सत्ता न स्वीकार उचित नहीं जिसका समुचित वर्णन विष्णुस्तुति प्रसंग में "रघुवंशम्" में प्राप्त है ।[3] इसी प्रकार यदि कार्य-कारण में सम्बद्धता स्वीकार

१- आरम्भवादः कणभक्षपक्षः , संघातवादस्तु भदन्तपक्षः ।
   सांख्यवादिपक्षः परिणामवादः , वेदान्तपक्षस्तु विवर्तवादः ॥
२- कुमार० २-१३
३- अजितो विष्णुरत्यन्तमव्यक्तो व्यक्तकारणम् । रघु० १०·१७

न की जाए , तो सभी वस्तुओं की प्राप्ति सभी वस्तुओं से हो जाएगी -- यथा तिल से पट की । किन्तु इस प्रकार दृष्टिगत नहीं होता , अतः सत्कार्यवाद के सिद्धान्त की पुष्टि होती है अथवा जिस कार्य में जो कारण शक्त है उस शक्त कारण का वही कार्य होगा । इसके अतिरिक्त सांख्यदार्शनिकों के मत में कार्य कारण से भिन्न नहीं होता । यदि कारण सत् तो कार्य भी सत् होगा । यदि अन्य दार्शनिक शंका करे कि कारण-कार्य में क्रिया , निरोध , बुद्धि , व्यपदेश , अर्थक्रिया एवं अर्थक्रियाव्यवस्था भेद है तो उत्तर में सांख्याचार्यों का कथन है कि ये हेतु ऐकान्तिक भेद को सिद्ध नहीं कर सकते क्योंकि एक ही पदार्थ के तत्तत् विशेष धर्मों के आविर्भाव एवं तिरोभाव से आगन्तुक भेद प्रतीत होते है और जिस प्रकार कूर्म के अंग जब निकलते है तो शरीर से भिन्न प्रतीत होते है और जब तिरोभूत हो जाते है तब अभिन्न । अतः कार्य सत् है , गीता में भी व्यास का कथन इसी प्रकार है ।[1]

पंचभूत निर्मित शरीर की नश्वरता का उल्लेख कवि अन्यत्र भी करते हैं । विजेता राम ने रावण का बधकर देवताओं का कार्य पूर्ण किया तथा उत्तरगिरि हिमालय पर पवनसुत हनुमान तथा दक्षिणगिरि त्रिकूट पर विभीषण को अपने दो कीर्तिस्तम्भों के रूप में स्थापित करके लोकत्रय को धारण करने वाले भगवान् अपने विराट रूप में लीन हो गये यहां भी कवि उसी सत्कार्यवाद के प्रति संकेत कर रहे हैं जहां राम अपने नश्वर शरीर का त्याग कर कारणरूप विष्णु में लीन हो गए । क्योंकि प्रत्येक कार्य अपने कारण में सूक्ष्मरूप में विद्यमान रहता है तथा विनाशोपरान्त पुनः उसी

१- नासतो विद्यते भावो ना ऽ भावो विद्यते सतः । गीता २-१६

२- रघु० १५-१०३,१०४

कारण में लीन हो जता है ।

अष्टमूर्ति के उल्लेख का प्रसंग भी कवि की रचनाओं में भूयशः प्राप्त है , जिसके मूल में भी सत्कारवाद के बीज निहित हैं । यह समस्त विश्व शंकर की अष्टमूर्तियों में इस प्रकार ओत-प्रोत है , जिस प्रकार धागों में मणियों का समुदाय पिरोया रहता है । "शिवपुराण" के वर्णनानुसार इन अष्टमूर्तियों की संज्ञा शर्व , भव , रुद्र , उग्र , पशुपति ईशान तथा महादेव है तथा ये जगत् में प्रसिद्ध है । भूमि , जल , तेज , मरुद् , आकाश , आत्मा , सूर्य तथा चन्द्र इन अष्टमूर्तियों के अधिष्ठाता शर्वादिक ही है ।[1]

(क) भगवान् शर्व धरणी के रूप में समस्त चराचर जगत् को धारण करते हैं ।

(ख) भगवन् भव जल के रूप में समस्त विश्व को जीवन प्रदान करते हैं ।

(ग) ईश्वर उग्र जगतव्यापी तथा जगतातीत दोनों ही है तथा विश्व को धारण तथा स्पन्दन करते रहते हैं ।

(घ) भगवान् भीम सभी को अवकाश देते हैं तथा राजाओं के अन्तःकरण में भेद करते हैं एवं सर्वव्यापक आकाश के रूप में स्थित है ।

(ङ) ईश्वर प्रजापति पशुपति पशुओं के पाश को काटनेवाले तथा जगत् की आत्मा के अधिष्ठाता है ।

(च) भगवान् महादेव रात्रि में नभोमण्डल में स्थित होकर अमृत के समान किरणों से समस्त लोकों को तृप्त करते हैं अतः इनका स्वरूप चन्द्रात्मक महादेव है ।

१- शिवपुराण पृ० २१५

(छ) भगवान् ईशान आकाश में स्थित होकर सूर्य के समान जगत् को प्रकाश देते हैं ।
(ज) भगवान् रुद्र अन्य व्यापक मूर्तियों की आत्मा है तथा जगत् के लिए परम कल्याण की मूर्ति है ।

वाग्देवतावतार कालिदास ने इस अष्टमूर्तियों के स्वरूप का उल्लेख अपने समस्त नाटकों के नान्दी श्लोकों में वर्णित किया है । "अभिज्ञान-शाकुन्तलम्" में अष्टमूर्ति का उल्लेख इस प्रकार है ---

(क) शिव उस जल के रूप में हमें प्रत्यक्ष दृष्टिगत होते हैं , जिसे ब्रह्म की प्रथम रचना मानी गई है ।

(ख) उस अग्नि के रूप में प्रत्यक्ष होते हैं , जो विधि के साथ दी गई हवन सामग्री ग्रहण करती है ।

(ग) भगवान् शिव उस होता के रूप में दृष्टिगत होते हैं जिसे यज्ञ रूप कार्य का सम्पादन करना उचित है ।

(घ) उस चन्द्र तथा सूर्य के रूप में प्रत्यक्ष है जिसने दिवस तथा रात्रि का काल निश्चित किया है ।

(च) उस आकाश रूप में ज्ञात है जिसका गुण शब्द है तथा विश्व पर्यन्त में रमा हुआ है ।

(छ) गंगाधर उस पृथ्वी रूप में दृष्टिगत है , जो समस्त बीजों को उत्पन्न करने-वाली बताई गई है ।

(ज) शिव वायु के रूप में दृष्टिगत होते हैं जिसके कारण सभी जीव जी रहे हैं ।
इस प्रकार जल , अग्नि , होता , सूर्य , चन्द्र , आकाश पृथ्वी और वायु इन अष्ट

क्र०

प्रत्यक्ष रूपों में जो शिव समस्त विश्व को दृष्टिगत हो रहे हैं वे आपका कल्याण करें ।[1]

शिव का यथार्थ कार्य है -- जगत् का प्रलय करना तथा उसकी मूर्ति जल में व्याप्त मानी जाती है । यह इस तथ्य का भी द्योतक है कि प्रलय के अन्त में जब शिव का प्रभाव होता है , पृथ्वी जलमग्न हो जाती है , यही विश्व का रूप है ।[2] इस प्रकार ब्रह्म के द्वारा प्रथम निर्मित तत्व जल में ही प्रलयावस्था में जगत् को लीन होना रूप वक्तव्य को प्रगट कर कविश्रेष्ठ ने सत्कार्यवाद की स्थापना की है ।[3]

प्रकृति

परिणामवाद के आधार पर सांख्यदार्शनिक जगत् के मूलकारण प्रकृति पर पहुंचते हैं । जगत् के कारण हीन मूलकारण के रूप में वह प्रकृति है । प्रत्येक वस्तु का कारण है , किन्तु प्रकृति का कोई कारण नहीं वह आदिकारण है । वह सृष्टि से पूर्व है तथा उसी पर समस्त कार्य आधारित है । वह जगत् का प्रथम तत्व है अतः प्रकृति है । लोकाचार्य ने प्रकृति की व्याख्या इस प्रकार की हैं ।[4] सांख्यशास्त्र

१- या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री , ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः , प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः । अभि० १-१ रघु० ३-६६

२- स्थावरजंगमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः । रघु० २-४४

३- सा वा शंभोस्तदीया वा मूर्तिर्जलमयी मम । कुमार० २-६०

४- प्रकृतिरित्युच्यते विकारोत्पादकत्वात् अविद्याज्ञानविशेषत्वात् माया विचित्र सृष्टिकर्तृत्वात् ।

प्रकृति की सत्ता की सिद्धि का अपवाद नहीं है , अपितु इसके मूलतत्व वेद , वृहदारण्यक , छान्दोग्य एवं श्वेताश्वतर उपनिषदों में भी सूक्ष्मरूप में मिलते हैं ।[1]

ऋग्वेद में सांख्य के भावी अव्यक्त प्रकृति का संकेत मिलता है । श्वेताश्वतर का क्या कहना ? वह तो सांख्उपनिषद् ही माना जाता है । इन पंक्तियों द्वारा प्रकृति की सत्ता सिद्ध होती है किंतु इतना अवश्य है कि इन उपनिषदों में सांख्य के तत्वों का निर्देश मात्र हुआ है तथा अन्ततः यही तत्व सांख्यशास्त्र में प्रस्फुटित हुए । प्रकृति इत्यादि के मूलतत्व ऋग्वेदादि प्राचीन वेदों में पाए जाने के कारण ही डा० जानसन ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में निम्न पंक्तियां लिखीं हैं ।[2]

कालिदास के काव्य का सौन्दर्य प्रकृति का सौन्दर्य है । कवि ने अन्तर्जगत् के सौन्दर्य में वहिर्जगत् का समन्वय किया है साथ ही तादात्म्य की स्थापना की है , केवल सौन्दर्य ही नहीं , वरन् अंतः एवं वाह्य प्रकृति के सूक्ष्म तत्वों का मनन कवि द्वारा किया गया है । दोनों महाकाव्यों (रघुवंश एवं कुमारसम्भव) विशेषतः रघुवंश यह प्रदर्शित करता है कि विश्व के स्वरूप के विषय में सांख्य-योग की दृष्टि कालिदास को मान्य थी । प्रकृति के गुणत्रय सत्व , रजस् एवं तमस् अपने नैतिक पक्ष में उपमाओं के लिए विषय प्रदान करते हैं । सांख्यानुसार पुरुष एवं प्रकृति दो

१- अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वी प्रजाः सृजमानां सरुपाः"
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।

२- Hindu philosophy was is makinb for many centuries before any of the extant authoritative treatise on the various classical systems were composed.

स्वतंत्र रूप है जिसे कुमारसम्भव में उल्लिखित किया गया है ।[१] उसे शिव की उत्पत्ति और प्रलय करने में साधना की अपेक्षा नहीं है । वह स्वयं ही अपने को उत्पन्न करता है तथा सृष्टि कर चुकने पर कार्य की समाप्ति कर स्वयं को स्वयं में ही लीन कर करता है ।[२] शिव कवि के आराध्य हैं उनका जो स्वरूप पुराण में व्यक्त हुआ, है वह अपूर्ण है क्योंकि स्वयं की ही वाणी है -- न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः"[३] क्योंकि न "शिवमूर्तेरवधीर्यते वपुः"[४] इस दृष्टि से कालिदास के शिव ब्रह्म के पर्याय-वाची हैं, जिसके अस्तित्व का आभास पाठकगण को तीन रुपों में होता है ।[५] यहां प्रकृति के भी ऊपर एकतत्व की कल्पना की गई है जो नियन्त्रित करती है । सृष्टि के पूर्व वह केवलात्मा है जिसके विषय में ऐतरेय में भी कहा गया है ।[६] ब्रह्म के इस स्रष्टा रूप की संज्ञा ब्रह्मा है । ब्रह्मा और शिव में कदाचित् भिन्नता नहीं -- ऐसा महर्षि कवि कालिदास का कथन है । ब्रह्म की यह स्तुति कौन कह सकता है कि उस पुरुष के प्रति नहीं जिसे कठोपनिषद् में इन शब्दों में प्रस्तुत किया है[७] इतना ही नहीं कालिदास ने शिव को "साक्षात्साक्षी विश्वस्य कर्मणाम्" कहा है ।[८]

१- कुमार २-१३
२- आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना ।
आत्मना कृतिना च त्वमात्मन्येव प्रलीयसे ॥ कुमार० २-१०
३- कुमार० ५-७७
४-कुमार० ५-७८
५- नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने । कुमार० २-४
६- आत्मा वा इदमेकएवाग्र आसीत् नान्यत् किंचनमिषत् स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति । ऐ०
७- पुरुषान्नं परं किंचित् सा काष्ठा सा परागति । कठ० १-३-११
कुमार० २-९, १०, १४, १५
८- कुमार० १-१३

इस प्रकार शिव तथा ब्रह्मा के स्वरूप में भेद कहां ? क्या यह वास्तव में ब्रह्मा की स्तुति है ? यह तो ब्रह्मा के वह स्वरूप है जिसमें मात्र ब्रह्मा को छोड़कर अन्य किस पदार्थ की सत्ता ही स्वीकार नहीं की जा सकती जहां कर्ता , करण , कार्य तथा ज्ञाता , ज्ञेय , ज्ञान ,तीनों एक बन जाता है । यहां एकेश्वरवाद नहीं , एकत्त्ववाद है , यह वह सांख्य नहीं जहां प्रकृति पुरुष में असंयोग हो क्योंकि सांख्य में प्रकृति-पुरुष भिन्न-भिन्न है। प्रकृति ही बद्ध एवं मुक्त होती है , पुरुष तो केवल साक्षी चेतो केवलो निर्गुणः" है ।[1] जिसे गीता भी कहती है ।[2]

कालिदास ने प्रकृति पुरुष के ऊपर एक परम-पुरुष को प्रतिष्ठित कर सांख्य को आस्तिक बना दिया है , किन्तु इससे प्रकृति का समस्त खेल ही समाप्त हो जाता है और वह नर्तकी की भाँति मात्र कठपुतली बनकर रह गई है [3], किन्तु कालिदास का ब्रह्म ही प्रकृति है तथा तीनों गुण इसी के भेद हैं , इतना ही नहीं , स्त्री पुरुष तक इसी एक के दो भाग हैं ।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास के व्यवस्था के मूल में एक व्यापक छन्द की बात स्वीकार करते हैं । यह विश्व व्यापक छन्द समष्टिगत चित्तशक्ति की सर्जनेच्छा या सिसृक्षा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं मात्र ब्रह्म विशुद्ध चैतन्य है केवल ज्ञानरूप । उसकी सिसृक्षा ने ही उसे स्त्रीपुरुष रूप में द्विधा

१- प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वच्छः । सां० का० ६५

२- प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः
अहंकार विमूढात्मा कर्तारमिति मन्यते ॥

३- सां० का० ५९ , ६१

४- स्त्रीपुंसावात्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया ।
प्रसूतिभाजः सर्गस्य तावेव पितरौ स्मृतौ ॥ कुमार० २-७

विभक्त होने को प्रवृत्त किया है । एक ही केवलात्मा का द्विधा विभक्त होकर परस्पर आकृष्ट करने की जो परम्परा अथवा सिलसिला किसी समय आरम्भ हुआ वही ब्रह्माण्ड के प्रत्येक पिण्ड में आज भी प्राप्त है । ब्रह्म की इच्छा शक्ति की समष्टि छन्द है जिसमें भेदोपभेद का छादन कर रखा है । छान्द करता है अतः छन्द है -- इच्छा । ब्रह्म की इच्छाशक्ति ही वह छन्द है जिसने सृष्टि को नाना वर्णों , गन्धों एवं रूपों में रुपायित किया है उसकी क्रियाशक्ति से यह विश्व ब्रह्माण्ड दृग्गोचर हो रहा है । वैदिक ऋषि ने इसीलिए उल्लासित गद्‌गद् कण्ठ से कहा है ।[1] छन्द इच्छा मात्र है , गतिमान है , चेतन धर्म है , वही गति , प्राण तथा आनन्द है । नृत्य में छन्द है , कवि ने भी यही कहा है । नृत्य देवताओं का चाक्षुष् यज्ञ है ।[2] काल में प्रवाहमान छंदोधारा ही ब्रह्म की सर्जनेच्छा है । देश में स्थिरीभूत सृष्टि ही ब्रह्म की क्रियाशक्ति है । केवलात्मा परब्रह्म[3] ही भेदावस्था को प्राप्त होकर इस विश्व ब्रह्माण्ड में स्त्री पुरुष रूप दो भागों में विभक्त होता है ।

मूलचैतन्यधारा केवलात्मा की इच्छाशक्ति का ही रूप है ।वह गतिमान, क्रियाशक्ति और स्थितिमात्र है । गति स्थिति के द्वन्द से ही रूप की सृष्टि होती है । गति चित्तत्व तथा स्थिति अचित् तत्व है । चिद्रूपा गति बारम्बार अचिद्रूपा स्थिति से रोकी जाती है । चैतन्यधारा बारम्बार जड़ में स्थित आकर्षण शक्ति से नीचे की ओर खींची जाती है । वह वलयित तथा रुपायित होती है । जो कुछ विश्व ब्रह्माण्ड में

१- "पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति"
२- देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं । मालविका० १-४
३- स्त्रीपुंसौ आत्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया । कुमार० २-७

घटित हो रहा है वह पिण्ड में भी घट रहा है , अन्तर मात इतना है कि विश्व ब्रह्माण्ड में केवल आत्मा की मूल सिसृक्षा बलवती है तथा पिण्ड में वह अचित् तत्व से मायाजन्य कंचुकों या कोशों से आवृत्त है । विश्व ब्रह्माण्ड में इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति में जितना साम्य है , उतना पिण्ड में नहीं है । भिन्न-भिन्न पदार्थों में इस वैषम्य की मात्रा भी भिन्न-भिन्न है । कदाचित् इच्छाशक्ति अधिक जाग्रत है , अन्यत्र अत्यधिक सुप्त और जीवों की तुलना में वह मनुष्य में अधिक जाग्रत है , मनुष्यों में भी जो सत्वगुणी है उसमें अधिक तीव्र तथा अन्यों में अल्प । वस्तुतः गुणीभूतज्ञानशक्ति की संज्ञा सत्व है , इच्छाशक्ति रजस् का प्रतिनिधित्व करता है तथा क्रियाशक्ति का ही नाम तमस् है । अतः जहां सत्व है , वहां ज्ञानशक्ति का प्राबल्य है , जहां रजस् है वहां इच्छाशक्ति कार्य करती है तथा जहां क्रियाशक्ति बलवती है वहां जडता है तमस् है । जडता अधः की ओर खींचता है । इस प्रकार सत्व , रज तथा तम इन तीनों गुणों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है , सांख्यकारिका में भी इस प्रकार के विचार प्राप्त है ।[1] सांख्यसम्मत प्रकृति - विश्व के मूलभूत कारण में भी ये तीनों गुण विद्यमान हैं जिसका विशद विवेचन अन्यत्र प्राप्त है ।

प्रकृति के अप्रत्यक्ष का हेतु

सांख्यदार्शनिकों ने त्रिगुणात्मिका प्रकृति के अप्रत्यक्ष का कारण सूक्ष्मता बताया है । सूक्ष्म होने के कारण ही प्रकृति का प्रत्यक्ष नहीं होता , क्योंकि कार्यों

१- सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलंच रजः ।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥
सां० का० १३

द्वारा उसकी अवगति होती है । कार्य महत्त्व प्रभृति है , जो प्रकृति के समान भी है तथा उससे विलक्षण भी ।[1] अतः किसी वस्तु का प्रत्यक्ष होना या कारणरूप में अप्रत्यक्ष रहना , सत् या असत् का निर्णायक नहीं हो सकता क्योंकि अनेक कारणों से सत्तावान् पदार्थ दृष्टिगत नहीं होते ।[2] अतः सिद्ध है कि सूक्ष्मता का प्रत्यक्ष न होने पर भी कार्य से प्रकृति रूप कारण की सत्ता का अनुमान किया जाता है । महाकवि कालिदास भी उसी सूक्ष्म प्रकृति को उसके कार्यों द्वारा अनुमेय स्वीकार करते है ।[3] गीता में भी प्रकृति पुरुष की सत्ता को अनादि स्वीकार करने का उपदेश कृष्ण ने अर्जुन को दिया है ।[4] व्यासजी ने भी प्रकृति के स्वरूप का निर्देश स्पष्ट रूप में किया है ।[5]

प्रकृति का प्रयोजन

सांख्यकारिकाकार ने प्रकृति का प्रयोजन पुरुष की मुक्ति बताई है ।[6]

१- सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिनाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः ।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृति सरूपं विरूपं च ॥ सां० का० ८

२- अतिदूरात् सामीप्यात् इन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानात् अभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥ सां० का० ७

३- बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति -- रघु० १३-६०

४- प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवात् । गीता० १३-१

५- "निःसत्तासत्तं निःसदसन्निरसदव्यक्तमलिंगं प्रधानम्"

६- "पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्" सां० का० ३१

कालिदास भी प्रकृति के प्रयोजन का उल्लेख स्पष्टतः करते हैं ।[1] पुरुष के पूर्वकृत कर्मों के भोग तथा योगान्तर तत्वज्ञान द्वारा पुरुष के अपवर्ग की सिद्धि के लिए प्रकृति अपेक्षित है । इस गुणक्षोभ के लिए पुरुष-प्रकृति का संयोग आवश्यक है पुरुष के भोगापवर्ग के लिए ही प्रकृति अपने कार्य का सर्जन करती है जिसको कवि ने भी संकेतित किया है और जिस पुरुष को अपने विषय दर्शन से बद्ध किया है उसे ही विवेकज्ञान से मुक्ति प्रदान करती है ।[2]

अन्ततः यही कहा जा सकता है कि प्रकृति की सत्ता उतनी नहीं जितनी शक्ति है । हम प्रकृति तथा उसके गुणों का यथार्थ स्वभाव ज्ञात नहीं कर सकते क्योंकि हमारा ज्ञान वस्तुजगत् तक ही सीमित है ।

गुणवाद

समस्त हिन्दू दर्शन "त्रैगुण्य" शब्द से सुपरिचित है सभी सद्वृत्तियों प्रवृत्तियों , अनुभूतियों , वासनाओं तथा कामनाओं का साहचर्य मानव जीवन और समस्त प्रकार के कर्म-- इन्हीं तीनों गुणों से उत्पन्न माने गये हैं । कविकुलश्रेष्ठ कालिदास अपनी प्रथम नाटक रचना "मालविकाग्निमित्रम्" के प्रारम्भ में अपनी सम्मति प्रदान करते हैं । [3] "त्रैगुण्य" शब्द द्वारा गुणत्रय ही इंगित है । प्रकृतिस्थित गुणत्रय सत्व (प्रकाश) राजस् (कर्म) तथा तमस् (अकर्म) तीनों का उल्लेख कवि ने सर्वत्र

१- त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम् " कुमार० २-१३
२- इतरो दहने स्वकर्मणां ववृते ज्ञानमयेन वह्निना । रघु० ८-२०
३- त्रैगुण्योद्भवं सर्वलोकचरितम् । मालविका० १-४

किया है ।[1]

गुण प्रकृतिगत व्यापार के तीन प्रकार हैं । त्रिविंशति तत्वान्तर तत्वों के रूप में परिणत होने वाली सांख्य की यह प्रकृति अनादि , अनन्त तथा अविनाशी है क्योंकि इसमें सत्व , रजस् तथा तमस् तीन गुण हैं , अतः त्रिगुणात्मिका कही गई है । प्रकृतिस्थ गुणत्रय पर ही रघु ने विजय प्राप्त की थी तथा सुवर्ण-मृत्तिका को समान भाव से देखने लगा इत्याकारक विचार कवि ने अपने प्रौढ़तम ग्रन्थ "रघुवंशम्" के अष्टम् सर्ग में प्रस्तुत किया है ।[2] ये तीनों गुण प्रकृति के धर्म या स्वभाव नहीं , इनके स्वरूप ही हैं अर्थात् प्रकृति या अव्यक्त सत्व , राजस् एवं तमोगुण का आधार नहीं प्रत्युत तादात्मक है जो सांख्यसूत्र[3] तथा योगभाष्य[4] की पंक्तियों से स्पष्ट है । ये गुण तथा तन्निष्ठ धर्म महत् , अहंकार , तन्मात्र इत्यादि प्रकृति के कार्यों में भी सन्निहित हो जाते हैं क्योंकि यह सिद्धान्त है ।[5] इससे यह सिद्ध है कि सांख्य के तीन गुण न्याय के चतुर्विंश गुणों की भाँति द्रव्याश्रित धर्मरूप नहीं प्रत्युत द्रव्यरूप ही है । इतना अवश्य है कि प्रलयकाल में सदृश परिणाम होता है तथा सृष्टिकाल में विरूप परिणाम । प्रकृति के उद्देश्य में गौण रूप से सहायक होने के कारण गुणीभूत है अतः उन्हें गुण कहा गया है । "कुमारसम्भवम्" के द्वितीय सर्ग में ब्रह्मा की विशद

१- नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने । कु० २-४
२- रघुरप्यजयद्गुणत्रयं प्रकृतिस्थं समलोष्ठकांचनः । रघु० ८-२१
३- सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात् । सां० सू०
४- एते गुणाः प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति । यो० भा०
५- "कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते "

स्तुति प्राप्त है वहां देवतागण का कथन है -- "हे ईश्वर । विश्वरचना के पूर्व एक ही रूप में रहनेवाले किन्तु सृष्टिरचना वेला में सत्व, राजस् एवं तमस् गुणत्रय उत्पन्न करके ब्रह्मा , विष्णु तथा चन्द्रमौलि संज्ञाविशिष्ट तीन रूपों को धारण करनेवाले आपका (ब्रह्मा) नमन करता हूँ" ।[1] यहां सर्जन , पालन तथा संहरण-- सत्व , राजस् तथा तमस् गुणयुक्त त्रिगुणात्मिका प्रकृति के कार्य होने के कारण कार्यभेद से एक ही परतत्व की ब्रह्मा , विष्णु तथा महेश ये तीन प्रतीक मूर्तियां हैं ।

"कुमारसम्भवम्" के द्वितीय सर्ग में ही देवताओं द्वारा शिव से सेनापति की प्रार्थना की गई है[2], इसके पृष्ठभूमि में भी सांख्यसम्मत विषय-गुणत्रय ही निहित है । सात्विक इन्द्रियां अपनी पराजय के क्षण में शिव से सेनापति की प्रार्थना करती है । देव-प्रार्थना पर ही द्रवित होकर शिव मदन दहन करते है[3] तथा पार्वती से विवाह कर षडानन कुमार के सृष्टिकर्ता बनते हैं । कुमार का जन्म शिव के स्कन्दित तेज से होता है । यह तेज पार्वती रुपी सुषुम्णा में निक्षिप्त होकर क्रमशः षट्चक्रों के द्वारा पुष्ट और ललित होता हुआ स्कन्द को जन्म देता है । कविश्रेष्ठ कालिदास ने "मेघदूतम्" में स्कन्द के जन्म का संकेत रहस्यसूत्र रूप में लिख दिया है ।[4] मेघ को यक्ष का आदेश है कि वहां देवगिरि पर वास करने वाले कुमार को

१- कुमार० २-४
२- कुमार० २-५१
३- तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना । भग्नमनोरथा सती । कुमार० ५-१
४- तत स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा ,
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगंगाजलार्द्रैः ।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूनाम् ,
आदित्याद्धिं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः ॥ पू० मे० ४७

अपना अभ्र पुष्पात्मक रूप बनाकर आकाशगंगा से सिचिंत पुष्पवृष्टि से स्नान कराना । देवसेना की रक्षा के हेतु पावक के मुख में सिंचित सूर्य से भी अधिक प्रभावशाली शिव का तेज ही कुमार है ।[1]यही स्कन्द की परिभाषा है । हुतवह अर्थात् अग्नि नामक सुषुम्णा के मुख में सूर्य से भी अधिक प्रकाशित शिव का तेज ही स्कन्द है । कोषों में स्कन्द की पत्नी का नाम देवसेना है । इन्द्रियों की सात्त्विक तथा तामसिक वृत्तियों का द्वन्द्व ही देवासुर संग्राम है । जब सतोगुणी इन्द्रियां काम से हारने लगती हैं उस बेला में समाधिस्थ शिव से सेनापति की प्रार्थना करती है , देवों ने भी यही कहा था ।[2] उस असुर को , परास्त करने के लिए शिव ने मदन को भस्म किया तदुपरान्त उमा की तपस्या से सुषुम्णा नाडी द्वारा योग की साधना से शिव-शिवा का परिणय हुआ -- दार्शनिक दृष्टि से व्यक्ति की चिदात्मका शक्ति जो अधोमुखी थी , वह अंतर्मुखी होकर सहस्रार चक्र में स्थित पर बिन्दु शिव से संयुक्त हो जाती हैफिर विषयों से उसे कोई भय नहीं रहता , जो इन्द्रियां अन्य को मथ देती हैं , वे ही प्रमथों के रूप में शिव के पार्षद होकर रहती हैं । कालिदास यहां सांख्य विचार-धारा को छोडकर योगदर्शन के क्षेत्र में प्रविष्ट हो गए हैं किंतु सांख्य-योग का ऐक्य महाभारत एवं पुराण के साक्ष्य पर नितरां निर्व्यूढ है । गीता स्पष्टतः ही कहती है कि दोनों को भिन्न समझने वाले अपण्डित हैं ।[3]

इसी प्रकार सतोगुण तथा रजोगुण का उल्लेख अन्यत्र भी प्राप्त होता है । क्रोधित परशुराम जिन्होंने पिता की आज्ञा पर अपनी माता का शिरश्छेदन कर दिया

१- पू० मे० ४७
२- तदिच्छामो विभो स्रष्टुं सेनान्यं तस्य शान्तये । कुमार० २-५१
३- सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः । गी० ५-४

था तथा इक्कीस बार क्षत्रियों का नाश किया था , राम द्वारा शिवधनुष भग्न करने पर "रघुवंशम्" में अवतीर्ण हुए है । क्रोधवशात् युद्ध का आह्वान किया तथा सर्वप्रथम अपने धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाने की चुनौती दी । पुरुषोत्तम राम ने पूर्व दिशा में शर छोड़ दिया जिससे परशुराम के स्वर्ग का मार्ग सर्वदा के लिए अवरुद्ध हो गया । परशुराम ने इस दण्ड को हर्षरूप ही माना तथा उनका कथन इस प्रकार था -- "इस दण्ड द्वारा मैं अनुगृहीत हुआ क्योंकि मेरी सर्वोत्तम उपलब्धि यह हुई कि क्षत्रिय माता से प्राप्त रजोगुण का शमन हुआ तथा पिता का सतोगुण प्राप्त हुआ ।[1] तामस् गुण का स्पष्ट उल्लेख "मालविकाग्निमित्रम्" के नान्दी श्लोक में पठित है ।[2] कविचक्रचूडामणि कालिदास तमोगुण का उल्लेख बहुतायत से करते हैं । नृपेश दशरथ के असाधारण गुणों की प्रशंसा सुनकर विष्णु ने राम रूप में जन्म लेकर अपनी कामना पूर्ण की । सर्वगुणसम्पन्न , सौन्दर्ययुक्त पुरुषोत्तम राम के जन्मावसर के मांगलिक वेला में कविकुलगुरु की वाणी इस रूप में प्रगट होती है "जिस प्रकार पर्वत की विभिन्न औषधियों में अन्धकार को अपहृत करने योग्य ज्योति प्राप्त होती है उसी प्रकार महाधिप दशरथ की अग्रमहिषी कौसल्या ने तमोगुण[3] को दूर करनेवाले पुत्र को जन्म दिया " जिसे वशिष्ठजी ने मनोहर वपु देखकर विश्व का मंगलतम नाम "राम" कह कर पुकारा ।

१- रघु० ११-९०
२- सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः । मालविका० १-१
॰॰ प्रबलतमसामेवंप्रायाः शुभेषु हि वृत्तयः -- अभि० ७-२४
३- पुत्रं तमोपहं लेभे नक्तं ज्योतिरिवौषधिः रघु० १०-६६

तमोगुण जिसे प्रसंगतः कवि बहुधा व्याख्यायित करते हैं, उसके स्वभाव का उल्लेख सांख्यकारिका में इस प्रकार मिलता है "गुरुवरणकमेव तमः"[१]। तमोगुण दुःख का प्रतिनिधित्व करता है, यही कारण है कि श्री रामको तमोगुण दूर करने वाला रूप ही कविश्रेष्ठ को अभीष्ट है। दुःख सनातन है तथा सांख्यदर्शनानुसार प्रत्येक अनुभव दुःखमय है। अतः प्रत्येक वस्तु अथवा अनुभव में तमोगुण सन्निहित है। सुख प्राप्ति के लिए किए गए प्रयत्न भी दुःखदायी है। इसके कारण ही बुद्धि का तेज मन्द हो जाता है तथा मूर्खता या अन्धकार की उत्पत्ति होती है, यही भौतिकता का उत्पादक है। गुणत्रय में तमस् गुण का विशेषतः प्रसंग नृपश्रेष्ठ महारथी दशरथ के विजय वर्णन में प्राप्त है। भूपति दशरथ ने बाहुबल से समस्त दिशाओं से सम्पदा प्राप्त की थी जिसमें कणमात्र भी तामसिक भाव समाविष्ट न था।[२] गुणत्रय के विषय में डा० सुरेन्द्रदास गुप्त का कथन इस प्रकार है।[३]

जिस तमोगुणविषयक ज्ञान को कवि अपनी रचना में बहुतायत से करते हैं उसके स्वभाव का उल्लेख कवि ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में किया है। अत्याचारी दानव रावण के आक्रमणों से पीड़ित देवतागण उससे मुक्ति की इच्छा से विष्णु के समीप

१- सां० का० १३
२- कनकयूपसमुच्छ्रयशोभिनो वितमसा तमसासरयूतटाः। रघु० ९-२०
३- " An infinite number of subtle substances which agree in certain characteristics at self shining on plasticity are called the sattva gunas and those which behave as units of activity are called rajo gunas and those which behave as factors of obstruction mass or materiality are called the Tamo gunas."

जाकर उनकी स्तुति करते हैं। उसी सन्दर्भ में विष्णु का उन देवताओं के प्रति कथन इस प्रकार है "हे देवताओं। जिस प्रकार विश्व के जीवों के सत्व एवं रजोगुण को उनका तमोगुण पराभूत कर देता है, उसी प्रकार आपके तेज, बल, शौर्य प्रभृति गुणों को रावण ने पराभूत कर दिया है"।[1]

इन सन्दर्भों के अतिरिक्त जिन स्थानों पर गुणत्रय[2] पद का प्रयोग कवि करते हैं वहां त्रय द्वारा सत्व, रज के साथ ही तमोगुण स्वतः स्मरणीय है। सांख्यकारिका में उल्लिखित प्रकृति जो सामान्य अचेतन, प्रसवधर्मि आदि विशेषणों से युक्त है उसमें तीन गुण है, यद्यपि वह अचल तथा स्वयं अपरिवर्तनशील है, किंतु भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में तीन रूप अर्थात् तीन गुण धारण कर लेती है। इस स्थिति को "उपमाकालिदासस्य" संज्ञा से अलंकृत कालिदास आकाश से गिरे जल की उपमा से विभूषित करते हैं "जिस प्रकार अम्बर से गिरा जल मूलतः एक होते हुए भी विभिन्न स्थलों को प्राप्त कर भिन्न-भिन्न स्वाद ग्रहण करता है। उसी प्रकार विष्णु भी विकारों से अपरामृष्ट होते हुए भी सत्व, राजस् एवं तमस् -- इन तीनों गुणों को लेकर अनेक रूप धारण कर लेते हैं।" यहां प्रसंग यद्यपि विष्णु स्तुति का है अतः विष्णु में ही तीनों गुणों की कल्पना की गई है किंतु शब्द प्रयोग एवं विचार पूर्णतया सांख्यसम्मत है तथा उन विचारों से साम्यता रखते हैं।[3]

१- रघु० १०-३८

२- रघु० २-४

३- रघु० १०-१७

गुणों का स्वभाव

गुणों की प्रकृति के विषय में कवि की वाणी प्रायः मूक है , अतः संभवतः वे सांख्य सम्मत दृष्टिकोण को ही स्वीकार करते हैं । सांख्यकारिका में इन गुणों के स्वभाव के सम्बन्ध में कहा गया है ।[1]

सत्व गुण लघु प्रकाशक तथा आनन्दस्वरूप है । ज्ञान में विषय प्रकाशत्व , इन्द्रिय में विषय ग्राह्यता प्रभृति सत्व गुण के कारण है । मन , बुद्धि , तेज का प्रकाश, दर्पण की प्रतिबिम्बित शक्ति आदि इसके कार्य हैं । लघुत्व तथा अल्पभार के कारण ही अग्नि की ज्वाला ऊर्ध्वगमन करती है । "इसी गार्हपत्य तथा आहवनीय अग्नियों में डाली गई हवन सामग्री की सुरभि से युक्त धूम अगस्त्य मुनि के आश्रम से उठकर आकाश में पुष्पक विमान पर आरूढ़ पुरुषोत्तम राम की आत्मा को आनन्दित कर रहा था " इस श्लोक द्वारा कवि ने सत्वगुण का सूक्ष्म संकेत दिया है ।[2] इसी प्रकार सभी प्रकार के आनन्द, हर्ष , सन्तोष , तृप्ति एवं उल्लास सत्वगुण के कारण है । यह बुद्धिप्रधान जीवों में पाया जाता है , इस तात्पर्य को कवि ने अन्यत्र झलकाया है जहां तारकासुर के आक्रमण से आतंकित देवतागण ब्रह्मा के सम्मुख सेनापति की इच्छा करते हैं । ब्रह्मा उस स्थिति में कहते हैं .... "मेरा कार्य मात्र सृष्टि का सृजन (सत्वगुण) है उसकी रक्षा का उत्तरदायित्व (रजोगुण) आप अर्थात्

१- सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलंचरजः ।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चाऽर्थतो वृत्तिः । सां० का० १३

२- घ्रात्वा हविर्गन्धि रजोविमुक्तः समश्नुते मे लघिमानमात्मा ।
रघु० १३-३७

देवताओं का है ।[1] इसके अतिरिक्त त्रिगुणात्मिका प्रकृति के कार्य होने के कारण कार्य-भेद से एक ही परतत्व की तीन प्रतीक मूर्तियां कवि ने वर्णित की है उसके मूल में भी इन तीनों गुणों की प्रकृति के प्रति ही संकेत इंगित है ।[2]

राजस् गुण उपष्टम्भक अथवा उत्तेजक कहा गया है । सत्व एवं तम स्वयं प्रवृत्तिशील न होने के कारण अपने प्रकाशन एवं नियमन प्रभृति कार्यों के उत्पादन में असमर्थ होने के कारण राजस् द्वारा उत्तेजित किए जाने पर अपने कार्य में प्रवृत्तिशील होते हैं इसी गुण के कारा वायु चलती है तथा इन्द्रिय विषय के प्रति उन्मुख होते हैं । राजस् गुण का स्पष्टतः संकेत कालिदास की रचनाओं में प्राप्त नहीं होता किंतु सत्व गुण के साथ-साथ रजोगुण का स्पष्ट उल्लेख एक स्थल पर प्राप्त होता है ।[3] अन्यत्र गुणत्रय द्वारा राजस् भी अन्तर्हित हो जाता है , इस विचार-धारा को अनुचित नहीं समझा जासकता है ।

अन्यत्र कविकुलगुरु की तूलिका नवीनतम एवं नूतन रंगों से ब्रह्मा की स्तुति चित्रित करती है , वहां ब्रह्मा का कथन है कि सर्जन मेरा कार्य है पालन अर्थात् रक्षा देवताओं का ।[4] सांख्यसम्मत राजस् का कार्य भी यही है । यदि "पालन" न हो तो सृजन एवं संहरण मात्र से सृष्टि का विकास असम्भव हो जाए ।[5]

१- मयि सृष्टिर्हि लोकानां रक्षा युष्मास्ववस्थिता । कुमार० २-२८
२- तिसृभिस्त्वमवस्थाभिर्महिमानमुदीरयन् ,
प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां गतः ॥ कुमार० २-६
३- रघु० ११-९०, ९१
४- कुमार० २-६
५- कुमार० २-९१

तमोगुण का प्रसंग अनेक स्थलों पर प्राप्त है जिसका वर्णन किया जा चुका है अतः यहां पुनः उल्लेख पिष्ठपेषण ही होगा । तमोगुण गुरु तथा अवरोधक होता है । यह सत्व-गुण के विपरीत प्रकाश का आवरक तथा रजोगुण का अवरोधक है । वह सत्व अर्थात् प्रकाश तथा राजस् अर्थात् क्रिया पर अधिकार प्राप्त करता है अतः वह अवश्य ही अन्धकार या मूर्खता का उत्पादक है। कवि भी इस तथ्य को संकेतित करते हुए विष्णु के मुख से जड़ता , निष्क्रियता तथा बुद्धि के तेज की मन्दता का परिचायक तमोगुण द्वारा जीवों के सतोगुण और रजोगुण को पराभूत करने की बात कहवायी है ।[1] राम के जन्मावसर पर उन्हें तमोगुण को दूर करनेवाला बतलाया गया है ।[2] तारकासुर संग्राम का अर्थ ही तमस् गुण द्वारा सत्व-गुण पर अधिकारप्राप्ति है । फलस्वरूप सेनापति की याचना की गई है ।[3] नृपेश दशरथ ने जिस विभा को एकत्रित किया था उसमें तामसिक गुण न ही था अर्थात् उन्होंने क्रिया(शक्ति) के आधार पर ही धन वैभव का संचय किया था , ऐसी कवि की कल्पना है ।[4] शिवस्तुति में भी तामसिक बुद्धि को मिटाने की कामना उसने की गई है ।[5]

परस्पर भिन्नस्वरूपात्मक होते हुए भी गुणों का पारस्परिक सम्बन्ध

यद्यपि गुणत्रय परस्पर विरोधी है तथापि सहयोग प्रदान करते हैं।

१- अंगिनां तमसेवोभौ गुणौ प्रथममध्यमौ । रघु० १०-३८
२- रघु० १०-६६
३- कुमार० २-५१
४-........ वितमसा तमसासरयूतटाः । रघु० ९-२०
५- मालविका० १-१

इनमें से न कोई गुण अकेला रह सकता है और न हि अन्य गुणों के सह्योग के अभाव में कार्य सम्पादित कर सकता है । ईश्वरकृष्ण ने गुणों के सह्योग के अभाव में कार्य सम्पादित कर सकता है । ईश्वरकृष्ण ने गुणों की उपमा प्रदीप से करते हुए उनके आपसी सम्बन्धों का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है । जिस प्रकार अग्नि , बत्ती और तेल परस्पर विरोधी हैं किंतु उसके साथ मिलकर वर्तिका और तेल के वस्तुओं के रूप या आकार को प्रकाशित करने का कार्य करते हैं , इसी प्रकार सत्व , राजस् एवं तामस् परस्पर विरोधी होने पर भी मिलकर ही अपना कार्य सम्पादित करते हैं।[1]

गुणों के स्वरूप कार्य (प्रयोजन) एवं क्रिया के प्रकार-- सत्व, रजस् तमस् ये गुणत्रय सुख दुःख तथा मोहात्मक है तथा सुख , दुःख एवं मोह एक दूसरे के अभाव नहीं प्रत्युत भावरूप हैं ।[2] इन सुख दुःख तथा मोह की भावरूपता अहं सुखी अहं दुःखी" इत्याकारक अनुभव से ही सिद्ध है । कवि की रचनाओं में दुःख , सुख एवं मोह तीनों का यथोचित वर्णन प्राप्त है। येतीनों गुण प्रकाशन , संचालन एवं नियंत्रण के लिए है , पक्षान्तर में सृजन , पालन एवं संहरण की ध्वनि है ।

अभिभावक अर्थात् ये सत्वादि गुण उपमर्दय-उपमर्दक भाव से रहते हैं । सत्व , राजस् एवं तमस् को अभिभूत कर अपनी शान्तवृत्ति को प्राप्त करता है , इसी प्रकार रजस् , सत्व एवं तमस् को अभिभूत करके अपनी घोर अर्थात् दुःखात्मक वृत्ति

१- सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलंचरजः ।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥ सां० का० १३

२- प्रीत्यप्रीतिविषादात्मिकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः
अन्योन्याभिवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥ सां० का० १२

तथा तमस् सत्व एवं राजस् को अभिभूत करके अपनी मोह या विषाद की वृत्ति को प्राप्त करता है कविश्रेष्ठ कालिदास इनमें से अंतिम अर्थात् तमोगुण द्वारा सतोगुण एवं रजोगुण के अभिभूत होने का अतीव स्पष्ट संकेत रघुवंश में विष्णु द्वारा कथित श्लोकार्थ से करते हैं। उन्होंने गुणत्रय के परस्पर कार्य का एकमात्र यही धर्म अत्यन्त संक्षिप्त एवं सारगर्भित शब्दों में किया है ।[1]

कालिदास ने प्रकृति की रमणीयता का मोहक वर्णन किया है किन्तु उनका मुख्य वर्ण्य विषय मानव सौन्दर्य है । वे नख से शिख तक सुलझे हुए मार्जित रुचि के कलाकार हैं । मनुष्य जिन ललित रूपों की रचना करने का प्रयास करता है वे समस्त अच्छे नहीं होते क्योंकि वह पूर्णतः समाहित चित्त से उनका निर्माण नहीं करता । पूर्ण समाधि के बिना सुन्दर की रचना नहीं हो सकती । पूर्ण समाधि की अवस्था में ही चित्त स्वस्थ रहता है । स्वस्थ चित्त ही अनिंद्य सुन्दर रूप की रचना कर सकता है । रचयिता में पूर्ण समाहित होने की क्षमता के अभाव में रचना कमजोर हो जाती है । जो ऐसा मानता है वह स्वयं रचयिता की स्थिति में आने पर कुत्सित और वीभत्स की रचना कैसे कर सकता है ? राजा अग्निमित्र ने सर्वप्रथम मालविका का चित्र देखा था , उस समय उसके मन में आशंका थी कि चित्रकार ने अधिक कान्तिचित्रित न कर दी हो , किन्तु जब उसने साक्षात् मालविका को देखा तो वह अधिक कान्तिमती दिखी । तब नृप ने विचार किया जि जिस चित्रकार ने यह चित्र बनाया था , उसकी समाधि शिथिल हो गई थी , किसी कारणवश वह स्वस्थ नहीं रह सका , कदाचित्

१-रघु० १०-३८

तमोगुण के झोंके से उसे स्पष्ट दिखाई ही न दिया हो ।[1] कालिदास उत्तम रचना के लिए समाधिस्थ चित्त को बहुमान देते हैं , विषय में कोई सन्देह नहीं है । मेघदूत के एक ही प्रसंग में चित्रकला के सात्विक और राजसिक भाव का अतीव कमनीय चित्र प्रस्तुत किया है । यक्ष विरहावस्था में अपनी प्रणय कुपिता प्रिया का चित्र बनाता है । चित्र बनाने की स्थिति में उसका चित्त पूर्ण सत्वस्थ रहता है किंतु चित्र देखकर वह राजस भाव का शिकार हो जाता है , उसके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बहने लगती है ।[2]

कलाकार के रूप में यक्ष सत्वस्थ रहता है । द्रष्टा के रूप में राजस भाव में । अस्तु । रजोगुण और तमोगुण से अभिभूत चित्त से प्राणवंत सुकुमार सौन्दर्य नहीं निकल सकता , यह कालिदास का निश्चित मत है ।[3]

गुणों के स्वरूप एवं विरुप परिणाम

सत्वादि गुणों को दो प्रकार के परिणाम हैं --- स्वरूप तथा विरुप । प्रलयावस्था में प्रत्येक गुण अन्य से खिंचकर स्वयं अपने में परिणत हो जाता है । इस

१- चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादि मे हृदयम् ।
सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनयमालिखिता ॥ मालविका० २-२

२-त्वामालिख्य प्रणयकुपितो धातुरागैः शिलायाम् ,
आत्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे ,
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ विधाता ॥ उ० मे० ४७

३- न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् । अभि० प्रथमोऽङ्कः पृ० २३

प्रकार सत्व सत्व में , राजस-राजस में तथा तामस तम में परिणत हो जाता है । पृथक-पृथक रहने के कारण इस अवस्था में गुण कोई कार्य नहीं कर सकते । सृष्टि के पूर्व यही साम्यावस्था रहती है । साम्यावस्था में गुण अस्फुटित रूप से एक ऐसे अव्यक्त पिण्ड के रूप में रहते हैं , जिसमें न रुपान्तर है न कोई विषय है तथा न शब्द , स्पर्श , रूप , रस तथा गन्धादि धर्म है , इसी को साम्यावस्था कहा गया है । महाकवि कालिदास इसी स्वरूपावस्था के लिए लिखते है ।[1] कवि का संकेत साम्यावस्था रूप प्रकृति के प्रति है , उनकी वाणी मूक नहीं वरन् मुखर होकर बोल उठी है --" हे भगवान् ! संसार की रचना के पूर्व एकरूप में रहने वाले विश्व रचनाकाल में अर्थात् विरुपावस्था में सत्व , राजस तथा तमस -- गुणों को उत्पन्न करके तीन रूप धारण करने वाले आपकी अर्चना करता हूँ ।[2] यद्यपि यह प्रसंग ब्रह्मा स्तुति का है किन्तु कालिदास की प्रकृति ब्रह्मरूप ही है । अतः गुणत्रय उसी में सन्निहित है । वस्तुतः कवि की प्रकृति विश्व के उत्पत्ति एवं प्रलय करने में किसी साधन की अपेक्षा नहीं वह स्वयं स्वयं को उत्पन्न करता है तथा कार्यसमाप्ति में स्वयं में ही लीन हो जाता है ।[3] इसी रूप में सांख्यसम्मत गुणों के स्वरूप तथा विरुप परिणाम की व्याख्या समझी जा सकती है । किन्तु जब पुरुष एवं प्रकृति का पारस्परिक संयोग होता है , तब इन त्रिविध गुणों की साम्यावस्था में क्षोभ उत्पन्न होता है , इसे ही गुणक्षोभ कहा गया है । फलतः प्रकृति में भीषण आंदोलन प्रारम्भ होता है तथा इन्हीं गुणों

१- प्राक्सृष्टेः केवलात्मने कुमार० २-४
२- कुमार० २-४
३- कुमार० २-१०

के न्यूनाधिक्य के अनुपात से नानाविध विषयों की उत्पत्ति होती है । महाकवि कालिदास ने विरूपावस्था का उल्लेख भूयशः किया है ।[1]

यही गुणों का स्वरूप तथा विरुप परिणाम गुणों की परिवर्तनशीलता का द्योतक है । साम्यावस्था में गुणों का स्वरूप होने पर विषमावस्था में विरुप परिणामवाला होना किंचित् आश्चर्य का विषय नहीं है । यथा एक ही जल अनेक भूविकारों को प्राप्तकर अनेक प्रकार के रूप धारण कर लेता है । उसी प्रकार प्रत्येक गुण प्रलयकाल में एकविध होने पर भी सृष्टिकाल में अंगांगिभाव को प्राप्त करने से विविध परिणाम उत्पन्न करता है । इस प्रकार का पूर्ण सामंजस्य रखती हुई कुछ पंक्तियां कवि की अन्यतम कृति "रघुवंशम्" में प्राप्त है जहां विष्णु की स्तुति का प्रसंग है ।[2] इन दोनों क्रमशः कारिका एवं श्लोक में शब्द साम्यता नहीं किन्तु भावगत साम्यता का आश्चर्यजनक सामंजस्य प्राप्त होता है । जिसे पढ़कर पाठक क्षणभर के लिए अभिभूत होकर आनन्दविभोर हो उठता है ।

गुणों का प्रयोजन

"गुणाः इति परार्थाः" सत्वादि पुरुष के भोगापवर्ग के लिए होने के कारण ही गौण कहलाते हैं अर्थात् पुरुष के पूर्वकृत कर्मों के भोगोन्मुख होने

१- बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति रघु० १३-६०
२- परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् -- सां० का० १६
रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते ।
देशे-देशे गुणेष्वेवमवस्थास्त्वमविक्रियः ॥ रघु० १०-१७

पर उनके भोग एवं भोगान्तर तत्वज्ञान द्वारा अपवर्ग इन उभय प्रयोजनों की सिद्धि के लिए गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है, जिससे न्यूनाधिक्य या गौण प्रधान भाव उत्पन्न होता है और उससे विविध परिणामों की सृष्टि होने लगती है। कविश्रेष्ठ कालिदास[1] ने "पुरुषार्थप्रवर्तिनीम् प्रकृति, तदस्थ गुणत्रय का प्रयोजन पुरुष को पुरुषार्थ के प्रति उन्मुख करना है ऐसा वर्णन किया है। अतः पुरुषा के के पूर्वकृत कर्मों के भोग तथा भोगान्तर तत्वज्ञान द्वारा पुरुष के अपवर्ग की सिद्धि के लिए प्रकृति तथा तदस्थ गुणत्रय की सत्ता स्वतः सिद्ध है और उसका प्रयोजन पुरुष को मुक्ति के प्रति प्रेरित करना है। गुणों की इन विशेषताओं के प्रति योगी अरविन्द का कथन है इस प्रकार।[2]

पुरुष

सांख्यदर्शन के मूलभूत तत्व दो है -- प्रकृति एवं पुरुष। सांख्य का पुरुष आत्मा है तथा वह प्राणवान् सजीव एवं संवेदनशील है। यदि सांख्य-दर्शन में पुरुष की योजना न होती तो प्रकृति एवं उससे उद्भूत विषयों की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती क्योंकि पुरुष के अभाव में विकास सम्भव नहीं। कविकुलगुरु कालिदास भी उस पुरुष पद का प्रयोग कुशलतापूर्वक अनेक स्थल पर करते हैं। वस्तुतः कवि ने विश्व को चेतनाचेतन दो विभागों में विभाजित किया है, उन्हीं

१- कुमार० २-१३
२- " Gunas are three essential modes of action of nature."

की दूसरी संज्ञा प्रकृति-पुरुष है। प्रकृति पुरुष की ही शक्ति है तथा अचेतनाचेतन का ही प्रतिबिम्ब या प्रतिष्ठान है। सुप्रसिद्ध खण्डकाव्य "मेघदूतम्" में स्पष्टतः "प्रकृतिपुरुष"[1] प्रयोग द्वारा सांख्य के मूलभूत तत्वद्वय को स्वीकृति प्रदान करता है।

सांख्यमतानुसार आत्मा -- शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से भिन्न है तथा सांसारिक विषय नहीं है। मस्तिष्क, स्नायु-मण्डल अथवा अनुभव समूह को आत्मा समझना अनुचित है। आत्मा वह शुद्ध चैतन्य स्वरूप है जो सर्वदा ज्ञाता के रूप में प्रकाशित होता है, किंतु वह ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। यह चैतन्य का आधारभूत द्रव्य नहीं प्रत्युत स्वतः चैतन्य स्वरूप है। चैतन्य इसका गुण-नहीं वरन् स्वभाव है। सांख्य वेदान्तसम्मत आत्मा को आनन्दस्वरूप नहीं मानता। आनन्द और चैतन्य दो भिन्न-भिन्न वस्तुएं हैं अतः उन्हें एक ही पदार्थ का तत्व मानना उचित नहीं। पुरुष अथवा आत्मा मात्र द्रष्टा है, जो कि प्रकृति की परिधि से परे स्वयं शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। उनका ज्ञानप्रकाश सर्वदा वर्तमान रहता है और स्थिर रहता है उसमें परिवर्तन नहीं होता। आत्मा में कोई क्रिया नहीं रहती वह निष्क्रिय तथा अविकारी है। स्वयंभू, नित्य और सर्वव्यापी सत्ता है जो समस्त विषयों से असम्पृक्त एवं रागद्वेष रहित है। विश्व में जितने कर्म या परिणाम है अथवा जितने सुख या दुःख हैं वे समस्त प्रकृति तथा उसके विकारों के धर्म हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि अनाश्रित्व, अलिंगत्व, निरयवत्व, स्वतंत्रत्व, अत्रिगुणत्व, विवेकित्व,

---

१- जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषम् कामरूपं मघोनः। पू० मे० ६

अविषयत्व , असामान्यत्व , चेतनत्व , अप्रसवधर्मित्व , साक्षित्व , कैवल्य , माध्यस्थ्य औदासीन्य , द्रष्टृत्व तथा अकर्तृत्व समस्त धर्म पुरुष में है ।[1]

कविकुलगुरु कालिदास ने भी उस पुरुष पद को अनेक स्थलों पर कुशलतापूर्वक प्रयोग कर अपने सांख्यसम्मत सम्यक् ज्ञान को प्रस्तुत किया है । गीतिकाव्यों के चूड़ामणि मेघदूत में कवि कामरूपपुरुष[2] को अलका के उस लोक में ले जाना चाहता है जहां काम को भस्मावशेष करने वाले शिव का साक्षात् निवास जानकर कामदेव अपनी प्रत्यंचा चढ़ाने का साहस नहीं करता । इसी ज्ञान में ही मेघदूत के आध्यात्मिक शास्त्र का सार है ।[3]

प्रियतमा के वियोग में व्यथित यक्ष स्वयं कृशकातर हो ही गया है , उसे इस विषय की भी चिन्ता संतप्त कर रही है कि उसकी प्रिया कान्ता भी उसके वियोग में कठिनता से जीवन धारण कर रही होगी । वस्तुतः प्रेम द्विपक्षीय व्यापार है तथा प्रेमी को यदि यह ज्ञान न हो कि उसका प्रिय भी उसके वियोग में उसके लिए व्यथित है तो संभवतः उसके प्रेम की ज्वाला निरन्तर आरोहणशील नहीं होगी । अतः कवि ने दयिताजीवितालम्बन[4] प्रेरणा से ही यक्ष को अनुप्राणित किया है । स्नेहकातर यक्ष कुटज कुसुमों से सर्वप्रथम मेघ की अभ्यर्थना करता है तथा कुशल-मंगल द्वारा उसका सुस्वागत करता है ।[5] भौतिक दृष्टि से मेघ धूम ज्योति सलिल एवं मरुत् का समवाय

१- सां० का० १७,१९,२०
२-" जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषम्" पू० मे० ६
३- उ० मे० १४
४- पू० मे० ४
५- पू० मे० ४

है[1] और इसीलिये उसे सन्देशवाहन का कार्य नहीं सौंपा जा सकता , किन्तु अधीरता एवं उत्कण्ठा से अभिभूत होने के कारण यक्ष को स्थिति की असंगति का बोध नहीं होता और वह मेघ से प्रार्थना करता है , क्योंकि कामार्त्त व्यक्ति चेतनाचेतन पदार्थों के समीप समान भाव से दीन बन जाता है ।[2]

भौतिक दृष्टि से मेघ में वह प्राणोष्मा नहीं जो उस जड़ को संवेदनशील बना सके । किंतु भौतिक सत्यों से ही मनुष्य का जीवन परिचालित नहीं होता । काम एवं मृत्यु दो ऐसी शक्तियां अथवा घटना हैं जिनके सामीप्य में विज्ञान के कठोर सत्य हृदय की आंच में पिघल कर एकदम नवीन रूप ग्रहण कर लेते हैं । इस अवस्था में प्राकृत जगत् के निश्चेतन पदार्थ प्राणवान् बन जाते हैं तथा उनके साथ एक मौलिक समरसता का अनुभव करते हुए मनुष्य उनसे मैत्रीभाव स्थापित कर लेता है । कालिदास ने चेतन-अचेतन की विभाजन रेखा मिटाने का श्रेय "काम" को दिया है ।

मेघदूत का प्रतिपाद्य सृष्टि संचालन में कामतत्व की प्रधानता है । यक्ष मेघ को इन्द्र का "कामरूप प्रधानपुरुष" ही मानता है , अतः वह अपनी कामातुर दशा में उसके सम्मुख प्रार्थी बनकर गया है । मेघ की इस कामरूपता ने सम्पूर्ण चराचर सृष्टि में द्वैतभाव का जनन कर दिया है , सभी में एक प्रकार की उत्तेजना उत्पन्न कर दी है । कालिदास ने मेघ को साधु , सौम्य , सुभग एवं आनुष्मान् विशेषणों से सम्बोधित किया है ।[3] क्योंकि वह स्थूल और सूक्ष्म , दृश्य एवं अदृश्य , निरीन्द्रिय

१- पू० मे० ५
२- पू० मे० ५
३- पू० मे० ६
४- पू० मे०

तथा सेन्द्रिय , संवेदनशील और भावुक सभी पदार्थों को एक समान आशीर्वचन देता है ।

महामहोपाध्याय मल्लिनाथ ने प्रकृतिपुरुषं कामरुपम् का अर्थ किया है -- इच्छानुसार रूप धारण करने में समर्थ प्रधान पुरुष । किन्तु इस व्याख्या द्वारा कवि का अभीष्ट अर्थ स्पष्ट नहीं होता है मेघ स्वयं कामरूप है काम है और समग्र प्रकृति का पुरुष है जो श्रवण सुभग गर्जन सुनाकर उसमें नवीन प्रसव का विधान करता है । मेघ ही प्रकृति के वन्ध्यात्व दोष को निराकृत करने की सामर्थ्य रखता है ; इसी कारण वह प्रकृति पुरुष तथा कामरूप है । यक्ष को चतुरिन्द्रय युक्त दूत की आवश्यकता थी , अतः यक्ष ने स्वयं इन्द्र के कामरूप पुरुष को अपने दौत्य-कर्म के लिए चुन लिया । इन्द्र के पुरुष से बढ़कर इंद्रशक्ति अन्यत्र कहां सम्भव थी ? द्वितीय आवश्यकता जो यक्ष को अपेक्षित थी वह थी चेतन सम्पन्न प्राणी । यहां मेघ ही समस्त चराचर प्रकृति का पुरुष है । विकासोन्मुखी प्रकृति स्वयं उसे चाहती है , दूर से ही मेघ का शब्द सुनकर उसे रोमांच हो आता है । मेघ उसके वन्ध्यात्व दोष को मिटाकर उसमें प्रजापति के क्रम की वृद्धि करता है । कामरूप मेघ ही ऐसा सामर्थ्यवान् पुरुष है । इस मेघ का सम्बन्ध इंद्र से है , वह इन्द्र का पुरुष क्या , स्वयं इन्द्र रूप ही है । डा० अग्रवाल[1] ने अत्यन्त निपुणतापूर्वक इन्द्र मेघ तथा प्रजनन-शक्ति की एकरसता उपपन्न की है । इन्द्र शतक्रतु है , क्रतु का अर्थ शक्ति या वीर्य है । अतएव इन्द्र अगणित अपरिमेय वीर्य अर्थात् प्रजनन शक्ति का पर्याय है । वेदों में इन्द्र

१- डा० वासुदेव शरण अग्रवाल -- "मेघदूत का अध्ययन"

के वर्षण कार्य का विपुल वर्णन उपलब्ध होता है । वृष तथा वृषभ शब्दों का लगभग त्रिंशत् प्रयोग ऋग्वेद में इन्द्र के रूप में मिलता है । सोम के लिए किए गए शत प्रयोगों में भी इन्द्र का साहचर्य है । जो पुरुषों में वृष है वही स्त्रियों में सोम शेष विंशति प्रयोगों में प्रायः रेतः सेचन तथा पुरुष के प्रजनन कार्य का निर्देश दिया गया है । शतपथ , ताण्ड्य एवं कौषीतकि ब्राह्मणों में इन्द्र को साक्षात् वृष कहा गया है ।[1] यथा नवमास तपकर मेघ अपनी सुखद गर्जना से पृथ्वी में सर्वप्रथम शिलीन्ध्र रूप रोमांच उत्पन्न करता है और तब वास्तविक वर्षण कर उसे प्रसव के लिए समर्थ बनाता है । चैतन्य मेघ के दर्शन से प्रकृति का चैतन्य भी उमड़ पड़ा है । सभी का प्राणदाता मेघ है , चेतन मेघ ने कामपुरुष बनकर प्रकृति के जिन-जिन पदार्थों और सत्वों का स्पर्श किया वे सभी सुन्दर एवं दर्शनीय बन गए हैं । कामरूप पुरुष के आगमन से प्रकृति पृथ्वी में क्या परिवर्तन होते हैं , उसका कुछ वर्णन कालिदास ने किया है । मेघरूप पुरुष पृथ्वी को गर्भाधान कराता है । सांख्यानुसार पुरुष-प्रकृति के संयोग से ही सृष्टि की रचना होती है । अथर्ववेद के प्राणसूक्त में मेघ को पृथ्वी का ब्रह्मचारी कहा है ।

मार्ग निदर्शन के प्रसंग में मालक्षेत्र[2], आम्रकूट[3] के जड़ शरीर में

१- मयि इदं इन्द्र इन्द्रियम् दधातु -- शतपथ ब्राह्मण १-८-१-४२
   इन्द्रो मे बले श्रितः   तैत्तिरीय ब्राह्मण ३-१०-८-८
   इन्द्रियम् वै वीर्यमिन्द्रः   शतपथ ब्राह्मण ३-८-१-१५
   वृषा वा इन्द्रः   कौषीतकि ब्राह्मण २०-३
२- पू० मे० १६
३- पू० मे० १७

मेघ द्वारा चैतन्य का प्रवेशीकरण तथा नीचै नामक पर्वत को उसका विश्राम स्थल बताया है जिसका हेतु पुरुष स्त्री में व्याप्त उद्दाम यौवन का परिचय है ।[1] इन पंक्तियों के पश्चात् देवगिरि[2], हिमालय[3] एवं कैलास[4] के साथ आध्यात्मिक संबन्ध का व्याख्यान है । देवगिरि स्कन्द की वसति है ।[5] यक्ष का मेघ रूप पुरुष को आदेश है "वहां पुष्पार्पण से पूजन करना । कारणरूप में उसका कथन है --" जिस मघवा के तुम प्रधान पुरुष हो उसी की रक्षा करने वाले सेनानी स्कन्द हैं । अतः उनकी पूजा में आत्मसमर्पण करना तुम्हारे लिए उभयलोक में परमोच्च सौभाग्य है ।"[6] इसके पश्चात् कैलास का आतिथ्य स्वीकार करना-- यह कैलास उसी धूर्जटि का राशिभूत अट्टहास है जिसने किसी काल में उसके (मेघ के) कामरूप को भस्म कर दिया था , जिसके लोक में जाने का तुम पुनः उपक्रम कर रहे हो। इस बार यह यात्र अभिमानी योद्धा कन्दर्प की नहीं , प्रत्युत श्रद्धालु द्वारा अपने आराध्य देव को भक्तिनम्र होकर स्थिर पद की प्राप्ति के लिए प्रणाम करने चला है ।[7] मेघ को वेद में सिन्धुओं का वृषभ कहा गया है । वारिधाराएं अहर्निश जिसके प्रताप से बहती हैं उस रस का पोषक मेघ ही है निर्विन्ध्या का उन्मादिनी बनकर आवर्तरूप नाभि को प्रगट कर चलना तथा विहंग पंक्ति रूप कांचीदाम को झंकारती हुई इठलाना[8], समस्त उसी कामरूप पुरुष के ऊपर निर्भर

१- पू० मे० २५
२- पू० मे० ४५
३- पू० मे० ५४
४- पू० मे० ६०
५- पू० मे० ६२
६- पू० मे० ४७
७- पू० मे० ६३
८- पू० मे० २८

रहता है जिसने अचेतन में चेतन का मंत्र फूंक दिया है । ये वर्णन मात्र प्राकृतिक नहीं प्रत्युत इनमें प्रकृति चेतन मनोभवों से संक्रमित होकर चेतन के समान ही समस्त व्यवहार करने लगती है । इन व्यवहारों का साक्षी भोक्ता और नियन्ता पुरुष मेघ के रूप में सर्वदा प्रस्तुत होकर साथ चलता है । इसी कारण प्रकृति चैतन्य में अत्यन्त सजीवता एवं सरसता आ गई है । कवि का मेघ चैतन्ययुक्त है यथा सांख्य सम्मत पुरुष अतः उनमें मन, बुद्धि प्रभृति इन्द्रियों की कल्पना भी सुतरां सिद्ध है जिसके द्वारा वह अमरकण्टक तथा कैलास के भेद को ज्ञातकर अपने आध्यात्म की भी सिद्धि करता है । वह निर्विन्ध्या के साथ विलास करता है किन्तु सरस्वती के जल का पान कर अंतःकरण शुद्ध करता है ।[1] सरस्वती देवनदी है तथा स्वयं ब्रह्मा ने उसके समीप तपस्या कर श्रुतियों का प्रकाशन किया है उसे मेघ पूज्येतर भाव से नहीं देख सकता ।

यहां कवि ने मेघ के शरीर तथा आत्मा का अलग - अलग उल्लेख किया है । पुरुष रूप मेघ की बाह्यवर्ण कृष्ण है तथापि वह नश्वर शरीर की उपाधि है । चेतना का सर्वस्व तो अन्तःकरण है उसका विशुद्धीकरण आवश्यक है । मेघरूप पुरुष ने जितने कामविलास किए , सरस्वती तीर्थ के पुण्योदक पान से सभी की शुद्धि होती है । इसके पश्चात् कवि ने मेघ के विलास उल्लेख नहीं कहीं किया है । प्रत्युत गंगा , हरिद्वार , हरचरण , मुक्तत्रिवेणी , कैलास, मानसरोवर को व्याख्यायित करते हैं ।[2] कैलास तो "खं" ब्रह्म में वितान की भांति व्याप्त है तथा तप का स्थल

१- पू० मे० ४९
२- पू० मे० ५४, ५९, ६१, ६२ , ६६

है ।[1] चेतन प्राणी ही इस प्रकार का विवेक रखते हुए स्वर्ग तथा संसार दोनों सिद्ध कर सकते हैं । मेघ सक्रिय बनकर व्युत्पन्न व्यवहार करता है वह निष्क्रिय तथा निरपेक्ष नहीं है । प्रकृति पग-पग पर पुरुष के वश में है तथा उसकी लीला से अवधूत होती है । इसमें भी मेघदूत का आध्यात्म पक्ष ही प्रकाशित होता है ।[2]

गम्भीरा के प्रसंग में अतिशृंगारिक तथापि रोचक रूप में सांख्य के पुरुष प्रकृति भाव को स्पष्ट किया गया है ।[3] इस वेला में यक्ष द्वारा मेघ को उपदेश है कि वह स्वधैर्य को पकड़कर न बैठा रहे तथा अपनी संयमकृत जड़ता से गम्भीरा के कटाक्षों को व्यर्थ न करे । वह धैर्य क्या है ? इसे "कुमारसम्भव" में कवि ने बताया है ।[4] किन्तु जब गम्भीरा का गाम्भीर्य जा चुका है उस वेला में पुरुष रूप मेघ को धैर्य धारण कर संयम का अभ्यास करना उचित नहीं है, क्योंकि गम्भीरा की काम-विह्वलता विकृति ही है ।

यक्ष की संवेदनशीलता से यक्ष भूरिशः अभिभावित है , क्योंकि वह जानता है कि कामरूप पुरुष मेघ ही उसकी कामवेदना को उचित ढंग से तथा सम्पूर्ण गहराई से समझा सकता है , अतः वह संततों के शरण रूप पयोदरूप पुरुष को यक्षेश्वरों की विख्यात पुरी अलका में भेजता है ,जहां के मनोरम हर्म्य भगवान् शिव के मस्तिष्क से विच्छुरित होनेवाली चन्द्रिका से धवलित होकर शोभायमान होते

१- पू० मे० ६२
२- पू० मे० ६० , ६२
३- पू० मे० ४४, ४५
४- विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः कुमार० १-५९ ।

हैं ।[1] चेतन मेघ ने कामरूप बनकर प्रकृति के पदार्थों को सुन्दर एवं दर्शनीय बना दिया है । इस प्रकार प्रकृतिपुरुष द्वारा प्रकृति की विराट् एकता जिसने चराचर को एकसूत्र में बांध रखा है , उसके समस्त रहस्यों का सारतत्व संभवतः कवि की सहस्राक्ष दृष्टिकोण में प्रतिबिम्बित हो गई , यही कारण है कि उनका मेघदूत सार्वभौम है ।

कवि सांख्यसम्मत पुरुष का उल्लेख अन्य रचनाओं में भी निपुणतापूर्वक समन्वित करता है , साथ ही साथ समुचित स्थलों पर औदासीन्य , विवेकित्व , स्वतः चैतन्य स्वरूप आदि गुणों का भी विवेचन करता है ।

सांख्य के मूल तत्व पुरुष जिसकी सत्ता के लिए सांख्यदर्शन में प्रौढ प्रमाण उपन्यस्त है[2] उसे कवि शिरोमणि कालिदास अपने महाकाव्य में स्पष्टतः स्वीकार करते हुए उसके गुणों को भी संकेतित करते हैं ।[3] सांख्यकारिकाकार श्रीमदीश्वरकृष्ण ने भी पुरुष के अस्तित्व की सिद्धि के पश्चात् उसके गुणों का विवेचन किया है । यहां कालिदास द्वारा प्रयुक्त "उदासीन" पद प्राप्त नहीं होता किन्तु सुप्रसिद्ध विद्वान भाष्यकार पं० वाचस्पतिमिश्र ने "सांख्यतत्वकौमुदी" टीका में उपर्युक्त कारिका

१- पू० मे० ७
२- जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव । सां० का० १८
३- त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम् ,
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः ॥ कुमार ० २-१३
४- गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः
कैवल्यम्माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च । सां० का० १७

पर टीका लिखते हुए इस प्रकार व्याख्या की है ।[1] इस प्रकार माध्यस्थ्य धर्म को मिश्रजी ने उदासीन पद द्वारा स्पष्ट किया है । पुरुष में स्वरूपतः सिद्ध अत्रैगुण्य होने के कारण ही उसका धर्मान्तर माध्यस्थ्य गुण भी सिद्ध हो जाता है । त्रिगुणमयी प्रकृति है तथा उसको देखने वाले पुरुष के धर्म त्रिगुण फलस्वरूप विवेकित्व स्वतः सिद्ध है । वह पुरुष सुख दुःखादि से रहित होने के कारण माध्यस्थ्य अथवा उदासीन है । गीता में भी यही सन्देश प्रेषित है ।[2] अन्यत्र भी उदासीन में माध्यस्थ्य शब्द का प्रयोग मिलता है ।[3]

अन्यत्र कविकुलश्रेष्ठ ने सांख्यसम्मत पुरुष को उस अक्षर पुरुष के रूप में स्वीकार किया है जो शिव से परे है तथा गीता में प्राप्त ब्रह्मविषयक विचारों से सामंजस्य रखते हैं । "रघुवंशम्" के अष्टम सर्ग में जहां भूपति रघु की मुक्ति का प्रसंग प्राप्त है , वहां पर वाग्देवतावतार की वाणी इस प्रकार है :---

"राज्यकार्यभार संभालने की पर्याप्त निपुणता तथा प्रजा द्वारा पर्याप्त आदर प्राप्त पुत्र आज को देखकर रघु ने आत्मज्ञान के प्रति अपना ध्यान केन्द्रित किया तथा स्वर्गीय सुख तथा आनन्द की इच्छा त्याग दी जिसको समयान्तराल में क्षीण होना ही था ।[4] यहां भी कवि सांख्यसम्मत मुक्ति को ही प्रश्रय देता हुआ मीमांसकों के मुक्तिरूप

१- अतएवात्रैगुण्यान्माध्यस्थ्यम् । सुखी हि सुखेन तृप्यन् , दुःखी हि दुःखं द्विषन् माध्यस्थो न भवति । तदुभवरहितस्तु माध्यस्थ इत्युदासीन इति चाख्यायते । वाचस्पति मिश्र कारिका एकोनविंश पर भाष्य । सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ० १६९ ।

२- सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु । गी० ६-९

३- वादिप्रतिवादिनो समो मध्यस्थः , सर्वत्र उपेक्षावान् उदासीन : इति शंकरानन्दः ।

४- रघु० ८-१० ।

स्वर्ग के प्रति अनास्था प्रगट कर रहा है ।

आत्मज्ञान प्राप्त रघु ने इक्ष्वाकुवंश के कुलप्रथानुसार वृद्धावस्था में अन्य नृपों की भाँति राज्यकार्य गुणवान् पुत्र को सौंपकर नियमादि द्वारा वृक्षों के छाल का वस्त्र धारण करना प्रारम्भ किया तथा योगबल के आधार पर सर्वतः प्रकाशमान अविनाशी पुरुष का दर्शन कर उसमें लीन हो गए ।"[1] यहां भी कवि ने पुरुष के स्वतः प्रकाशमान तथा अविनाशी गुण का विवेचन किया है ।

सांख्यमतानुसार पुरुष चैतन्य या आधारभूत द्रव्य नहीं प्रत्युत स्वतः चैतन्यस्वरूप है । चैतन्य उसका गुण नहीं प्रत्युत स्वभाव है । वेदान्त आत्मा को आनन्दस्वरूप मानता है किंतु सांख्य नहीं । वह आनन्द तथा चैतन्य को दो वस्तु मानता है एक नहीं । पुरुष शुद्ध चैतन्य स्वरूप है तथा प्रकृति के प्रभाव से परे है । ज्ञान उसका स्वभाव है । ज्ञान का विषय बदलता रहता है किन्तु चैतन्य या प्रकाश अविकार्य है , अतः पुरुष निष्क्रिय तथा अविकारी है । कवि ने अविकारी गुण को भी प्रसंगतः उल्लिखित कर दिया है ।

वस्तुतः कविकुलगुरु ने अपनी कविताकामिनी के काव्यात्मक सौन्दर्य को ही अलंकार प्रभृति से सजाया है , अतः उनकी रचनाओं में दर्शन तत्त्व बिखर गये है । उनमें यदि एकरूपता की प्राप्ति नहीं होती तो किंचिदपि आश्चर्य नहीं होता न हि अनुचित ही प्रतीत होता है । एक स्थल पर उन्होंने ब्रह्मा की स्तुति की है । अन्यत्र विष्णु उनका स्तुत्य है । किन्तु दोनों ही मूर्तियां परस्पर सामंजस्य

१- रघु० ८-२४ ।

रखती है । शिव अर्चना के साथ ही साथ भारतीय जनता विष्णु को भी पुष्पार्पित करती है , अतः भक्त कालिदास यदि इन दोनों देवताओं की समान रूप से स्तुति करते हैं तो यह आश्चर्यजनक नहीं । शिव महेश्वर हैं किन्तु विष्णु के अवतार का उल्लेख कवि अनेक स्थलों पर करते हैं तथा "पुरुष" संज्ञा से विभूषित करते है । विष्णु अवतार राम तथा परशुराम के मध्य वार्ता प्रसंग में भार्गव का कथन इस प्रकार है । "आप साक्षात् पुरातन पुरुष हैं , किन्तु मैंने इस ज्ञान प्राप्ति के लिए कष्ट प्रदान किया है कि आप विष्णु का कितना तेजांश लेकर पृथ्वी को शोभित करने आए हैं । पिता के शत्रुओं का नाश करने वाले तथा सागर तक विस्तृत पृथ्वी ब्राह्मणों को प्रदान करने वाले मुझ परशुराम के लिए आप परमपुरुष के हाथ पराजय भी गौरव की ही बात है ।"[१] प्रधानपुरुष रूप में विष्णु का उल्लेख कवि अन्यत्र भी करते हैं जहां वे आदिपुरुष विष्णु के रूप में भारतीय जनता द्वारा स्तुत्य है तथा लोकत्रय के संहार के पश्चात् समुद्र में योगनिद्रा में शयन करते है तथा इनकी नाभि से निकले कमल से उत्पन्न होने वाले ब्रह्मा जी सर्वदा इसका गुणगान किया करते हैं ।[२] विष्णु के इस स्वरूप के भाव महाभारत पुराण प्रभृति में भी प्राप्त होते हैं । पुराण में विष्णु महायोगी के रूप में प्राप्त होते हैं तथा जिन गुणों का उल्लेख कवि करते हैं उन्हीं विशेषताओं से युक्त विष्णु के स्वरूप का वर्णन पुराण में भी प्राप्त है ।

प्रौढ़तम ग्रन्थ "रघुवंशम्" में नृप दशरथ द्वारा पुत्रेष्टियज्ञ के

१- रघु० ११- ८५ , ८६
२- रघु० १०- ६

प्रसंग में रावण के अत्याचारों से पीड़ित देवताओं के विष्णु के शरण में जाने के प्रसंग में भी विष्णु को आदिपुरुष के रूप में सम्बोधित किया गया है , जहां कवि इन शब्दों में अपने भावों को प्रगट करते है -- "जिस काल में देवतागणों ने क्षीर-सागर को अपने आगमन से सुशोभित किया उसी काल में आदिपुरुष अर्थात् विष्णु अपनी शेषशय्या से योगानिद्रा के पश्चात उठे । यहां भी विष्णु को आदिपुरुषरूप[1] में प्रस्तुत किया गया है । विष्णु को अनेक स्थलों पर पुरुषोत्तम की संज्ञा भी प्रदत्त है ।

यहां ध्यातव्य है कि कविकुलगुरु ने शिव को जिन गुणों से विभूषित किया है , पुराणों में विष्णु के प्रति उसी प्रकार की कल्पना प्राप्त होती है । संभवतः तत्कालीन जनता शिव के प्रति पुष्पार्पित करती थी अतः कवि ने भी शिव में विशेष आस्था प्रदान की तथा उनकी रचनाओं का प्रतिनिधित्व शिव ही करते हैं । प्रत्येक कवि जनसाधारण की धर्म संस्कृति को देखते हुए ही उनके नैसर्गिक झुकाव के प्रति अपनी विवेचनात्मक दृष्टि रखता है । भारतीय जनता त्रिदेव को समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रदान नहीं करती अतः कवि द्वारा भी लोकविश्वासानुसार बहुदेवताओं की सत्ता स्वीकार की गई इस पक्ष में जनसाधारण की दृष्टि से कालिदास बहुदेववादी कहे जा सकते हैं । कवि द्वारा भी जनसामान्य के विचारानुकूल किसी देवता विशेष के प्रति आकर्षण प्राप्त कर उनकी भक्ति नहीं करते प्रत्युत त्रिदेव की स्तुति करते है तथा कल्पना के आधार पर उनके समस्त गुणों को व्याख्यायित करते है । यह अनुचित भी प्रतीत नहीं होता

१- रघु० १०-६

क्योंकि समस्त संस्कृत कवियों की यही प्रवृत्ति रही है कि जनसाधारण के धर्मसंस्कृति तथा इष्टदेवों को अपनी रचनाओं में पर्याप्त स्थान देते है । क्वचित् मनीषियों ने कालिदास को शैव रूप में सिद्ध किया है किन्तु कविश्रेष्ठ विष्णु तथा ब्रह्मा की भी समभाव रूप से स्तुति करते हैं । प्रौढ़तम ग्रन्थ "रघुवंशम्" में अविनाशी त्रिकालदर्शी पुरुष की स्तुति प्राप्त होती है ।[1]

"कुमारसम्भव" में प्राप्त श्लोक जिसमें सांख्यसम्मत प्रकृति और पुरुष दोनों का स्पष्टतः विवेचन प्राप्त है वहां उसके औदासीन्य तथा विवेकित्व गुण को भी बताया गया है साथ ही साथ पुरुष बहुत्व की भी विचारणा की गई है । श्रीमदीश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में पुरुष की अनेकता[2] प्रबल तथ्यों के आधार पर सिद्ध की है , किन्तु कालिदास का प्रतिपाद्य पुरुष अनेक नहीं वह एक है । यहां सांख्यसम्मत मूल सिद्धान्त (तत्वद्वय) से पर्याप्त भिन्नता है । सांख्यानुसार पुरुष तथा प्रकृति दोनों की स्वतंत्र सत्ता है किंतु कवि दोनों को स्वतंत्र स्वीकार करते हुए भी उन्हें अन्त में अक्षर ब्रह्म में लीन करता है । कवि ने एक पुरुष अथवा आत्मा को ही स्वीकार किया है , जो सर्वोच्च स्थल पर स्थित है और उसकी संज्ञा ईश्वर है ।

मूल सांख्यकारिका में "ईश्वरविषयक" विचार प्राप्त नहीं होते । अतः कालिदास ने सांख्यदर्शन के मूलतत्व पुरुष तथा वेदान्तियों के ब्रह्म के समन्वय की कल्पना अपनी रचनाओं में की है तो यह उचित ही है । कालिदास हमारे सम्मुख

१- पुरुषस्य पदेष्वजन्मनः समतीतं च भवच्च भावि च ।
स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति ॥ रघु० ८-७८

२- जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ सां० का० १९

कवि रूप में अधिक चर्चित हैं अतः उनकी रचनाओं में किसी दर्शन विशेष की पूर्ण व्याख्या की अपेक्षा करना ही व्यर्थ है ।

सृष्टि - प्रक्रिया

जगत् की प्रकृति के सम्बन्ध में निखिलकविकुल चक्रचूड़ामणि कालिदास सांख्य दर्शन की मान्यता स्वीकार करते हैं । सांख्य के प्रमेय अथवा पदार्थ दो है -- जड़ प्रकृति और चेतन पुरुष ।[1] समस्त /_ जड़ प्रकृति इसी जड़ प्रकृति का परिणाम है तथा परिणाम की ही संज्ञा सर्ग या सृष्टि है ।[2] सांख्यानुसार सृष्टि के पूर्व सत्व , रज एवं तम ये गुणत्रय साम्यावस्था में वर्तमान रहते है तथा प्रकृति एवं पुरुष के पारस्परिक संयोग द्वारा इन त्रिविध गुणों की साम्यावस्था में क्षोभविकार उत्पन्न होता है इसे ही पारिभाषिक शब्दों में "गुणक्षोभ" की संज्ञा प्राप्त है । सर्वप्रथम क्रियाशील रजोगुण में स्पन्दन होता है , तत्पश्चात् सत्व तथा तम आंदोलित होते हैं । फलतः प्रकृति में भीषण आन्दोलन उत्पन्न होता है , ये गुणत्रय परस्पर एक दूसरे को स्वयं में समाहित करना चाहते हैं ऐसी स्थिति में गुणों में न्यूनाधिक्य की स्थिति उत्पन्न होती है तथा उसी न्यूनाधिक्य के अनुपात से नानाविध सांसारिक विषयों की उत्पत्ति होती है ।[3]

१- त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम् ।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः ॥ कुमार० २-१३

२- सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः । सां० सू० १-६१

३- प्रकृतेर्महान् ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात्पंचभ्यः पंचभूतानि ॥ सां० का० २२

त्रिगुणात्मिका प्रकृति से सर्वप्रथम बुद्धितत्त्व का प्रादुर्भाव होता है । बुद्धितत्त्व द्वारा अहंकार , अहंकार द्वारा मन , पंचज्ञानेन्द्रिय , पंचकर्मेन्द्रिय एवं पंचतन्मात्र उत्पन्न होते हैं , अन्ततः पंचमहाभूत , आकाश , वायु । पृथ्वी , जल , तेज । पंचतन्मात्र द्वारा उत्पन्न होते हैं , यही सृष्टि है ।

कविकुलगुरु ने अपने वाक्यांश "बुद्धेरिवाव्यक्तम्"[1] में महत्तत्त्व की सांख्यकीय मान्यता का प्रतिपादन किया है । सांख्यदर्शन में व्यक्त तथा अव्यक्त का विस्तृत वर्णन प्राप्त है जिसमें अव्यक्त प्रकृति से व्यक्त महद् की उत्पत्ति स्वीकार की गई है उसी प्रकार उपमाकालिदासस्य संज्ञा से विभूषित कालिदास ने उत्कृष्ट उपमेय - उपमान द्वारा सांख्यसम्मत सिद्धान्त का उल्लेख अत्यन्त रमणीय एवं सटीक रूप में किया है ।[2] रामवनगमन प्रसंग में सरयू नदी उसी मानसरोवर से निकली है जिस प्रकार प्रकृति से अव्यक्त , ऐसी कल्पना कवि को अभीष्ट है । प्रसिद्धसांख्य दार्शनिक हेमाद्रि[3] इस वाक्यांश को इन शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं , इसी वाक्यांश पर भाष्य रचनाकाल में चरित्रवर्धन टीकाकार ने भी अपना अभिप्राय प्रकट किया है ।[4] प्रकृति ही सृष्टि का मूलकारण है , उसी के द्वारा जगत् का विकास है , यही अव्यक्त है । कविशिरोमणि ने विष्णु प्रसंग में स्पष्टतः अव्यक्त को व्यक्त का कारण मानकर अव्यक्त तथा व्यक्त पदों की सार्थकता

१- रघु० १३-६०
२- ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति । रघु० १३-६०
३- बुद्धेरव्यक्तं मूलप्रकृतिकारणमिव । अनुत्पादितकार्याणि सत्वरजस्तमांसि मूलप्रकृतिः । हेमाद्रि
४- बुद्धेर्महत्तत्त्वस्य कारणं प्रकृतिं कथयन्ति । चरित्रवर्धन

स्वीकार करते हैं ।[1] सरयू के रूप में ब्रह्म समुद्र उस अव्यक्त की भाँति हैं । जिससे महत्तत्व उत्पन्न होता है , इसी अव्यक्त से शेष विकृति का कार्य होता है ।[2] रघुवंशम् में कवि ने स्पष्टतः ही लिखा है कि शरीरधारियों के लिए मरण ही प्रकृति है जीवन को विकृतिमात्र है । यदि जन्तु श्वास लेता हुआ एक क्षण के लिए भी जीवित है तो यह उसके लिए लाभ है ।[3]

अहंकार की उत्पत्ति बुद्धितत्व से होती है । बुद्धि में जब "अहं" तथा "मम" इत्याकारक अहं भाव उत्पन्न होता है तब अहंकार की संज्ञा प्रदान की जाती है । बुद्धि में जब अहं भाव इन्द्रिय तथा मन द्वारा उत्पन्न होता है सर्वप्रथम इन्द्रियों के द्वारा विषयों का प्रत्यक्ष होता है और तदनन्तर मन उसके स्वरूप को निर्धारित करता है । विषयों का स्वरूप निर्धारित होने के पश्चात् नाना प्रकार के सांसारिक व्यापारों में हमारी प्रवृत्ति होती है , यही प्रकृति मनुष्य को मिथ्या भ्रम में डालती है । कविकालिदास ने अहंकार को अपनी रचनाओं में स्पष्टतः स्थान प्रदान नहीं किया किन्तु "बुद्धेरिवाव्यक्तम्" अंश में व्यक्त के अन्तर्गत महत् , अहंकार , उभयात्मक मन , एकादशेन्द्रिय तथा पंचमहाभूत अन्तर्हित हो जाते हैं । एतदतिरिक्त "अन्तःकरण"[4] पद जिसका विवेचन कवि अनेक स्थलों पर करते हैं उसमें भी बुद्धि

१- अजितो विष्णुरत्यन्तमव्यक्तो व्यक्तकारणम् । रघु० १०-१८

२- ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति । रघु० १३-६०

३- मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः । रघु० ८-८९

४- (क) राजा-मातले, अन्तः खलु सवाध्यान्तःकरणो ममान्तरात्मा प्रसीदति
पृ० १३० अभि० सप्तमोऽङ्कः

(ख) उर्वशी- अभ्यन्तकरणया मया प्रत्यक्षीकृतवृत्तान्तः, खलु महाराज ।
राजा-अभ्यन्तरकरणेयतिन खलु ते वचनमार्थमवैमि ।
उर्वशी- एवमन्तःकरणप्रत्यक्षीकृतवृत्तान्तः ।
राजा- प्रिये । अन्तःकरणमिति न खल्ववगच्छामि । विक्रम० चतुर्थोऽङ्कः पृ० २३६

अहंकार , एवं मन का ही समन्वय है अतः उन्हें अहंकार तत्व स्वीकृत था -- यह ज्ञात होता है । कवि ने पंचज्ञानेन्द्रिय प्रभृति का उल्लेख किया है जिसका कारण अहंकार है । अतः सांख्यसम्मत सत्कार्यवाद के आधार पर ही अहंकार को अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध किया जा सकता है तथा अनुमानप्रमाण सांख्य सम्मत भी है । क्योंकि यह सिद्धान्त है कि कार्य का कारण अवश्य होता है[1] तथा कार्यरूप एकादशेन्द्रिय के कारणरूप में अहंकार तत्व की ही प्राप्ति होती है । अतः कवि ने सूक्ष्मरूप से अहंकार तत्व के बीज अपने काव्यों में आरोपित किए हैं ।

अहंकार जब उत्पन्न होता है तब बुद्धितत्व में अवस्थित रजोगुण प्रबल होता है अतः अहंकार को बुद्धि का विकार माना जाता है क्योंकि बुद्धितत्व की भांति अहंकार में भी सत्व , राजस और गुणत्रय विद्यमान रहते हैं अतः सात्विक राजस और तमस दृष्टि से अहंकार के तीन प्रभेद हैं ।[2] जिस अहंकार में सात्विक गुण की प्रधानता होती है उसे वैकृत , रजोगुण की प्रधानता युक्त अहंकार को तैजस और तमोगुण प्राधान्य अहंकार की संज्ञा भूतादि है । सात्विक अहंकार से एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है जिसे कवि ने "सवाह्यपदसमुच्चय"[3] द्वारा स्पष्ट किया है । तामस अहंकार से पंचतन्मात्राओं की सृष्टि होती है जिसे "परार्थैकफलागुणाः"[4] श्लोकार्ध

१- "कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते"

२- 'अभिमानोऽहंकारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।
   एकादशकश्च गणस्तन्मात्रः पंचकश्चैव ॥
   सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात् । सां० का० २२-२३
   भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥

३-" सवाह्यान्तःकरणो ममान्तरात्मा प्रसीदति" अभि० सं०तेडंदः पृ० १३०

४- "तथाहि सर्वे तस्यासन्परार्थैकफलागुणाः" रघु० १-२९

से कवि स्वीकृति प्रदान करते हैं। राजस अहंकार शेष दोनों अहंकारों का सहायक होता है और उन्हें शक्ति प्रदान करता है ।

इन्द्रियों को सांख्यदर्शन दो वर्गों में विभक्त करता है -- वाह्येन्द्रिय तथा अंतःकरण(मन) । महाकवि कालिदास ने सवाह्यकरण[1] पद समुच्चय द्वारा ज्ञान तन्तुओं तथा शक्तिचालक अंगों को संकेतित किया है तथा अन्तरात्मा एवं अंतःकरण[2] वाक्यांशों से आत्मा को ।

चक्षुः , श्रोत्र , रसना , घ्राण और त्वक् में पंच ज्ञानेन्द्रिय है , उन्हें बुद्धीन्द्रिय भी कहा जाता है इसके विषय हैं --रूप ,रस , शब्द स्पर्श और गन्ध । इन्द्रिय द्वारा रूप का ज्ञान होता है यथा मेघ को सम्मुख देख यक्ष की प्रतिक्रिया ।[3] श्रोत्र द्वारा शब्द गुण का स्पष्ट प्रयोग कवि करते हैं । इसी प्रकार त्वक् द्वारा स्पर्शरूप गुण उनके "अभिज्ञानशाकुन्तल" के सप्तमांक में दुष्यंत का पुत्र सर्वदमन के स्पर्श से शारीरिक सुख अनुभव में उदाहृत है ।[4] विदूषक के षट्रस विषयक रुचि का वर्णन ही "रस" के सर्वोत्तम उदाहरण है ।[5] मेघदूत अथवा प्राकृतिक सौन्दर्य में घ्राण गन्ध का उदाहरण भी प्राप्त होता है ।[6] ये पंच ज्ञानेन्द्रियां अहंकार

१- यतः खलु सबाह्यान्तःकरणो ममान्तरात्मा प्रसीदति -- अभि० सप्तमोऽङ्कः पृ० १३०
२- अभ्यन्तरकरणया मया प्रत्यक्षीकृत । विक्रम० चतुर्थोऽङ्कः पृ० २३४
३- पू० मे० २-३
४- अथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः -- रघु० १३-१
यथाऽभ्यर्थितमनुतिष्ठन्बालस्पर्शमुपलभ्य आत्मगतम्-- अभि० सप्तमोऽङ्कः पृ० १३६
५- किं मोदकखण्डियाम् -- अभि० द्वितीयोऽङ्कः पृ० २९
६-

का परिणाम है और पुरुष के निमित्त उनकी उत्पत्ति होती है ।

वाक् , पाणि , पाद , पायू उपस्थ ये पंच कर्मेन्द्रियां है । इनके द्वारा क्रमशः कर्णोच्चारण , आदान , गमन, मलत्याग तथा सन्तानोत्पत्ति कार्य निर्दिष्ट हैं । इनका समुचित उल्लेख कवि की रचनाओं में प्राप्त है ।

ये दसो इन्द्रियाँ सात्विक अहंकार से उत्पन्न हैं । आत्मा अथवा पुरुष इसका अधिष्ठाता है इन्द्रियां प्रत्यक्षावयवों में रहती हुई अप्रत्यक्ष है अतः अनुमेय है ।

मन उभयात्मक इन्द्रिय है । ज्ञानेन्द्रिय के साथ कार्य करने से वह ज्ञानेन्द्रिय का रूप धारण कर लेता है तथा कर्मेन्द्रिय के साथ कार्य करते समय वह कर्मेन्द्रिय के समान हो जाता है । अतः मन वस्तुतः लौचदार इन्द्रिय है । संकल्प और विकल्प उसके विषय है , धर्म हैं अथवा स्वरूप हैं । किसी कार्य को किया जाए अथवा नहीं किया जाए उसे संकल्प या विकल्प कहते हैं जो मन की क्रिया है । "सीता परित्याग वेला में राम का मन संकल्प या विकल्प के झूले में डोल रहा था , वे विचार कर रहे थे कि कि सीता का परित्याग करुं अथवा इस कलंक को उदासीन होकर सुन लूँ ।"[1] कवि का कथन है कि तत्वज्ञान द्वारा इन्द्रिय निग्रह का साधन किया जाता है ।[2] कठोपनिषद् इन्द्रियां, मन , बुद्धि , आत्मा और ब्रह्म का सम्बन्ध बतलाता है ।[3]

१- उभयात्मकमत्र मनः सां० का० २७
१ .... दोलाचलचित्तवृत्तिः रघु० १४-३४
२- तत्वज्ञानेन संयमी -- रघु० ४-६०
३- महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः । कठ० १-३-११

तन्मात्राएं[1] अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के जो शब्द, स्पर्श , रूप , रस एवं गन्ध पंचविषय है , वे ही तन्मात्र हैं किन्तु ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा तन्मात्राओं में कुछ विशेषताएं हैं । शब्द गुण का उल्लेख तो कवि ने अनेक स्थलों पर किया है । ये तन्मात्र इतने सूक्ष्म हैं कि उनका प्रत्यक्ष असम्भव है , उनकी अनुभूति मात्र अनुभव से सम्भव है । सांख्य के पंचभूत यद्यपि स्थूल है किन्तु न्याय वैशेषिकों के महाभूत के अपेक्षाकृत सूक्ष्म हैं । पंचमात्राओं से पंचभूतों की सृष्टि स्वतंत्र रूप से होती है , इसी भाव को रघुवंश में वर्णित करते हुए महाकवि ने लिखा था कि ब्रह्मा ने निश्चय ही दिलीप को पंचतत्वों से निर्मित किया था , क्योंकि जिस प्रकार पंचतत्व निरन्तर गंध , रूप , रस , स्पर्श एवं शब्द गुणों से सारी सृष्टि की सेवा करते हैं , उसी प्रकार दिलीप के समस्त गुण भी परोपकार एवं सेवाभाव से परिपूर्ण थे ।[2] रघु के प्रसंग में भी गुणों का वृद्धित्व को प्राप्त करने का उल्लेख मिलाता है ।[3] दिलीप के प्रसंग में द्वितीय सर्ग में भी पंचतत्वों का प्रसंग है , जहां उन्हें सांख्यसम्मत पंचतन्मात्राओं से उद्भूत माना गया है ।[4] अतिथि के यश की प्रशंसा करते हुए उन्हें पंचतत्व के समान महान् होने के कारण षष्ठ तत्व पद से विभूषित किया है ।[5] पंचतत्व के अन्तर्गत क्षिति , अप् , तेज , मरुद् एवं व्योम अंतर्हित

१- तदेव इति तन्मातम्

२- तं वेधा विधसे नूनं महाभूतसमाधिना ,
तथाहि सर्वे सस्यासन्परार्थैकफला गुणाः । रघु० १-२९

३- पंचानामपि भूतानामुत्कर्षं पुपुषुर्गुणाः । रघु० ४।११

४- एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु रघु० २-५७

५- भूतानां महतां षष्ठमष्टमं कुलभूभृताम् । रघु० १७-७८

है , तदतिरिक्त अतिथि को नवीन तत्व स्वीकार करना कवि की मौलिक कल्पना एवं प्रकाण्ड पाण्डित्य का द्योतक है ।

"रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान" पद की व्याख्या में पं० रमाशंकर त्रिपाठी का कथन है[1]-- " रम्य और मधुर रूप , रस , स्पर्श , गन्ध एवं ध्वनि से संबंधित पंचेन्द्रियों के विषय मनुष्य मात्र को आकृष्टकरते हैं । कवि इनके प्रति और भी विवशता के साथ आत्मविसर्जन करता है क्योंकि वह सामान्य मनुष्यता की तुलना में सृष्टि के आकर्षणों के प्रति अधिक जागरुक एवं संवेदनशील होता है ।

(ख) रम्य एवं मधुर की प्रतीति अर्थात् सौन्दर्य भावना किंवा रस भावना हमारी रागात्मिका प्रकृति भावस्थिराणि में बद्धमूल हो गई होती है । अतएव सौन्दर्य अथवा रस का आस्वाद बुद्धि अथवा तर्क का विषय न होकर अथवा राग का विषय है ।

(ग) सौन्दर्यानुभूति की प्रकृति अमिश्र आनन्द की नहीं होती , प्रत्युत उसमें वेदना की मन्द कनकनाहट बनी रहती है -- पर्युत्सुकी भवति"

(घ) वेदना का तत्व इसलिए उदित होता है कि हमारे पूर्वजन्मों के अनुभव या संस्कार सौन्दर्यानुभूति के साथ साथ हमारे उपचेतन में आ जाते हैं --" तच्चेतसा स्मरति" । प्रत्येक अनुभव अपने सजातीय अनुभव की अस्फुट भावना से समन्वित होता है , वह अपने में पूर्ण स्वतंत्र नहीं होता क्योंकि उसके साथ पूर्व की परम्परा जुड़ी रहती किसी भी अनुभव की प्रतीति स्मृतिमूलक होने के कारण थोड़ी टीस , कसक लिए होती।"

1- पं० रमाशंकर त्रिपाठी -- "कालिदास" पृ० ३३०- ३३१

अति आश्चर्य का विषय है कि इसी प्रकार की कुछ पंक्तियां आंग्ल कवि कोमलमना कीट्स ने यही भाव इस प्रकार व्यक्त किया है ।[1]

प्रकृति से लेकर पंचमहाभूतों तक उत्पत्ति की दो अवस्थाएं हैं -- (१) प्रत्ययसर्ग या बुद्धिसर्ग और (२) तन्मात्रसर्ग या भौतिक सर्ग प्रथम अवस्था में बुद्धि, अहंकार एवं एकादशेन्द्रिय का आविर्भाव होता है तथा द्वितीय अवस्था में पंचतन्मात्राओं पंचमहाभूतों तथा उनके विकारों का अविर्भाव होता है । यह सांख्यीय सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम है[2], जिसका यथोचित उल्लेख कवि ने प्रसंगतः सर्वत्र किया है ।[3]

जिस क्रम से सृष्टि की उत्पत्ति होती है , उसके विपरीत क्रम में जब कार्य कारण में लीन होते जाते हैं तब विनाश की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । कारण में कार्य के विलीन होने के कारण ही इन महादादि विकारों को लै कहा गया है । पंचमहाभूत कार्य स्वकारण पंचतन्मात्र में लीन हो जाते हैं , एकादशेन्द्रिय एवं पंचतन्मात्र रूप कार्य अपने कारण अहंकार में तथा अहंकार महत् में एवं महत्

१- "She dwells with beauty, beauty that must die
And Joy, whose hand is ever at his lips
Bidding adieu and aching pleasure night,
Turning to poison while the bee mouth sips ;
Ay, in the very temple of delight
Veil'd Melancholy has her sovereign shrine,
Though seen of non save him whose strenuon tongue,
Can burst joy's grape against his palate fine
His soul shall taste the sainess of her night,
And be among her cloudy trophies hung.

- Code on Melancholus - John Keats.

२- सां० का० २२

३- रघु० १३-६०, २-५७, १७-७८, ४-११

अपने मूलकारण प्रकृति में विलीन हो जता है । रघुवंश में दिलीप के मुख से कवि ने इसी तथ्य की पुष्टि करवाई है ।[१]

लिंग शरीर (सूक्ष्म शरीर)

सांख्य एवं वेदान्त दर्शन में सूक्ष्म शरीर की कल्पना की गई है । शुद्ध आत्मा व्यापक एवं निष्क्रिय होने के कारण उसका परलोक गमन तथा पुनरागमन सम्भव न होने के कारण तथा स्थूल शरीर के यहीं भस्मीभूत हो जाने के कारण परलोक गमनादि की उपपत्ति लगाने के लिए तथा मोक्ष तक स्थिर रहने वाले सप्तदश अथवा अष्टादश अवयवात्मक लिंग अथवा सूक्ष्म शरीर को माना है । सूक्ष्म शरीर की ही दूसरी संज्ञा लिंग शरीर है ।

निखिलकविकुलचक्रचूडामणि कालिदास की रचनाओं में सांख्यसम्मत सिद्धान्तों का अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित है । उसके मुख्य सिद्धान्तों के साथ ही साथ लिंग शरीर की भी कल्पना अल्परूप में उपलब्ध है । सुप्रसिद्ध नाटक "अभिज्ञानशाकुन्तलम्" के पंचमोऽङ्क में हंसपदिका के संगीत का श्रवण कर दुष्यन्त द्वारा पठित निम्न श्लोक[२] इस कल्पना का प्रत्यक्ष उदाहरण है । दुष्यन्त जिस वेदना-तत्व की अनुभूतिकर रहा है उसका कारण है कि पूर्वजन्म के अनुभव तथा संस्कार सौन्दर्यानुभूति के साथ-साथ हमारे उपचेतन में आ जाते हैं । कवि इसे ही "तच्चेतसा" स्मरति नूनमबोधपूर्वकम्"

१- एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु -- रघु० २-५७

२- रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपिजन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥ अभि० ५-२

से व्यक्त करता है । प्रत्येक अनुभव अपने सजातीय अनुभव की स्पष्ट भावना से समन्वित है , वह स्वयं में स्वतंत्र नहीं क्योंकि उसके साथ पूर्व की परम्परा आबद्ध है । अतः किसी भी अनुभव की प्रतीति स्मृतिमूलक होने के कारण थोड़ी देरके लिए होती है , कवि उसे ही इन शब्दों में प्रकाशित करता है --- "भावस्थिराणि" दुष्यन्त उसी उत्कण्ठा का कारण इस जन्म में न ढूंढ़ पाने पर रहस्य स्वीकार कर पूर्व-जन्म से सम्बद्ध स्वीकार कर अपनी दुश्चिंता का निवारण करता है । "भाव" पद का अर्थ संस्कार , भावना , वासना , हृदय , प्रेम , भक्ति मित्रता प्रभृति है । कवि इसी भाव को भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि" द्वारा प्रस्तुत करता है । यह मित्रता इहलौकिक नहीं प्रत्युत जन्मजन्मान्तर से है । इसी प्रकार रघुवंशम्" में भी लिंग शरीर की कल्पना प्राप्त है ।[1] पुरुषोत्तम राम पूर्वजन्म की घटनाओं को भलीप्रकार स्मरण करने में असमर्थ है , अतः पूर्वजन्म के वामनावतार रूप में जिस कुटी से सुपरिचित थे , उस स्थान को प्राप्तकर अनिर्वचनीय आनन्द एवं उदासी के भावों से ओतप्रोत हो जाते हैं । इस प्रकार के आध्यात्मिक मिलन के उदाहरण दुर्लभ हैं । इस प्रकार के अलभ्य आध्यात्मिक साहचर्य अपना आध्यात्मिक साहचर्य छोड़ जाता है तथा वह अचेतन मस्तिष्क के अंतकोष में समा जाता है एवं विशेष अवस्थाओं में चेतन मस्तिष्क में आता है । आत्मा उस प्रियतम समागम के लिए आतुर होती है , जिसके प्रति पूर्वजन्म में घनिष्ठता होती है , किंतु यह मधुर एवं स्नेहिल अनुभव सुगन्धित समीर के शीतल झोकों के समान कुछ खोने का भाव देकर चला जाता है । सांख्यकारिका में भी सूक्ष्म शरीर से प्रायशः एक ही प्रयोजन की सिद्धि स्वीकार की गई है । यह प्रयोजन

1- उन्मनाः प्रथमजन्मचेष्टितान्यस्मरन्नपि बभूव राघवः । रघु० ११-२२

पुरुष का संसरण है । इसी सूक्ष्म शरीर द्वारा पुरुष जगत् में विभिन्न योनियों में संसरण करता है ।[1]

संयुक्तिक अपवर्ग (मुक्ति)

सांसारिक जीवन दुःखातिरेक से पूर्ण है । जीवन में कुछ क्षण आनन्द की अनुभूति होती अवश्य है किन्तु अतीव अल्प मात्रा में दुःख सनातन तथा सुख क्षणिक है । दुःख सुख से बढ़कर है अतः बौद्धों की भाँति सांख्य भी सभी अनुभवों को दुःखमय बतलाया है । त्रिगुणों में तमोगुण दुःख का प्रतिनिधित्व करता है क्योंकि प्रत्येक वस्तु अथवा अनुभव में तमोगुण सन्निहित है। इसी तमोगुण का उल्लेख कवि ने बहुतायत से किया है , जिसका विशद वर्णन गुणवाद में प्राप्त है । सुख प्राप्ति के लिए किए गए प्रयत्न भी दुःखदायी है । क्षणिक सुख के पूर्व तथा पश्चात् दुःख ही दुःख है । अतः सनातन दुःख से मुक्ति प्राप्त करना ही मानव का उद्देश्य या पुरुषार्थ होना चाहिए ।

सांख्यानुसार जीवन तीन प्रकार के दुःखों से पूर्ण है -- आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक । महाकवि कालिदास ने दुःख को किस रूप में चित्रित किया है , यह प्रसंगः विवेचित है । कवि ने दुःख को पूर्णतया सांख्यदर्शन मतानुसार

१- पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिंगम् ॥ सां० का० ४०
पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसंगेन ।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवत् व्यवतिष्ठते लिंगम् ॥ सां० का० ४२
न विना भावैर्लिंगम् न विना लिंगेन भावनिर्वृत्तिः ।
लिंगाख्यो भावाख्यस्तस्माद्द्विविधं प्रवर्तते सर्गः ॥ सां० का० ५२

स्वीकार किया है तथा त्रिविध दुःखों की सत्ता स्वीकार की है ।

इनमें से आध्यात्मिक दुःख शारीरिक और मानसिक से दो प्रकार का होता है । वात , पित्त तथा कफ नामक त्रिदोष की विषमता से उत्पन्न दुःख को , शारीरिक तथा काम , क्रोध , लोभ , मोह , भय , ईर्ष्या , विषाद तथा सुन्दर शब्द , स्पर्श आदि श्रेष्ठ विषयों के अभाव से उत्पन्न दुःख को मानसिक कहते हैं । ये समस्त दुःख आन्तरिक उपायों से साध्य या निर्वतनीय होने के कारण आध्यात्मिक कहते हैं ।

वाह्य उपायों से साध्य दुःख दो प्रकार का होता है आधिभौतिक तथा आधिदैविक । उनमें से मनुष्य , पशु , पक्षी सर्प , वृक्षादि स्थावरों से उत्पन्न होनेवाले दुःख आधिभौतिक है । यक्ष राक्षस , विनायक , ग्रहादि के दुष्ट प्रभाव से जन्म दुःख आधिदैविक है । सभी मनुष्य दुःखों से निवृत्त तथा सुखप्राप्ति की इच्छा करते हैं किन्तु मात्र सुखप्राप्ति ही सम्भव नहीं , अतः दुःख निवृत्ति के लिए प्रयास करना ही चाहिए । क्योंकि इन तीनों प्रकार के दुःखों से आत्यन्तिक तथा ऐकान्तिक निवृत्ति की प्राप्ति ही मोक्ष अथवा अपवर्ग है । सांख्यकारिका का प्रारम्भ ही दुःखत्रय से है ।[१]

सांख्यदर्शनानुसार ज्ञान से ही मुक्ति है । सुख तथा दुःख गुणों से उत्पन्न होते हैं । इनकी अनुभूति मन या बुद्धि को होती है तथा आत्मा या पुरुष इनके प्रभावों से मुक्त है । किन्तु अज्ञानवशात् बुद्धि से पार्थक्य न समझ उसे

१- दुःखत्रयाभिघातात्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ -- सां० का० १

अपना अंग समझने लगता है तथा वास्तविक शुद्ध , बुद्ध , चैतन्य स्वभाव को भूलकर अपने को शरीर , बुद्धि , मन , इन्द्रिय समझने लगता है किन्तु पुरुष जिसकाल में अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कर लेता है तथा मन , बुद्धि और शरीर से परे समझता है एवं वह मुक्त हो जाता है ।

महाकवि कालिदास ने भी ज्ञान द्वारा मुक्ति की प्राप्ति बताई है । कवि का ध्येय स्वर्ग तथा सुख की प्राप्ति न था । वह श्रीमद्भागवत्गीता में कथित स्वर्ग के नश्वर सुख को ध्यान में रखते हुए पूर्वमेघ में उत्प्रेक्षा द्वारा स्वर्ग की अनित्यता बतलाता है ।[1] मारीच के आश्रम के ऋषिगण सुख का मोह त्याग कर उच्चतर पद की प्राप्ति के लिए तपस्या करते है । अभिज्ञानशाकुन्तलम्" के भरतवाक्य में भी पुनर्जन्म से मुक्ति की प्रार्थना की है ।[2] हिन्दूधर्म की दृष्टि से भी कालिदास के समय की जनता भी जीवन की सार्थकता की सिद्धि अर्थ धर्म , काम और मोक्ष में ही मानती है । कवि ने मोक्ष को मुक्ति , अपवर्ग , अनपायिपद , परार्ध्यगति अनावृत्ति अवस्था अजन्मा शब्दों द्वारा निर्देशित करता है । जबतक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती , जीव कर्मानुसार विश्व में अनेक जन्म धारण करता है । सत्कर्म मात्र सुखप्राप्ति में सहायक है , अतः मीमांसक सम्मत कर्म द्वारा मुक्ति प्राप्ति स्वीकार न कर कवि के मतानुसार योग समाधि से मोक्ष प्राप्त होता है । जब ज्ञान की अग्नि में सत्कर्म दग्ध हो जाते है उसे बेला में मोक्ष की प्राप्ति होती है तथा जीवनकी भयंकर शृंखला से मुक्ति मिलती है ,

---

१- ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं ,
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति । भा० गी० ९-२१
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानाम् ।
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम् ॥ पू० मे० ३०

२- अभि० ७-३१

कवि की वाणी स्पष्ट रूप से इसे कहती है ।[1] तत्वबोध द्वारा कर्माग्नि के रुधीकरण को कवि नकारात्मक रूप में स्वीकार करता है । प्रत्येक दुःख अज्ञान के कारण होता है अतः जिसकाल में पूर्णतत्व का ज्ञान हो पाता है , उसी समय यथार्थ तत्व हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाते है उसी काल में दुःख से मुक्ति प्राप्त हो जाती है । त्रिवेणी में स्नान द्वारा व्यक्ति पवित्रता की अनुभूति प्राप्त करते हैं तथा तत्वज्ञान की प्राप्ति न होने पर भी मोक्ष पद प्राप्त कर लेता है । यहां अर्थवाद के माध्यम से कवि ने तत्वज्ञान को ही उदाहरणरूप में प्रस्तुत किया है ।[2] जिससे उनकी सांख्यसम्मत सिद्धान्त के प्रति सम्मति संकेतित होती है ।

अन्यत्र कवि उपमा द्वारा स्पष्टतः ही तत्वज्ञान द्वारा मुक्ति सुलभ मानते हैं । रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में रघु के दिग्विजय का वर्णन है । सर्वप्रथम रघु ने पूर्वदेशों पर तत्पश्चात् गंगासागर के द्वीपों पर विजय प्राप्त की । तदनन्तर उडीसा कलिंग तथा पांड्य नृपों एवं पश्चिमी देशों पर अपनी कीर्तिध्वजा फहरायी। अन्ततः पारसियों से युद्ध के लिए स्थलमार्ग का सहारा लिया जिस प्रकार योगी इन्द्रियरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्ति के लिए तत्वज्ञान की सहायता लेता है ।[3] इसी तत्वज्ञान द्वारा इन्द्रिय रूपी शत्रुओं पर विजय तथा व्यक्ताव्यक्त का भेदज्ञान प्राप्त होता है , अंततः मुक्ति की प्राप्ति होती है । राजा जनक भी तत्वज्ञान द्वारा अन्य नृपों को शरीर की कारा में जकड़े आत्मा को मुक्ति प्रदान कराते थे ।[4]

१- इतरो दहने स्वकर्मणां ववृते ज्ञानमयेन वह्निना । रघु० ८-२४
२- तत्वावबोधेन विनापि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः । रघु० १३-५८
३- इन्द्रियाख्यानिव रिपूंस्तत्वज्ञानेन संयमी -- रघु० ४-६०
४- तवार्हतोऽभिगमनेन शक्रः सखा मे सतां भवोच्छेदकरः पिता ते । रघु० १४-४४ ?

सांख्यानुसार कर्म द्वारा मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं मानी गई है । अच्छे-बुरे या उदासीन कर्मों का आधार गुण है , अतः समस्त अच्छे-बुरे से बन्धन हो सकता है , मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती । सत्कर्मों से स्वर्ग की प्राप्ति होगी , जिसे कवि ने उत्प्रेक्षा द्वारा मेघदूत में प्रकट करते हैं तथा असत् कर्मों से मनुष्य नरकगामी हो सकता है । स्वर्ग एवं नरक दोनों सांसारिक हैं तथा सांसारिक जीवन के समान ही दुःखदायी भी है । अतः ज्ञान ही मोक्ष का कारण है , क्योंकि जब आत्मा अथवा पुरुष को मोक्ष प्राप्त होता है , उस वेला में उसमें विकार नहीं होता तथा किसी गुण या धर्म का आविर्भाव नहीं होता क्योंकि सांख्यानुसार मुक्ति अभावात्मक है । इसी प्रकार की मुक्ति की इच्छा कालिदास कुमारसम्भव में करते हुए कहते हैं -- "हे ईश्वर ! जिस प्रकार मुक्ति की इच्छा करनेवाले व्यक्ति जन्ममरण से छूटने के लिए कर्म के बन्धनों को काटने का उपाय ढूंढते हैं , उसी प्रकार राक्षस को नष्ट करने के लिए हम देवतागण सेनापति की इच्छा करते हैं ।"[1] इस श्लोक से यह ज्ञात होता है कि पाप अथवा पुण्यात्मक कर्मों का आधार गुण है ।

सांख्यदर्शन में कैवल्य या मोक्ष का अर्थ किसी अपूर्ण से पूर्णावस्था को प्राप्त करना नहीं है । अमरत्व एक सामयिक घटना नहीं । यदि मुक्ति देश , काल, या कार्य कारण की श्रृंखला में बंधा होता है तो आत्मा की मुक्ति नहीं होती तथा वह नित्य भी नहीं कहा जा सकता । सांख्यानुसार मुक्ति की प्राप्ति तब होती है जब पुरुष इस तत्व का अनुभव करता है कि वह देश-काल की परिधि से परे है तथा शरीर ,

---

१: कर्मबन्धच्छिदं धर्मं भवस्येव मुमुक्षवः । कुमार० २-५१

मन , इन्द्रिय से भिन्न है तथा मुक्त नित्य तथा अमर है ।

मोक्ष की अवस्थाएं

सांख्यदर्शनानुसार मोक्ष की दो अवस्थाएं है -- (क) जीवन्मुक्ति तथा (ख) विदेह मुक्ति ।

जिस काल में ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है , पुरुष उसी क्षण मुक्त हो जाता है , यद्यपि उसका शरीर प्रारब्ध कर्मानुसार चलता ही रहता है । कवि ने जीवनमुक्ति का उल्लेख प्रायः किया है । लोकेश रघु० ने अपने अज को राजलक्ष्मी प्रदान कर दी तथा मुक्ति प्राप्ति के लिए तत्वदर्शी योगियों के साथ चर्चा करने लगे ।[1] छान्दोग्योपनिषद् भी तत्वज्ञानी गुरु की आवश्यकता को बतलाता है । ज्ञानचर्चा द्वारा रघु ने अपने समस्त कर्मों को दग्ध कर दिया था । उन्हें तत्वज्ञान की प्राप्ति हो गई अतः वे उसी क्षण मुक्त हो गये थे , किन्तु उनका शरीर प्रारब्ध कर्मानुसार चलता है क्योंकि पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप शरीर कुछ काल के लिए संसार में रहता है । वस्तुतः तत्वों का अदर्शन ही बुद्धि पुरुष संयोग का मूल है , जिससे भोग होता है । जब शास्त्र चर्चा तत्वज्ञान (विवेकख्याति) से अदर्शन समाप्त हो जाता है तो संयोग का अभाव हो जाता है । यह संयोग है --अविवेकनिबन्धनतादात्म्य जिससे क्लेश उत्पन्न होता है , फलस्वरूप कर्माशय और उसके त्रिविपाक (जाति , आयु , भोग) होता है , किन्तु जब विवेकख्याति हो जाती है तो उस तत्वाग्नि से कर्माशय का प्रसव

१- अनपायिपदोपलब्धये रघुराप्तैः समियाय योगिभिः । रघु० ८-१७

सामर्थ्य दग्ध हो जाता है और संचित कर्म पुनः अग्रिम जाति , आयु और भोग देने में असमर्थ हो जाते हैं । इस प्रकार धर्माधर्म , वैराग्यावैराग्य , ऐश्वर्य- अनैश्वर्य , अज्ञान के कारण जो बुद्धि अपने को बन्धन में डालकर ज्ञान से मुक्त हो गई और पुरुष का जो अविविक्तनिबन्धनतादात्म्य के कारण "अहं कर्त्ता" प्रभृति भ्रम था वह समाप्त हो गया तथा प्रकृति को पुरुष आसक्तिरहित होकर देखने लगता है । रघु के साथ भी यही स्थिति हुई उन्होंने कंचन एवं मृत्तिका को समान समझा अर्थात् ऐश्वर्य-अनैश्वर्य प्रभृति से युक्त बुद्धि तत्वज्ञान से निर्मल हो गई तथा प्रकृति के सत्व , राजस् तथा तमस् इन गुणत्रय पर विजय प्राप्त की अर्थात् सांसारिक विषय-वासनाओं के प्रति अनासक्त हो गया ।[1] इस अनासक्ति के कारण वह जीवनावस्था में जीवनयापनार्थ जो कुछ भी कर्म करता है उससे कर्माशय नहीं बनता । अतः संचित और क्रियमाण कर्मों की शक्ति क्षीणता को प्राप्त करती है , तथापि प्रारब्ध कर्मों के कारण जिस शरीर को धारण किया है उसका भोग तो अवश्यमेव ही भोक्तव्य है , अतः तत्वसाक्षात्कार के पश्चात् अविद्यात्मक बुद्धिपुरुषसंयोग हट जाने पर पुरुष जीवन्मुक्त हो जाता है जैसे कि रघु ने संयोग रहने पर भी उसके भोग को तुच्छ माना तथा सृष्टि से अपरामृष्ट माना , उसके सम्मुख पत्नी-पुत्रादि का मोह शेष नहीं बचा , उसने सभी को समान समझा । जैसाकि रघु के प्रसंग में कवि लिखते हैं --- सभी को समान समझने वाले रघु ने अज के कहनेसे कुछ वर्ष संसार में और व्यतीत किए ।[2] इसमें गूढ़ रहस्य

१- रघुरप्यजयद्गुणत्रयं प्रकृतिस्थं समलोष्ठकांचनः । रघु० ८-२१

२- रघुरश्रुमुखस्य तस्य तत्कृतवानीप्सितमात्मजप्रियः ।
न तु सर्प इव त्वचं पुनः प्रतिपेदे व्यपवर्जितां श्रियम् ॥ रघु० ८-१३

इस प्रकार है कि रघु का प्रारब्ध भोग पूर्ण नहीं हुआ था , अतः उनका शरीर त्याग सम्भव न था , दूसरे पक्ष में जीवन्मुक्त व्यक्ति का जगत् के प्रति अनासक्ति भी बोधित हो गयी ।

जीवन्मुक्त व्यक्ति का सर्वोत्तम उदाहरण मिथिलेश जनक हैं । वे वीतराग थे तथापि मोक्षोपरान्त भी शरीरधारण किया था , क्योंकि यह प्रारब्ध कर्मों का फल है । परन्तु मुक्तात्मा पुनः कभी अपने को वह शरीर नहीं समझता क्योंकि उन्हें तत्वज्ञान की प्राप्ति हो गई थी अतः विश्व के मिथ्या प्रपंच के सम्मुख भी आसक्ति नहीं रही । सांसारिक विषयों के हेतु उसे तृष्णा नहीं रही तथा किसी दुःख से व्याप्त न हुए । वह संसार में रहते हुए भी निर्लिप्त रहे तथा ज्ञानोपदेश द्वारा अनेक विद्वानों को संसार के बन्धन से मुक्ति प्रदान कराते है ।[1] इसी प्रकार तत्वज्ञानियों ने अज को रघु की मृत्यूपरान्त सान्त्वना प्रदान किया कि रघु ने मोक्ष प्राप्त कर लिया ।[2]

पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप शरीर कुछ समय के लिए संसार में रहता है । कारण यह है कि पहले की शक्ति कुछ देर तक कार्य करती रहती है , उसी प्रकार मुक्त महात्माओं का शरीर भी प्रारब्ध के अनुसार चलता रहता है किन्तु मुक्त महात्मा का शरीरधारी होने पर भी शरीर से कोई सम्बंध नहीं रहता , नवीन कार्मों की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि सभी कार्यों की शक्ति ध्वंस हो जाती है ।[3] संक्षेप में जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त है -- ज्ञान का अभ्युदय हो जाता है किन्तु शरीर प्रारब्ध कर्मवश चलता है ।

१- रघु० १४-४४
२- स परार्ध्यगतेरशोच्यतां पितुरुद्दिश्य सदर्थवेदिभिः । रघु० ८-२७
३- सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमवद् धृतशरीरः ॥ सां० का० ६७

मृत्यु के अनन्तर जब देह की भी मुक्ति होती है उसे विदेहमुक्ति कहते हैं । इस अवस्था में स्थूल-सूक्ष्म सभी शरीरों से सम्बन्ध समाप्त हो जाता है तथा पूर्णकैवल्य की प्राप्ति होती है । अतः सांख्यानुसार मोक्ष पूर्णनिरोध की अवस्था है तथा सभी दुःखों से निवृत्ति की अवस्था है इस अवस्था में पुरुष या आत्मा अपनी पूर्ण चेतना प्राप्त कर लेता है तथा इस अवस्था में किसी सुख अथवा आनन्द का अनुभव नहीं होता क्योंकि सुख और दुःख सम्बद्ध हैं ।

आनन्द सत्वगुण का ही फल है किन्तु मोक्ष की अवस्था गुणों से परे है । चित्त क्योंकि यह साधिकार नहीं है । अतः प्रकृति में लीन हो जाता है । रघु के प्रसंग में कवि का कथन है कि योगबल से रघु सदा प्रकाशमान तथा अविनाशी ब्रह्म में लीन हो गए ।[1] ध्यातव्य है कि कवि की ब्रह्म ही प्रकृति है अतः प्रकृति में लीन होना ही अभीष्ट है । इस अवस्था में प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त हो जाता है । इस स्थिति में न कभी पुरुष तथा प्रकृति के संयोग की संभावना नहीं रहती और न पुनः शरीर धारण करने की । इसी प्रकार की विदेह मुक्ति का प्रार्थना दुष्यत ने "अभिज्ञान-शाकुन्तलम्" के भरतवाक्य में की है ।[2] इसी प्रकार राम का विष्णु में लीन हो जाना विदेह मुक्ति के प्रति संकेत देता है । इस प्रकार योगी का शरीरपात हो जाता है और वह आत्यन्तिक तथा ऐकान्तिक दोनों कैवल्य को प्राप्त कर लेता है ।[3]

१- तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघु० । रघु० ८-२४
२- अभि० ७-३१, रघु० १५-१०२, १०३
३- प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥ सां० का० ६८

दुःखत्रय की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्तिरूप इस मुक्ति के लिए प्रत्येक दर्शन की भांति सांख्य का भी कथन है कि तत्वज्ञान द्वारा ही मुक्ति संभव है ।[1] कविकुलगुरु की वाणी भी यही कहती है कि तत्वज्ञान ही मुक्ति प्राप्ति होती है ।[2] ईश्वरकृष्ण का भी यही कथन है कि व्यक्ताव्यक्त और ज्ञ के विवेकज्ञान से ही मुक्ति सम्भव है ।[3] ईश्वरकृष्ण के मतानुसार सर्वप्रथम व्यक्त का ज्ञान करना चाहिए , ज्ञान का अर्थ साक्षात्कार है । यमनियम प्रभृति अष्टांग योग द्वारा चित्त एकाग्र होता है । कालिदास इन अष्टांगों का उल्लेख सर्वत्र करते हैं । उनका कथन ही है कि मोक्षावस्था समाधि द्वारा ही प्राप्त होती है । समस्त नाटकों के नान्दीश्लोकों में मुक्ति की इच्छा की गई है तथा सर्वत्र समाधि की आवश्यकता स्वीकार की गई है ।[4]

सर्वप्रथम स्थूल पंचमहाभूत का साक्षात्कार होता है । तदनन्तर इन्द्रिय से लेकर प्रकृतितत्व का साक्षात्कार होता है और विवेकख्याति का त्यागरूप वैराग्य होता है तथा योगी मुक्त हो जाता है , यह क्रमिक साक्षात्कार उनके लिए है जिन्होंने योग का अभ्यास किया है । किन्तु यदि किसी सिद्ध महात्मा की कृपा प्राप्त हो तो अक्रमिक साक्षात्कार होता है किंतु तत्वसाक्षात्कार ही मुक्ति का एकमात्र उपाय है । कवि भी इस प्रकार की उक्ति प्रस्तुत करते हैं किंतु प्रसंग स्वर्गारोहण का है । पुरुषोत्तम

१- पंचविंशतितत्वज्ञः यत्र तत्राश्रमे रतः ।
जटीमुण्डीशिखि वाऽपि मुच्यते नाऽत्र संशयः ॥
२- रघु० ४-६०
३- तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तविज्ञानात् । सां० का० २
४- अभि० १-१ , विक्रम० १-१ , मालविका० १-१

राम जिसकाल में स्वर्गारोहणार्थ गए , उस वेला में अपने भक्तगणों के लिए साक्षात् स्वर्ग के लिए सरयू ने मानों सोपान बना दिया अर्थात् जो सरयू में स्नान करता है वह शीघ्र ही स्वर्ग गमन करता था , कवि ने इस प्रकार की कल्पना की है ।[1] अर्थात् महापुरुष के संग से भी कोई व्यक्ति ज्ञान निष्पादन न कर सकने में भी समर्थ होता है । जिस प्रकार महायोगी दत्तात्रेय के संग से नृपेश अलर्क ने विवेक प्राप्त किया था । जिन व्यक्तियों में ज्ञान अपने उत्कर्ष पर पहुंच गया है ऐसे व्यक्तियों के संग से भी तत्वज्ञान हो जाता है , सांख्यसूत्र में भी इसी प्रकार कथन है ।[2]

१-रघु० १५-१००
२-लब्धातिशययोगाद्वा तद्वत् । सां० सू०

चतुर्थ सोपान

मीमांसा दर्शन एवं कालिदास

धर्म -- यज्ञ, अध्ययन, दान, कर्म - नित्य कर्म, नैमित्तिक कर्म, काम्य कर्म, निषिद्ध कर्म, प्रायश्चित कर्म, संस्कार, विधिप्रकरण, शब्द नित्यत्व, शक्ति और अपूर्व, निःश्रेयस, क्या मीमांसा दर्शन अनीश्वरवादी है ?

मीमांसा दर्शन एवं कालिदास

मीमांसा शब्द का अर्थ "विचार" है । ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय वाङ्मय में सर्वप्रथम सिद्धान्त रूप में तर्क का उपयोग यागसम्पादनविधि के विषय में किया गया । वैदिक साहित्य के मंत्रभाग में "मीमांसते" शब्द का प्रयोग मिलता है । ब्राह्मण ग्रन्थों में विभिन्न स्थलों में यागक्रियाविषयक विचार-विमर्श के अर्थ में मीमांसा शब्द का प्रयोग मिलता है । ब्राह्मण ग्रंथ मंत्रों की यागपरक व्याख्या है । याग विधान का उदय कब और कैसे हुआ ? यह कहना कठिन है किन्तु ब्राह्मण ग्रंथों में यागसम्पादन विधियों का ही सविस्तार विवेचन प्राप्त होता है । मीमांसा ने प्राचीन गण्यमान दार्शनिकों के ग्रन्थ आज प्राप्त नहीं तथापि उन्हें द्वारा अन्विष्ट सिद्धान्तों का प्रभाव मीमांसा दर्शन के मूलभूत प्राप्त ग्रन्थ मीमांसा सूत्र पर महनीय रूप से है , इसे ही जैमिनीय सूत्र कहा गया है । मीमांसा का मुख्य उद्देश्य वैदिक कर्मकाण्ड की पुष्टि करना है ।

कालिदास संभवतः ऐसे युग के आरम्भ में आविर्भूत हुए थे, जब जनतागणों को ब्राह्मण सिद्धान्त के देव-देवियों पर अटूट श्रद्धा थी तथा वैदिक यज्ञ-

याग की वेदी पर पौराणिक पूजा अर्चा ने अपना स्थान निर्धारण कर लिया था। कवि प्रायशः विभिन्न यज्ञों, स्पष्टतः जैमिनि ऋषि का नाम तथा अन्य कर्मकाण्ड (विधि, क्रिया) का बारम्बार उल्लेख करते हैं। इन्हीं यज्ञयागों के सम्पादन पर मीमांसक बल देते हैं। मल्लिनाथ[1] के कथन से ज्ञात होता है कि वे निश्चयतः उत्तरकालीन नीतिवादियों के सम्प्रदाय के अनुगामी हैं, जिन्होंने ब्रह्मवाद को जन्म दिया तथा जिनके सिद्धान्त नियमानुसार शंकराचार्यादि से निर्धारित हुए।

क्वचित् कालिदास ने मीमांसकों के "नित्यः शब्दार्थसंबन्धः" का भी अनुमोदन किया है।

मीमांसकों का प्रथम सिद्धान्त अथवा मान्यता धर्म के प्रति है। महर्षि तथा परमकरुणासागर भगवान् जैमिनि प्रणीत "जैमिनीय सूत्र" का प्रारम्भ ही धर्म से प्रारम्भ हुआ है।[2]

कालिदास भी अर्थ तथा काम की तुलना में धर्म को अधिक महत्व प्रदान करते है। कुमारसम्भव में ब्रह्मचारी एवं उमा के वार्तालाप में ब्रह्मचारी का कथन है-- "हे देवि आपके आचरण से मुझे यह ज्ञात हो गया है कि त्रिवर्ग का सार धर्म ही है, क्योंकि आप अर्थ एवं काम से विरक्त होकर केवल धर्म की सेवा कर रही हैं।"[3]

१- कर्मस्वर्गा ब्रह्मापवर्गयोरप्युपलक्षणे

२- तत्राथातो धर्मजिज्ञासा, इत्यारभ्यान्वाहार्थे च दर्शनात् चोदनालक्षणार्थो धर्मः श्रुति-प्रतिपादितो यागादिधर्मः। तत्र वेदेन प्रयोजनमुद्दिश्य विधीयमानोऽर्थो धर्मः। यथा यागादिः। आपदेव मीमांसान्यायप्रकाशः पृ० ३-४

३- अनेन धर्मः सविशेषमद्य मे त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भाविनि।
त्वया मनोनिर्विषयार्थकामया यदेक एव प्रतिगृह्य सेव्यते ॥

कुमार० ५-३८

इस प्रकार कविताकामिनी के कमनीय कान्त कालिदास ने धर्म के प्रति सर्वत्र अपनी आस्था प्रकट की है , किन्तु उन्हें धर्म किस रूप में अभीष्ट था तथा कुशल-चितेरे ने अपनी तूलिका द्वारा इस चित्र को किन रंगों से आपूरित किया उसका विशद विवेचन उल्लेखनीय है ।

गीता में आध्यात्मिक जीवन के परिपोष के निमित्त यज्ञ , दान तथा तप साधन बताए गए है और उपनिषदों में धर्म के तीन स्कन्ध प्रतिपादित हैं -- यज्ञ, अध्ययन एवं दान । तदतिरिक्त तप की महिमा से भारतीय धार्मिक साहित्य ओत-प्रोत है । कालिदास ने इन स्कन्धों का विवेचन यत्र-तत्र अतीव मनोरम भाषा में प्रस्फुटित किया है ।.

कालिदास ने यज्ञ की महिमा का बारम्बार निरूपण किया है ।[1] पुरोहित यज्ञ के रहस्यों का ज्ञाता होता है , इसका उल्लेख भी करते हैं । रघुवंश में राजर्षि दिलीप के मुख से कहलाते हैं --" हे महात्मन् । यज्ञाग्नि में विधिवत् डाली गई आहुतियों से वर्षा होती है , जिससे शस्यों को नवजीवन प्राप्त होता है ।[2]

नरराज एवं देवराज -- दोनों का कार्य परस्पर सहयोग से मानवों की रक्षा करना है । नरराज पृथ्वी को दूहकर - उससे सुन्दर वस्तुएं प्राप्त कर यज्ञ सम्पादित करता है तथा देवराज इसके स्थान पर शस्य उत्पत्ति के लिए आकाश को

१- रघु० १-२६, ४४, ८-३०
   कुमार० १-१७, २-४६, ६-७२

२- हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु ।
   वृष्टिर्भवति शस्यानामवग्रहविशोषिणाम् ॥ रघु० १०-६२

दुहकर पुष्कल वृष्टि करता है ।[1] इस प्रकार ये दोनों अपनी सम्पत्तियों का विनिमय कर उभयलोक का कल्याण करते हैं ।

यज्ञपूत जल के द्वारा अनेक अलौकिक पदार्थों की सिद्धि विश्वकवि को स्वीकृत थी । दानवीर रघु जिन्होंने समस्त स्वर्ण तथा रजतादि पात्रों को दानकर दिया था , उन्होंने महर्षि कौत्स के आगमन पर मृत्तिका पात्र से उनका सत्कार किया । उसी कौत्स की याचना पूर्ण करने के लिए जिस रथ पर आसीन होते हैं , उसे वशिष्ठ जी ने मंत्रपूत जल से अभिमन्त्रित कर दिया था तथा उसी कारण उस स्यन्दन में आकाश नदी , पर्वत , समस्त विकट एवं विषम मार्गों पर भलीप्रकार चलने की क्षमता आ गई ।[2]

यज्ञ संक्षिप्त एवं लघु भी हुआ करते थे । उस प्रकार का यज्ञ , जिसमें पुरोहित यज्ञीयसत्र तक बैठते थे , "दीर्घसत्र" संज्ञा से अलंकृत था ।[3] भागवतपुराण के काल्पनिक सिद्धान्तानुसार सत्र सम्पादित करने की कार्यावधि एक वर्ष से लेकर एक सहस्रपर्यन्त है ।[4]

प्राचीन कवियों ने "अध्वर"[5] को इसप्रकार का यज्ञ स्वीकार किया , जिसमें हिंसा नहीं हुआ करती थी । कालिदास ने मागधी सुदक्षिणा की उपमा अध्वर

१- दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम् ।
संपद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम् ॥ रघु० १-२६

२- वशिष्ठमन्त्रोक्षणजात्प्रभावादुदन्वदाकाशमहीधरेषु ।
मरुत्सखस्येव बलाहकस्य गतिर्विजघ्ने न हि तद्रथस्य ॥ रघु० ५-२७

३- हविषे दीर्घसत्रस्य सा चेदानीं प्रचेतसः । रघु० १-८० तथा १७-८०

४- भा० पु० १-१-४

५- पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा । रघु० १-३१ तथा ५-१ , ६-२३ , ११-१ , १६-३५

की दक्षिणा से दी है । रघु के प्रसंग में विश्वजित् अध्वर का उल्लेख मिलता है ।[१] इन्दुमती स्वयंवर में पुरुषों के समान प्रगल्भा सुनन्दा मगध नरेश के यशोगान के वर्णन में कहती है -- "सहस्र यज्ञों को सम्पादन करने वाले नरेश ने इन्द्र को बुलाया , फलस्वरूप इन्द्राणी की मुख मुद्रा मलिन हो गई ।"[२] किन्तु संभवतः कालिदास यज्ञों में हिंसा स्वीकार करते थे , क्योंकि उनके उल्लेख में पशुबलि का उल्लेख प्रायः दृष्टिगत होता है ।[३] मेध्य[४] वस्तुतः प्रारम्भ काल में उस वस्तु के लिए प्रयुक्त होता था , जो बलिरूप में चढ़ाई जाती थी । बलिपशु एक स्तम्भ से बांधा जाता था , जिसकी संज्ञा"यूप[४] थी । पशु को इसप्रकार स्तम्भ से बांधने की क्रिया भी यज्ञ का एक संस्कार थी ।[५] श्रोत्रिय ब्राह्मणों को दिए गए ग्रामों का वर्णन करते हैं जिनमें यूपों का आधिक्य था ।[६] इसी प्रकार अयोध्यादेवी के मुख से अयोध्यानगरी की दुर्दशा सुन कुश सरयू के कूल पर पहुंचे जहां उन्हें बड़े-बड़े - यज्ञ करनेवाले रघुवंशियों द्वारा सम्पादित अनेक यज्ञों के यूप दृष्टिगत हुए ।"[७] इन्दुमती स्वयंवर के प्रसंग में ही अनूप नृप के

१- तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशं -- रघु० ५-१
२- क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणामजस्रमाहूतसहस्रनेत्रः । रघु० ५-२३
३- सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्
पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः । अभि० ६-१ तथा रघु० ११-३७ , ६-३८ ,९-३० , १३-६१,१६-३५
४- जलानि या तीरनिखातयूपा वहत्ययोध्यामनु राजधानीम् । रघु० १३-६१
५- रघु० ११-३७
६- रघु० १-४४
७- वेदिप्रतिष्ठान्विततताध्वराणां यूपानपश्यच्छतशो रघूणाम् । रघु० १६-३५ तथा रघु० ६-३८ , १६, १८

वंशज कार्तवीर्य योगी का उल्लेख मिलता है । जिन्होंने अष्टादश द्वीपों में यूप निखात किए थे ।[1] यूपों का उल्लेख अन्यत्र भी कवि की रचनाओं में सर्वत्र प्राप्त होता है ।[2] यज्ञ के आरम्भ में यजमान का धार्मिक संस्कार होता था[3] जिसे "दीक्षा"[4] पद द्वारा बुलाया जाता था उस समय शिव उसके शरीर में प्रविष्ट हो उसे स्वानुरूप पवित्र बना देता था ।[5] यज्ञभूमि का घेरा यज्ञशरण[6] कहा जाता था तथा यजमान उसमें प्रविष्ट होने के पश्चात् उसे नहीं छोड़ता था ।[7] महिषी इन्दुमती के अकस्मात् निधन पर वशिष्ठ जी जीवन की क्षणभंगुरता पर सन्देश प्रेषित करते है , स्वयं नहीं जाते । उनके शिष्य का कथन है कि "वसिष्ठ मुनि का यज्ञ समाप्त नहीं हुआ है , अतः वे स्वयं आपको धीरज पहुंचाने नहीं आ सकते ।"[8]

"अवभृथ"[9] नामक अन्य संस्कार के द्वारा यज्ञ की समाप्ति सूचित होती है । इसका सम्बन्ध सम्भवतः यज्ञ के स्नान के जल से है , क्योंकि सरयू नदी के माहात्म्य के कारण को कवि इस प्रकार लिखते हैं "यह नदी इक्ष्वाकुवंशी नृपों की राजधानी से लगी है इसके तट पर यूप है तथा अश्वमेध करने के अनन्तर सूर्यवंशी

१- ...... अष्टादशद्वीपनिखातयूपः। रघु० ६-३८
२- रघु० १३-६१ , ११-३७
३- रघु० ६-२८, ८-७५, १५-४४ कुमार० ८-२१
४- रघु० ८-७५
५- रघु० ९-२१-
६- .... राजयज्ञदीक्षितेन मया .... प्रार्थितः । मालविका० पृ० ३५२-३५३
७- रघु० ८-७६
८- रघु० ८-७६
९- .... मेध्येनावभृथादपि । रघु० १-४४ तथा रघु० ९-८३ , १६-६१

नृपों ने इसमें स्नान किया , उससे इसका जल पवित्र हो गया ।[1]

इसी प्रकार नन्दिनी के दुग्ध की उपमा यज्ञ के स्नान के जल से दी गई है । यहां भी कवि ने "अवभृथ" पद का प्रयोग करता है । "एकदीक्षिसूत्र" के समाप्त होने पर यह षोडश स्थानापन्न पुरोहित के द्वारा किया जाता था , तथा इसमें मुख्यतः सामग्रियों , यज्ञ के पात्रों और मुख्य यज्ञ के शेष सामग्रियों के वरुण देवता की आहुतियों के पश्चात् नदी में प्रवाहित करने के लिए एकत्रित करना तथा अन्तिम बार शरीर प्रक्षालन विहित था ।[2] कवि अश्वमेघ[3] यज्ञ का उल्लेख प्रायशः करते हैं । रघुवंशम् के तृतीय सर्ग में "अश्वमेघ" यज्ञ की महिमा का व्याख्यान है । अश्वमेघ यज्ञ स्वर्ग की कामना से किया जाता था तथा इन्द्र देवता को उद्देश्य कर ही द्रव्य त्याग किया जाता था । इन्द्र के समान प्रभावशाली दिलीप ने नव-नवति अश्वमेघ यज्ञ सम्पादित करन के पश्चात् शतक्रतु के लिए जिस अश्व को छोड़ा , उसे इन्द्र ने भयवश चुरा लिया , क्योंकि "शतक्रतु" का सम्मान अद्यपि इन्द्र को ही प्राप्त है । इन नवनवति अश्वमेघ द्वारा दिलीप ने मानों स्वर्ग जाने की निन्यानवें सोपानें निर्मित कर लीं , ऐसा कवि का कथन है ।[4] पुरुषोत्तम राम द्वारा सम्पादित अश्वमेघ यज्ञ में पत्नी सीता की स्वर्णमूर्ति की प्रतिकृति को ही अपने अर्धांग में अवस्थित

१- तुरंगमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि । रघु० १३-६१
२- दीक्षान्तोऽवभृथो यज्ञः अमरकोश
३- रघु० ३-३८ , ३९ , १४-८६
४- रघु० ३-३८ , ३९

किया , यह भी संकेत मिलता है ।[1] मालविकाग्निमित्रम् में भी इस यज्ञ का उल्लेख मिलता है ।[2] इन यज्ञों में निरुद्ध पशुबन्ध और पर्यग्निकरण में पशुबलि दी जाती थी , किन्तु सामान्यतः इसे अच्छा नहीं माना जाता था ।

अश्वमेध तथा दीर्घसत्र के अतिरिक्त कालिदास विश्वजित्[3] तथा पुत्रेष्टि[4] यज्ञ नामक अन्य दो प्रकार के यज्ञों का उल्लेख करते हैं । इनमें से प्रथम दिग्विजय के पश्चात् किया जाता था तथा उसकी संज्ञा महाक्रतु भी थी ।[5] यह विजय के अन्य यज्ञों से भिन्न इस विषय में था कि यजमान अपना समस्त कोष दान कर देता था ।[6] दयावीर तथा दानवीर रघु के विश्वजित् यज्ञ तदनन्तर समस्त कोषों का दान फलस्वरूप कौत्स मुनि की याचना पर कुबेर पर आक्रमण का विचार इसी विचार का परिचायक है ।

पुत्र की कामना करने वाला पुत्रेष्टि यज्ञ करता था । नृपेश दशरथ के पुत्राभाव को देखकर ऋष्यशृंग आदि जितेन्द्रिय और यज्ञ करनेवाले ऋषियों ने उनके लिए पुत्रेष्टि यज्ञ प्रारम्भ किया कवि ने यह उल्लेख किया है ।[7] पुत्र की कामना करने वाले दिलीप की गो सेवा पुत्रेष्टि यज्ञ के तुल्य ही थी ।[8]

१- रघु० १४-८७
२- येऽसौ राजयज्ञदीक्षितेन...... यवनेन प्रार्थितः । पृ० ३५२
३- तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशं । रघु० ५-१
४- .... संतानकाङ्क्षिणः ,
आरेभिरे जितात्मनः पुत्रीयमिष्टमृत्विजः । रघु० १०-४
५- रघु० १-३१
६- रघु० ५-१
७- रघु० १०-४
८- रघु० प्रथमः सर्गः

यज्ञ के अन्त में यज्ञ शुल्क दक्षिणा[१] यज्ञकर्ता पुरोहितों को देना आवश्यक था । यज्ञकर्ता पुरोहितों की संख्या षोडश थी । उसमें प्रथम दो होता[२] एवं ऋत्विक्[३] का उल्लेख कवि ने किया है । होता यजमान की संज्ञा रूप में भी प्रयुक्त होता था तथा ऋत्विज् पुरोहित था । षोडश ऋत्विजों की दक्षिणा भी अवश्यमेव प्रचुर थी । रघु के प्रसंग में विश्वजित् यज्ञानुष्ठानोपरान्त उसका कोष पूर्णतया रिक्त हो गया है तथा उसे सुवर्णपात्रों के स्थान पर मृत्तिका पात्रों का प्रयोग करना पड़ा था , इस प्रकार के संकेत प्राप्त होते हैं ।[४]

यज्ञ में जो वस्तु प्रदत्त होती थी उसे मेध्य की संज्ञा प्राप्त थी ।[५] यह पशु अथवा हवि[६], स्वधा[७] अथवा पयश्चरु[८] हो सकता था । हवि को ग्रहण करने के कारण ही यज्ञाग्नि हविर्भुज[९] कहलाती थी । सामान्यतः यज्ञ बलि इन्द्र के लिए होते थे अतः वह "मखांशभज" पदेन अभिहित था ।[१०] विकंकत काष्ठ निर्मित[११], स्रुवा[१२]

१- रघु० १-३१ , १७-८०
२- होतुराहुतिसाधनम् रघु० १-८२
३- ऋत्विजः कुलपतेः रघु० १७-८०, ११-३० , ११-२५
४- रघु० ५-२
५- मेध्येनाभृथादपि रघु० १-८४
६- त्वमेवहव्यं होता च कुमार० २-१५
रघु० १२-२७ , १-७९
७- ऋषिदेवगणस्वधाभुजां कुमार० ८-३०
८- दोभ्यमादधानः पयश्चरुम् रघु० १०-५१
९- हविषेव हविर्भुजाम् रघु० १०-७९
१०- मखांशभाजां रघु० ३-४४
११- व्युतविंकतस्त्रुवाम् रघु० ११-२५
१२- वही ।

और अरणि[१] से क्रमशः आहुतियां दी जाती[२] तथा अग्नि जागृत की जाती थी । कुश अर्थात् तीक्ष्ण तृणों का प्रयोग भी यज्ञों में होता था ।[३] यज्ञकाल में यजमान एक दण्ड[४] धारण करता था तथा अजिन अर्थात् मृगचर्म पर आसीन होता था ।[५]

यज्ञ का चबूतरा वेदी की संज्ञा से प्रसिद्ध था ।[६] यज्ञों में असंख्य पशुओं के वध की प्रतिक्रिया कुछ व्यक्तियों के मस्तिष्कों पर देखी गई[७], क्योंकि पशु की हिंसा से मुक्त नेत्रों को रुचनेवाले एक यज्ञ का उल्लेख मिलता है । "मालविकाग्निमित्रम्" में कवि का कथन है -- "देवताओं को यज्ञ प्रिय होता है , उसके नेत्रों को तृप्त करनेवला परमप्रिय इस नाट्यकला का अभिनय है ।

हिंसारहित यज्ञ संभवतः जीवन के प्रति सम्मान प्रदर्शित करनेवाले बौद्ध धर्म के प्रभाव में आकर वर्णित हुआ है , क्योंकि तत्कालीन स्थितिकाल के आधार पर यह कहना असम्भव नहीं कि इन विचारों को जागृत करने में बौद्ध धर्म का पर्याप्त हाथ होगा । इसके अतिरिक्त निर्जन चैत्य द्वारा भी यही संकेतित होता है ।[८]

यज्ञ बलि प्रायः देवताओं के लिए होते थे , अर्थात् वैदिक काल में जो यज्ञ किए जाते थे , वे अग्नि , इंद्र , वरुण , सूर्य आदि देवताओं की

१- यजमान इवारणिम् कुमार० ६-२८
२- होतुराहुतिसाधनम् रघु० १-८२
३- वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः रघु० १-४९
४- अजिनदण्डभृतं रघु० ९-२९
५- रघु० ९-२९
६- . . . . .सवनकर्मणि संप्रवृत्ते वेदीं । अभि० ३-२५
७- शान्तं क्रतुं चाक्षुषं । मालविका० ३-२५
८- आकुलग्रामचैत्याः पू० मे० २५

स्तुति और आहुति के द्वारा सन्तुष्ट करने के लिए जिससे वे इष्ट का साधन या अनिष्ट निवारण करें । देवता मात्र संप्रदाय कारक सूचक पद मात्र हैं,[१] जिनके लिए हवि या आहुति दी जाती है । उनकी उपयोगिता मात्र इसलिए है कि उनके नाम पर होम किया जाता है ।

देवता के लिए कवि ने देव[२] तथा दिवौकस[३] का प्रयोग किया है । इन देवताओं में इन्द्र[४], अग्नि[५], वरुण[६] सूर्य[७], यम[८], त्वष्ट्रा[९], द्यावापृथिवी[१०], रुद्र[११] प्रमुख है । प्रकृति की दिव्य शक्तियों का प्रभाव प्रायः समाप्त था । विष्णु सूर्य की कला न रहकर पृथ्वी का सर्वशक्तिमान् देवता बन गए, जिनके राम तथा कृष्ण अवतार रूप में नवीन देवता की योजना हुई । ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव का एकरूप, कुबेर, स्कन्द, शेष, जयन्त, मदन, लांगली, लोकपाल (पूर्ववत्) का उल्लेख, ब्रह्मा के लिए स्वयंभू? चतुरानन, वागीश का प्रयोग कवि ने किया है ।

१- "देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो यागः "
२- कुमार० ७-३८
३- कुमार० २-१
४- रघु० २-४२, ३-२३, ३८, ३९, ४२,४४, ४६, ५३, ६२, ६४ ४-३, ९-२४
   कुमार० २-२०
५- रघु० ५-२५, १०-५०
६- रघु० २-४२ , ३-२३, ३८, ३९, ४२, ९-६
७- कुमार० ८-४२, ४२, ४३, ४४, ४५
८- रघु० २-६२, ९-६
९- कुमार० ७-४१ , रघु० ६-३२
१०- रघु० १०-५४
११- रघु० २-५४ कुमार० २-२६

विष्णु के लिए हरि , पुरुषोत्तम , त्रिविक्रम , पुण्डरीकाक्ष , परमेष्ठिन् , अच्युत , चक्रधर , कृष्ण ,नारायण कहा जाता है । शिव के लिए ईश , ईश्वर , महेश्वर , परमेश्वर , अष्टमूर्ति , वृषभध्वज , शूलपाणि नीललोहित , विश्वेश्वर , शम्भु , हर , गिरीश , पिनाकी प्रभृति विशेषण है । इन्द्रपत्नी शची , सरस्वती , पृथ्वी , तथा पौराणिक में पार्वती , लक्ष्मी तथा सप्तम्विकाएं चर्चित हैं ।[1]

धर्म के द्वितीय स्कन्ध अध्ययन को भी कवि ने अपनी सरल वैदर्भी , प्रसाद एवं ओज माधुर्य शैली में स्वरचनाओं में नगवत् पिरोया है । शिक्षक , विद्यार्थी जीवन , शिक्षा के केन्द्र , तपोवन के जीवन , शास्त्र एवं अन्य साहित्य के सम्बन्ध में प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष रूप से विस्तार से लिखा है । उन्होंने अध्ययन के विषयों को "विद्या" शब्द से उल्लेख किया है तथा चतुर्विध विद्या[२] तथा कदाचित् विद्यात्रय को संकेत किया है ।[४] अन्यत्र चतुर्दश विद्याओं का उल्लेख मिलता है ।[५] चार प्रकार की विद्याओं अथवा अध्ययन के विषयों में कालिदास एक नागरिक के लिए वार्ता तथा

१- रघु० ५-३६ , कुमार० २-३,४ से १५
   रघु० ३-४९ , ४-२७ , ६-४९ , ७-३५, १०-९ ,
   पू० मे० १५ , उ० मे० ३०
   रघु० १-१ , २-३५ , ११-१३, १८-२४
   अभि० १-१, विक्रम० १-१, मालविका० १-१ पू० मे० ७
   रघु० ४-६ , ६-३९, १०-५४ , पू० मे० ५३ आदि
२- रघु० १-८ , ३३, ८८, ३-३० , ५-२०, २१, २२, १०-७१
३- रघु० ३-३०
४- रघु० १८-५०
५- रघु० ५-२१

दण्डनीति का उल्लेख करते हैं ।[1] आन्वीक्षिकी में तर्कशास्त्र , दर्शन और अध्यात्म विद्या जैसे विषय थे । श्रुति या ऋक् , यजुष् , सामन् और अथर्व का अन्तर्दृष्टि साहित्य , ब्राह्मण , आरण्यक तथा उपनिषद् , वेदांग या छन्द, मन्त्र , निरुक्त , ज्योतिष , व्याकरण और शिक्षा , उपवेद (धनुर्वेद , आयुर्वेद) सभी त्रयी में संयुक्त थे ।[2] शास्त्र या मनुस्मृति के समान धर्मशास्त्र , स्मृति,रामायण , महाभारत , महाकाव्य , इतिहास , पुराण आदि का समुचित उल्लेख प्राप्त है ।[3] दण्डनीति या शासन कला राजा के लिए आवश्यक है ।[4] याज्ञवल्क्य तथा मनुस्मृति के चतुर्दश विद्याओं का वर्णन भी प्राप्त है ।[5] कालिदास विशेष प्रकार से जिन शिक्षाओं के अध्ययन का उल्लेख करते हैं वे हैं ---- श्रुति , ऋक् , यजुष् , सामन् , अथर्व , वेदांग और श्रुतियों की भावानुसारिणी स्मृतियां ।[6] शास्त्र शब्द में स्मृतियों का भी संकेत है । व्याकरण का भी प्रायशः वर्णन मिलता है ।[7] संगीत एवं नृत्य नाटक अन्य मुख्य विषय

१- रघु० १६-२, १८-४६
२- रघु० २-२ , ३-२१ , ५-२, २२ , २३, २४, १५-३५
३- रघु० १-१९ , १५-३३। ६३, ६४ पू० मे० ४८
"इतिहासनिबन्धेषु" अभि०
४- रघु० १८-४६
५- अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तार
पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताचतुर्दशः । मनु०
पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांगमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य चचतुर्दश ॥ याज्ञ० स्मृ०
६- रघु० २-३, ३-२१, ५-२, २२, २३, २४, ८-४१ १-५९, १५-३३
श्रुतिरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् रघु० २-२
७- धातोः स्थान इवादेशम् रघु० १३-५८

थे , जिनमें अधिकांशतः स्त्रियां , विशेषकर वेश्याएं प्रवीणता प्राप्त करती थीं ।[1] अज पत्नी को ललित कलाओं की शिक्षा देना तथा अग्निमित्र द्वारा ललित कलाओं के शिक्षालय संचालन का उल्लेख भी प्राप्त होता है । चित्रकला भी उसी प्रकार वैद्यालयिक अध्ययन की वस्तु थी । इसके अतिरिक्त स्थापत्य , भास्कर्य , मृण्मूर्तिकला की चर्चा भी प्राप्त होती है । विद्यार्थियों में शारीरिक बल का होना आवश्यक था क्योंकि उन्हें अस्त्र शस्त्र की शिक्षा दी जाती थी । ये शस्त्र-अस्त्र मन्त्रशक्ति से कभी-कभी रहस्यमय दैवीय प्रभाव से मुक्त हो जाते थे । ऐन्द्रजालिक कलाओं का भी उल्लेख है यथा अपराजिता , तिरस्करिणी विद्या ।[2] उपर्युक्त पाठ्यविषयों का उल्लेख कवि ने अपने ग्रन्थों में किया है , जिसका सांगोपांग अध्ययन विद्यार्थी में पूर्ण अनुशासन की भावना भर देता है । विद्यार्थी जब अपने गुरु से दीक्षा ग्रहण करता है , उसी काल में उसके विद्यार्थी जीवन का समावेश हो जाता है । उसकी संज्ञा शिष्य अथवा वर्णी होती है ।[3] विद्यार्थी को अध्ययन काल की समाप्ति तक ब्रह्मचर्यपालन करना पड़ता था तथा सम्मानार्थ गुरु के चरणों का स्पर्श किया जाता था ।[4] शिष्य गुरु के आश्रमों में ही निवास करता था तथा मृगचर्म धारण कर कुश की चटाई पर शयन करता था । कवि के शब्दों में वसिष्ठ , कण्व , मरीचि अपने-अपने गुरुकुल के आदर्श कुलपति थे तथा कौत्स आदर्श शिष्य था । पवित्रता एवं वात्सल्यपूर्ण वातावरण में विद्यार्थी अपने अध्ययन क्रम का अनुसरण करते थे तथा वैदिक शिक्षा और शिक्षा के आचार्य

१-रघु० १९-३५
२- अपराजिता नाम विक्रम० पृ० २३८
३- रघु० ५-१, ११, १८, १५-७४
४- रघु० १-५७

उसमें आर्य संस्कृति के रहस्य सन्निविष्ट कर देते थे । आश्रम में निवास कर विद्यार्थी वेदों का अध्ययन समाप्त करता था । जब वह चतुर्दश विद्याओं की शिक्षा का अध्ययन पूर्ण कर लेता था, तब उसे गृह लौटने की अनुमति मिलती थी ।[1] इसके पश्चात् ही वह विवाह सम्पादित कर गृहस्थ जीवन व्यतीत कर सकता था । अतएव निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि द्विज के लिए अध्ययन काल षोडश से चतुर्विंश वर्ष तक होता था । संभवतः विद्यार्थी मन्द तथा मेधावी दोनों प्रकार के होते थे । पूर्वजन्म के संस्कार ही शिष्य के मन्द या मेधावी होने के कारण थे ।[2] जब विद्यार्थी अपना अध्ययन पूर्ण कर लेता था और विवाहित हो जाता था तो उसे स्नातक कहा जाता था ।[3] कालिदास स्नातकों का उल्लेख विवाह तथा राज्याभिषेक के अवसर पर दानग्रहण करते हुए दिखाते हैं ।

वस्तुतः अध्ययन का यशोगान कवि ने अतिविशद रूप से किया है, जिसकी साम्यता मीमांसा के प्रथमसूत्र की "अथातो" पद की व्याख्या से पूर्णतया एकभाव रखती है ।[4]

दान के गौरवगान में कवि की भारती कदापि श्रान्त नहीं होती समाज आदान प्रदान की भित्ति पर ही अवलम्बित है । बृहदारण्यकोपनिषद् में कथन

१- विक्रम० पंचमोऽङ्कः २४४
२- मन्दमेधाः मालविका०
३- उदारधीः रघु० ३-३०
रघु० ७-२८, १७-१७
४- यतोऽध्ययनस्यार्थज्ञानं फलमतो गुरुकुलस्थितिपूर्वक वेदाध्ययनान्तरं धर्मविचारः कर्त्तव्य इति सूत्रार्थः । स० द० सं० मीमांसा दर्शन अध्याय

है कि दैवी वाक् मेघ गर्जन के रूप में सर्वदा "दान" को पुकारती हैं ।

कालिदास ने रघुवंश के पंचम सर्ग में दान का अतीव उज्ज्वल दृष्टान्त प्रस्तुत किया है । विश्वजित् यज्ञ में समस्त धनसम्पदा दान कर मात्र मृत्तिकापात्र के अधिकारी परमदानी रघु के समीप वरतन्तु के शिष्य कौत्स आकर गुरुदक्षिणा के लिए चतुर्दश कोटि स्वर्ण मुद्राओं की याचना करते हैं । रघु अलकापुरी पर आक्रमण कर यक्षराज धनेश से धनप्राप्ति का उद्योग करते है तथा रात्रि में उनके कोष में सुवर्ण की वृष्टि होती है । नृप रघु का आग्रह है कि शिष्य कौत्स समस्त धन को स्वीकार करें , किन्तु कौत्स अभीप्सित धनसम्पदा के अतिरिक्त सुवर्णअस्वीकार कर रहे हैं । दाता एवं ग्रहीता का यह आग्रह संस्कृत किं वा सम्पूर्ण विश्व साहित्य का सर्वोत्तम दृश्य है , जिसकी प्राप्ति अन्यत्र दुर्लभ है । कुमारसम्भव के पंचम सर्ग में भी दान का महत्त्व वर्णित है । छद्मवेष में शिव पार्वती के प्रेम की परीक्षा के लिए ब्रह्मचारी वेषधारी बनकर अपने तप का अर्धांश उन्हें दान रूप में प्रस्तुत करने का विचार प्रकट करते हैं ।

तप भारतीय संस्कृति का मूलमन्त्र है । इसकी आराधना से मनुष्य अपनी समस्त कामनाओं की ही पूर्ति नहीं करता , प्रत्युत परोपकार के यथावत् योग्यता भी अर्जित करता है । तप की महिमा से हमारा संस्कृत साहित्य आपूरित है । कालिदास ने इसका महत्त्व अत्यन्त भव्य शब्दों में अभिव्यक्त किया है । उमा का तप तो वस्तुतः तप की पराकाष्ठा है । मदन-दहन के अनन्तर भग्नमनोरथा पार्वती ने तप को ही अपना अवलम्बन बनाया तथा जगत् की समस्त आशाएं छोड़कर वे उसकी सिद्धि में लीन हो गई । उनकी तपस्या की कठोरता के सम्मुख कठिन शरीर से

उपार्जित मुनियों की तपस्या नितान्त प्रभाहीन एवं प्रभावविहीन हो गई । प्रकृति के नाना प्रकार के विषम कष्ट सहन कर वे अपनी कामना सिद्धि में सफल होती है । कालिदास ने उमा के तप के रहस्य को विशेष रूप से प्रकट किया है । इस प्रकार तपस्वी अपने उद्देश्यों की सिद्धि के लिए तपश्चरण किया करते थे । तत्कालीन जन-साधारण की मान्यता थी कि तप के प्रभाव से भूत या भविष्य की प्रत्येक बात ज्ञात हो जाती थी । तपस्वी अपने शापों के द्वारा अपने अपराधियों को दण्ड दे सकते हैं किन्तु अन्य साधनों की विद्यमानता में दण्ड के लिए शाप का प्रयोग तपस्या के लिए हानिकारक समझा जाता था । तपश्चरण के इन उदाहरणों के होते हुए भी विचारशील व्यक्ति तप की कठोरता को कम करने के पक्ष में थे और उनका विचार था कि शरीर धर्म साधन में परम आवश्यक है , अतः इसको सुरक्षित रखना चाहिए ।[1] यथार्थतः एक उल्लेख में संकेत है कि शरीर , वाणी और विचार पर नैतिक नियन्त्रण रखना ही तीन प्रकार का तप है ।[2] तप का विशद विवेचन "योगदर्शन" एवं कालिदास" में उल्लिखित है ।

त्याग , तपस्या एवं तपोवन -- तकारत्रय कालिदास का सन्देश है । कवि की दृष्टि में प्रपंचग्रस्त जीव दया का पात्र है तथा तापस व्यक्ति उन सुख-लिप्स जीवों को उसी दृष्टि से देखता है , जिस प्रकार तैलमर्दन करनेवाले व्यक्ति को सद्यः स्नात व्यक्ति तथा अशुचि को शुचि ।[3] अतः त्याग एवं तपस्या के आश्रय से

१- शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् कुमार० ५-३३
२- रघु० १५-८१
३- अभि० ५-११

तपोवन में भी कवि पाठकों को प्रविष्ट कर तपोवन के महत्त्व को प्रगट करते हैं।

वन के एकान्त आश्रमों में ही निर्विघ्न तप का अभ्यास किया जाताथा, क्योंकि वहां समाज के कृत्रिम बन्धनों का विशेष रूप से अभाव था और कठोर नियमों तथा धार्मिक जीवन के विविध विधि विधानों का पालन होता था। अरण्य के शान्तिपूर्ण वातावरण में तपस्वियों की समाधि में प्रकृति स्वयं सहायक थी। इन तपोवनों के एकांत तथा शांत जीवन का सांगोपांग वर्णन कालिदास उपस्थित करते हैं।[1] शुकों की नीडों से गिरकर बिखरे तण्डुल, इगुंदी के फलों को तोड़ने के काम में आनेवाले तेलों से पत्थर के टुकड़े, स्वतंत्रता एवं प्रेम के अभ्यासी हरिण, वृक्ष की शाखाओं प सूखने के लिए फैलाए गए तपस्वियों के वल्कल से टपकती जल-बूंदें तथा वृक्षों के मूलों को धोनेवाली पानी से भरी संकीर्ण कृतिम नहरों से अनायास ही तपोवन का परिचय मिलता है।[2]

दिवस के अवसान काल में समिधा, कुश तथा फलफूल के लिए वन के दूसरे भागों से लौटे ऋषियों सेतपोवन पूर्ण हो जाता था।[3] पुष्प समिधा तथा कुश आहरण का कार्य कदाचित् ऋषिकुमारों को समर्पित था तथा स्नेह से पशु-पक्षियों की देख-रेख होती थी।[4] हरिणों को पुत्रवत्[5] माना गया

१- कुमार० ३-२४, ५-१७, रघु० २-१८, ११-१३
२- नीवाराः शुकगर्भकोटरः अभि० १-२८
३- रघु० १-४९
४- पुष्पसमित्कुशनिमित्तं ऋषिकुमारकैः विक्रम०
५- स मे पुत्रकृतको दीर्घापांगो नाम मृगः। अभि० चतुर्थोऽङ्कः २८२

था तथा कुछेक का नामकरण भी हुआ था ।[1] कुशक्षत हरिण को इंगुदी का तेल लगाया जाता था तथा मृग ऋषि पत्नियों के हाथ से ग्रास ग्रहण करने के लिए उटजों के द्वार पर पहुंचते थे ।[2] तपोवन में प्रायः मृग सामूहिक रूप से रहते थे तथा सूर्यास्त के पश्चात् वेदी के समीप बैठकर पागुर करते थे [3], नीवार एकत्रित कर उटजों के सम्मुख संचित किया जाता था[4] तथा आश्रम के वृक्षों को पुत्रवत् स्नेह प्राप्त था तथा उमा, सीता तथा शकुन्तला द्वारा लघु जलकुम्भों के जल द्वारा उनके सिंचन का उल्लेख प्राप्त होता है ।[5]

मुनि को उटज अथवा पर्णशाला में निवास करना पड़ताथा, जहां रात्रि में इंगुदी के तेल का दीपक जलताथा तथा आसन के लिए मृगचर्म या कुश की चटाई रहती थी ।[6] इस शान्त आश्रम में आवश्यक संयम साथ अतिथि प्रवेश कर सकते थे क्योंकि यह "धर्मारण्य" था ।[7] आत्मसंयम के अभ्यासी नम्रता के प्रतीक आश्रमवासी अतिथि का सम्मानपूर्वक स्वागत करते तथा आहुतियों के भार को वहन

--------------- ---------------

१- अभि० चतुर्थांक पृ० २८२
२- रघु० १-५०, १४-७९
३- रघु० १४-७९
४- रघु० २-३६ कुमार० ५-१४
५- तपस्विकन्यकाः सेचनघटैः अभि०
   रघु० १४-५८ कुमार० ५-१४
६- कुमार०५-१७
   रघु० १-५०, १४-८१। १९-२, १-९५
७- अभि० १-१४, २९
   विनीतवेषेण अभि०
   रघु० १-५५ , ५३

करता एकत्रित धूम नवागन्तुक को निष्पाप बना देता था । आश्रम में अतिथि का इसी प्रकार सत्कार होता था ।[1]

अपने संयमित जीवन (राम प्रधान) के लिए तपोवन प्रसिद्ध थे तथा उसका वातावरण एकान्त तथा शान्त था । हिंसा अप्रिय तथा अक्षम्य मानी गई थी तथा कठोर अनुशासन का पालन होता था । पुरुरवा के अल्पवयस पुत्र आयुष द्वारा गृध पर शरसन्धान के फलस्वरूप च्यवन ऋषि ने तत्काल आश्रम से बहिष्कृत कर दिया था ।[2]

कालिदास ने बहुसंख्यक प्राचीन तपोवनों का उल्लेख किया है ।[3] गंगा के तट पर फैले हुए अनेक तपोवनों का उल्लेख मिलता है । मुख्यतया वाल्मीकि, वसिष्ठ , कण्व (मालिनी सर) , च्यवन , अगस्त , शातकर्णी , शरभंग , मरीचि के नाम कवि ने अपनी रचनाओं में लिखे है ।

तापस जीवन एक आदर्श जीवन माना जाता है जो अपवर्ग प्राप्ति के लिए आवश्यक था और कालिदास ने अपने समस्त नृपेन्द्रों को संसार त्यागी बनाकर आरण्य की एकान्तता में रखते हैं । वही तपस्वी नृपगण आध्यात्मिक अभ्यासों के द्वारा जन्म से मुक्ति पाने का प्रयास करते है तथा कर्मों को ज्ञानाग्नि द्वारा भस्मसात् तथा योगाभ्यास द्वारा मुक्ति की प्राप्ति करते हैं ।[4]

१- रघु० १-५३, १४-८२
२- कुमार० ५-३१ , अभि० २-७
आश्रमविरुद्धवृत्तिना विक्रम० ५-१८
३- रघु० १४-२८, ७५-, ७२
रघु० १-३५, ४८ , १३--३६, ४८ , ४५
अभि० सप्तमोऽङ्कः , विक्रम० पंचमोऽङ्कः
४- अपवर्ग रघु० ८-१६ रघु० ८-२०

कालिदास ने अपने ग्रन्थों में तपस्वियों के अनेक भेद किए है ।[१] अन्य अनेक प्रकारों के अतिरिक्त कवि जिनका उल्लेख करता है वे जटिल , साधक और यति हैं ।[२] जटिल ऐसे मुनि थे जिनके सर पर जटाएं लटकती थीं ।[३] अनुष्ठान करने वाले और अपने लक्ष्य साध्य की प्राप्ति में लगे रहनेवाले साधक थे । यति ऐसे तपस्वी थे , मृत्यूपरान्त जिनके शव की दाह क्रिया नहीं की जाती थी , प्रत्युत वे पृथ्वी में गाड़ दिए जाते थे ।[४]

तपस्वियों के परिधान भिन्न-भिन्न थे ।[५] परिधान तपस्विनियां भी धारण करती थीं ।[६] शिव का परिधान गजचर्म था[७], यदि वस्त्र परिधान रूप में व्यवहार्य होता था तो उसे कषाय रंग से रंजित कर दिया जाता था ।[८] मुंज की रस्सी अथवा कुश की मेखला बनती थी , वह मौंजी कहलाती थी । अक्ष के बीज या रुद्राक्ष की माला को कर्णफूल , वलय , माला के समान धारण किया जाता था । अक्षमालिका के लिए शीशे की गोलियों का भी प्रयोग किया जाता था ।[९] अजिन और कुश आसन के लिए प्रयुक्त होता था तथा उसकी शय्या भी कुश अथवा खुली भूमि होती थी । कुछ तपस्वी ताड

१- रघु० ८-१७ , २५ , ८-७६
२- रघु० १३-७८ , ८-२५
३- रघु० १३-५७ अभि० ७-११
४-रघु० ८-२५, २६
५- रघु० १२-८ , १४-८२
६- अभि० १-१७ , २-१२, रघु० १४-८२ ऋतु० ५-८ १-४८
७- कृत्तिवासः कुमार० १-५४
८- इमे कषाय वस्त्रः मालवि का० पृ० ३५०
९- कुमार० ५-६३

तथा अन्य कमण्डल धारण करते थे ।[1]

जीवन की सफलता अथवा निःश्रेयस एवं अभ्युदय प्राप्ति के लिए अर्थ , धर्म एवं काम का सामंजस्य उपस्थित करना चाहिये इस त्रिवर्ग में धर्म ही सर्वोत्तम है । किन्तु अर्थ और काम अपनी स्वतन्त्रता तथा सत्ता बनाए रखने के लिए धर्म विरोध करते हैं । धर्म को दबाकर अर्थ अपनी प्रबलता चाहता है और धर्म को ध्वस्त कर काम भी प्रभावित करने का प्रयास करता है किंतु कवि भी गीता के वाक्य की सत्यता को ही प्रामाणित करता है ।[2]

मदन-दहन का भी यही रहस्य है । कन्दर्प पार्वती के सुन्दर मनोहर रूप का आश्रय प्राप्त कर समाधिनिरत शिव के हृदय पर आक्रमण करना चाहता है । जगत् के कल्याण , आत्यन्तिक मंगल की संज्ञा ही शिव है , काम अपना प्रभुत्व चाहता है । विश्वकल्याण पर अपना मोहन बाण छोड़ता है । शंकर स्वतृतीय नेत्र ज्ञाननेत्र खोलते हैं । वह प्रत्येक मनुष्य के भ्रूमध्य में सुप्तावस्था में स्थित है , किंतु वह किसी को ज्ञात नहीं । शंकर के इसी जाग्रत नेत्र की ज्ञानरूप ज्वाला में ही मदन-दहन सम्भव हो सकता है । धर्म का विरोधी कामभस्म की राशि बन जाता है । शंकर के वशीकरण के लिए उमा तप करती है । धर्मसिद्धि का प्रधान साधन तप है । शरीर एवं हृदय-स्थित दुर्वासना के ज्वलिताभाव में धार्मिक भावना जागरित नहीं होती । महाकवि कालिदास ने कामदहन द्वारा यही चिरन्तन तत्व प्रगट करने का प्रयास किया है । उमा

१- रघु० ८-१८ , ९-२१ , रघु० १-९५
   कुमार० ५-३० , १२
२- धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि भूतेषु भरतर्षभ । गी० ७-११

तप द्वारा अपना अभीष्ट प्राप्त करती है । कवि ने प्रेम एवं समाधि को एकत्र समन्वित कराने का प्रयास ही यहां किया है । इसका उद्देश्य मात्र प्राणिमात्र का परमपुरुषार्थ अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों को एकत्र करने में है। इस प्रकार कवि की दृष्टि में काम तथा धर्म के परस्पर संघर्ष में काम को पराभूत कर उसे धर्मानुकूल करना आवश्यक है । वेद में अनेक प्रकार के कर्मों की चर्चा हुई है । वेद की मान्यता को स्वीकार करते हुए मीमांसा बतलाता है कि किन कर्मों के पालन तथा किनका परित्याग करना चाहिए ।

(क) नित्य कर्म -- जिन्हें प्रत्येक दिवस व्यक्ति को करना पड़ता है तथा इनका उदाहरण दैनिक प्रार्थना , संध्या पूजनादि है । कालिदास ने पूजन कर्म का विशद उल्लेख अपनी रचनाओं में किया है । पूजन कर्म के अन्तर्गत सपर्या , विधि , क्रिया , अर्चना , बलि-कर्म , पूजा सभी समाविष्ट थे । पूजन सामग्री में कुश , दूर्वा , अक्षत , लाज पुष्पादि प्रयुक्त होते थे । मधु , घृतादि से निर्मित अर्घ्य देवताओं एवं अतिथि सेवा के लिए थे । प्रातःकाल तथा सायंकाल दो बार अर्घ्य दान दिया जाता था । अंजलि किया में तिल भी मिश्रित रहता था । शास्त्रानुसार ही पूजाविधि भी होती थी । इन कर्मों के करने में पुण्य संचय नहीं होता , किंतु न करने से पाप का उदय होता है ।[1]

(ख) नैमित्तिक कर्म जो विशेष अवसर पर किए जाते थे यथा चन्द्रग्रहण सूर्यग्रहण पर गंगास्नानादि । कालिदास नैमित्तिक कर्मों का भी उल्लेख करते हैं । इन्द्रधनुष के

१- रघु० ५-२२ , ७६ , १-५६ , ८-७६
कुमार० ७-५० , ५-७ , ६-५० , ६-५ आदि ।

सर्वप्रथम दृष्टिगत होने पर इन्द्र के सम्मान में पुरुहूत का उत्सव होता था, जिसे भाद्रपद के शुक्ल पक्ष की अष्टमी से द्वादशी पर्यन्त मनाया जाता था।[1] दूरवर्ती पति की मंगल कामना के लिए काकबलि दी जाती थी।[2] वसंतागमन पर प्रेम देवता कामदेव की प्रतिष्ठा में जिसकी पूजा आम्रमंजरियों से की जाती थी, ऋतूत्सव या वसंतोत्सव मनाया जाता था। मोदक वितरण इस उत्सव की विशेषता थी।[3] पूर्णिमा के दिवस जनता अस्तप्राय तथा उदित चन्द्रमा के दृश्यों का आनन्द लेते हुए इस उत्सव को मानते थे, यह सामाजिक उत्सव था।[4] मालविकाग्निमित्रम् का प्रणयन संभवतः इसी प्रकार के अवसर पर हुआ होगा। तीर्थ स्थानों पर जाना एक धार्मिक कृत्य था। तीर्थ भूमि में स्नान करने पर समस्त पाप धुल जाते थे तथा पुण्य की प्राप्ति होती थी-- यह धारणा प्रचलित थी। किसी पवित्र नदी के समीप तीर्थ स्थान सामान्यतः निश्चित किए जाते थे। शाकुन्तल का शचीतीर्थ, गंगा - यमुना का संगम, सरयू के तीर्थ इनके ज्वलन्त उदाहरण हैं। शकुन्तला की ग्रह शान्ति के लिए कण्व सोमतीर्थ जाते हैं। दूसरे तीर्थ स्थान गोकर्ण, पुष्कर और अप्सरतीर्थ थे। तीर्थों में स्नान करने से आत्मा का पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति तथा देवपद तथा देवशरीर की प्राप्ति सम्भव बताई गई थी। नृप के राज्याभिषेक के समय तीर्थस्थानों से आहृत जल का प्रयोग होता था।[5]

१- रघु० ४-३
२- पू० मे० २२-२४
३- रघु० ७-४६
४- मालविका० प्रथमोऽङ्क पृ० २
५- रघु० ५-८, ९-६५, ११-४७

(ग) काम्य कर्म जो निश्चित फल की प्राप्ति के उद्देश्य से किए जाते हैं । पुत्र प्राप्ति , धनप्राप्ति , ग्रहशान्ति के लिए यज्ञ , हवन , बलि तथा अन्य कर्म किए जाते हैं । वे काम्य कर्म के उदाहरण हैं । प्राचीन मीमांसकों का कथन है कि "स्वर्ग-कामो यजेत" कर्म द्वारा पुण्य संचित होता है । पुत्रेष्टियज्ञ , स्वर्गेच्छुकों द्वारा अश्वमेघ कर्म , दिग्विजय के लिए विश्वजित् यज्ञ आदि का वर्णन मिलता है । शकुन्तला के ग्रहशान्ति का विधान भी है । एततिरिक्त अनुष्ठानों एवं व्रतों का अधिकता से वर्णन कवि की ~~निजी~~ निजी विशेषता है । अनुष्ठान अन्य अर्थों के साथ ही साथ उपवास और आहुतियों तथा कुछ निश्चित समय तक निश्चित बार वैदिक जाप करना था । किसी भयानक आगन्तुक विपत्ति को टालने , रुग्ण व्यक्तियों के स्वास्थ्य लाभ तक उद्देश्य की सिद्धि के लिए अनुष्ठान किया जाता था । अनुष्ठान के लिए साधारणतया गृह का कोई भाग पृथक् कर लिया जाता था , जिसे मंगलगृह कहते थे , इसमें अभ्यागार भी सम्मिलित हो सकता था ।[1]

यज्ञ के प्रसंग में यज्ञाग्नि का उल्लेख भी आवश्यक है , जिसके द्वारा समस्त यज्ञभाग देवताओं को पहुंचता था और जिसकी सहायता से संस्कार तथा अन्य कर्म काण्ड स्थापित किए जाते थे । अग्निहोत्र की अग्नि के समीप उपस्थित होकर ब्रह्मचारी अपनी विविध संस्कार करते और इसके सहयोग से गृहस्थ अपने आह्निक तथा अन्य यज्ञों को पूर्ण करने में समर्थ होगा । अग्निहोत्र की अग्नि की परिक्रमा

१- मालविका० पंचमोऽङ्कः पृ० ३५१
अभि० ७-२१ , विक्रम० ३-१२

विवाह के अवसर पर वर-वधू करते थे तथा उन्हें इस अग्नि को आजीवन प्रज्वलित रखने का आदेश था। कवि हुताग्नि के विविध प्रकार का उल्लेख करते है। रघुवंशम् में अप्रत्यक्षतया दक्षिणा, गार्हपत्य तथा आहवनीय का उल्लेख करते हैं, जिनको पवित्र और प्रज्वलित रखने को द्विज को आदेश था। मनु सभ्य और अवसथ नामक दो अन्य अग्नियों का उल्लेख करते हैं। गार्हपत्य अग्नि को गृहस्थ अपने पिता से प्राप्त करता था तथा पुत्र तक पहुंचाता था। उसी से यज्ञ के लिए अग्नि प्रज्वलित की जाती थी। आहवनीय अग्नि में ही समस्त आहुतियां दी जाती थीं। गृह का विशेष कक्ष जिसे इस उद्देश्य के लिए छोड़ा जाता था, अभ्यागार कहा जाता था, जहां सर्वदा अग्नि प्रज्वलित होती थी और प्रातः सायं इसमें आहुतियां दी जाती थीं।[1]

सामान्यतया व्रत भी रखे जाते थे, जिनका मुख्यांग उपवास था। उपवासकाल में कुछ संस्कार विशिष्ट का अनुष्ठान चलता था। स्वल्पाहार पारणा द्वारा व्रत भंग किया जाता था तथा यदि ब्राह्मण भोज होता था तो दक्षिणा देने का भी विधान था। प्रतिज्ञा पूर्ण होने पर अथवा विशिष्ट धार्मिक त्योहारों पर व्रत रखे जाते थे। स्त्री व्रताचरण के समय शुक्ल वसन और आवश्यक (अनिवार्य) आभूषण धारण करती थी और केशपाश में दूर्वादल सजाती थी। पति का वियोग पत्नी के लिए व्रत-तुल्य ही था, उसके वस्त्र मलिन तथा अलकावलि जटाओं से युक्त हो जाती थी। पत्नी का पति को प्रसन्न रखने के लिए "प्रियप्रसादनव्रत" का वर्णन मिलता है। प्रायोपवेशन नामक मारकव्रत जिसमें उपवास द्वारा शनैः शनैः मृत्यु के मुख में

१- चतुर्थाग्नि रघु० ५-२५, १-१६

फलवित होना था। दिलीप के गो व्रत का वर्णन कवि उत्साह से करते हैं। काम की प्रेरणा से बचते हुए एक ही शय्या पर युवती पत्नी के साथ शयन करना असिधारा व्रत कहलाता था।[1]

(घ) निषिद्ध कर्म -- जिन्हें करने का निषेध रहता है तथा संपादन करने से पाप का-संचय होता है। राम के राज्यकाल में इस प्रकार के निषिद्ध कर्म के फलस्वरूप वर्ण धर्म सम्बन्धी दोष और अकालमृत्यु की घटनाएं होने लगी थीं। अतः राम को निषिद्ध कर्म (शूद्रों के अनाधिकार) का नाश करना पड़ा था।[2]

(ङ.) प्रायश्चित कर्म निषिद्ध कर्म सम्पादित करने पर अशुभ फलप्राप्ति के निवारणार्थ प्रायश्चित करना पड़ता था। उदाहरणस्वरूप राम ने प्रायश्चित रूप में शूद्र का वध किया था। ये कर्म आदेशरूप हैं अतः मीमांसा निष्काम कर्म को मानता है, यह ज्ञात होता है।

संस्कार

प्राचीन वैदिक साहित्य में संस्कार शब्द का उल्लेख नहीं है, तथापि "सम्" पूर्वक "कृ" धातु का उपयोग प्रायः देखा जाता है। शतपथ ब्राह्मण में संस्कार का उल्लेख मिलता है।[3] इसी प्रकार जैमिनी सूत्र तथा छान्दोग्योपनिषद

१- असितधाराव्रतं तं वै वदन्ति मुनिपुङ्गवा यादव व्रतमाश्चिरम् रघु० १३-६७

रघु० ८-९४, २-२९,५५, विक्रम० ३-१२, रघु० ८-९४ आदि

२- रघु० १५- ५१

३- "सं इदं देवेभ्यो हविः संस्कुरु साधु संस्कृतं संस्कुर्विध्येवे ते दाह"

तस्माद् स्त्रीपुमांसं संस्कृते तिष्ठन्तमभ्येति।

में संस्कार का उल्लेख है । सुप्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट ने अपनी "तन्त्रवार्तिक" नामक ग्रन्थ में संस्कार को मान्यता प्रदान की है । अद्वैतवाद के संस्थापक शंकराचार्य ने भी संस्कार पद का प्रयोग किया है ।

कवि कालिदास ने भी "संस्कार" पद का बहुतायत से प्रयोग किया है । संस्कार शब्द का "संस्कृत" अर्थ भी अभिप्रेत हो सकता है । किंतु संस्कृत पद द्वारा मात्र संस्कृत भाषा नहीं प्रत्युत "भली प्रकार हो चुकी हो शुद्धि जिसकी" यह अर्थ भी प्रतीत होता है । कालिदास ने प्रसिद्ध संस्कारों के अर्थ में ही संस्कार पद का प्रयोग किया है । रघुवंशम् में रघु के उल्लेख द्वारा यह प्रतीत होता है कि मानो आकरोद्भव मणि जिस प्रकार प्रत्यक्ष द्वारा अलौकिक आलोकयुक्तता को प्राप्त होती है , उसी प्रकार जातकर्मादि संस्कारों द्वारा भी शिशु तेजस्वी बनता है -- इस प्रकार की ध्वनि निकलती है । संस्कार पद का प्रयोजन एवं महत्त्व उसकी गहराई में आकण्ठ निमज्जित होकर ही झलकता है ।

संक्षेप में संस्कार चतुः उद्देश्यों एवं आशयों से परिपूर्ण है --

(क) अध्ययन तथा कर्तव्य की उपयोगिता

(ख) पवित्रता

(ग) उत्सव के प्रति अभिरुचि

(घ) सामाजिकता

संस्कारों के विषय में विद्वानों में अतीव मतभेद है । गौतम ने चतुर्दश संस्कारों को मान्यता प्रदान की है । तथा अंगीरस के विचारानुसार पंचविंश संस्कार है , किंतु सामान्यतः षोडश संस्कारों का उल्लेख मिलता है ।

(१) गर्भाधान संस्कार का प्रारम्भ अथर्ववेद में मिलता है । बृहदारण्यकोपनिषद् में

भी गर्भाधान एवं पुंसवन संस्कार का उल्लेख मिलता है । कालिदास की रचनाओं में इस संस्कार का सर्वत्र मिलता है । साहित्यिक सौन्दर्य तथा गर्भ के महत्त्व का संकेत रघुवंश के दशम सर्ग में प्राप्त होता है । इस असाक्षात् संकेत के अतिरिक्त निषेक शब्द का प्रयोग इस संस्कार की पुष्टि में सहायक है , संभवतः कवि का अभिप्रेत ऐसा ही होगा । विद्वान् कालिदास ने गर्भाधान के काल की शुद्धता का परिचय प्रदान किया है ।[1]

(२) पुंसवन संस्कार का सर्वप्रथम उल्लेख अथर्ववेद के सूत्र में प्राप्त होता है ।[2] प्राचीन-काल में हिन्दू धर्म पुत्रोत्पत्ति के विचार से आन्दोलित हो उठता था , जो उसे पितृऋण से मुक्त करवाता था , यही कारण है कि पुत्र का अत्यधिक महत्त्व भी था । कोमलमना कवि ने स्वयं इसका महत्त्व स्वीकार किया है । दिलीप एवं दुष्यन्त इसी पितृऋण की कल्पना से पुत्राभाव के कारण दुःखितावस्था को प्राप्त करते हैं ।[3]

(३) अनवलोभन संस्कार पुंसवन का ही एक अंग है । किंतु आश्वलायन गृह्यसूत्र में इसे पृथक् स्वीकार किया गया है । कवि कालिदास के किसी श्लोक में यद्यपि इसका प्रयोग प्राप्त नहीं होता , तथापि संकेत परोक्ष रूप में स्पष्टतः प्राप्त होता है ।[4]

सीमान्तोन्नयन संस्कार की भी स्पष्टतः अभिव्यंजना नहीं हुई है तथापि आदिपद से संभवतः इसी संस्कार का संकेत है ।

१- रघु० १०-५८ , कुमार० ३-१६ , ७-२२
२- शमीमश्वत्थ आरुढस्तत पुंसवनं कृतम् । ७-११-१
३- रघु० १-६६ , १०-२
संतानत्वं वर्जयित्वा अभि० षष्ठोऽङ्कः
४- रघु० ३-१०

पुत्रोत्पन्नोपरांत प्रथम संस्कार जातकर्म है । इस प्रसंग में महर्षि मनु[1], वृहदोपनिषद्[2] अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख है । जातकर्म के अन्तर्गत अत्यधिक लघु संस्कार भी समन्वित हो जाते थे ।[3] कविकुलश्रेष्ठ ने संस्कार का अनेक स्थलों पर वर्णन किया है ।[4] कवि वस्तुतः उनकी रचनाओं के अध्ययनोपरांत यह ज्ञात होता है कि नामकरण , निष्क्रमण , अन्नप्राशन अनेक संस्कारों की समष्टि का नाम है । इस संस्कार का महत्व स्वयं कालिदास करते हुए लिखते हैं कि जातकर्मादि संस्कारोपरांत दिलीप पुत्र रघु की कान्ति अत्यधिक शोभासम्पन्न , कान्ति एवं प्रभायुक्त हो गई ।[5] कवि ने "वधिवद्"[6] पद प्रयुक्त कर इस मत की पुष्टि की है कि उनके काल में भी संस्कार उसी रूप में मान्यता प्राप्त था , जिस प्रकार प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त होता है । इसके साथ ही साथ तत्कालीन समाज में जन्मोत्सव भी अत्यधिक धूमधाम से होता था । समृद्ध गृहों में गणिकाओं का नृत्य संगीतादि भी समाज सम्मत था तथा राजकुमारों के जातकर्म संस्कार काल में बन्दियों को कारागार से मुक्ति मिल जाती थी ।[7]

नामकरण[8] संस्कार किसी निश्चित अवधि में होना चाहिए , किन्तु यह अनेक मतों द्वारा भिन्न-भिन्न हो गया है । वृहदारण्यक , आश्वलायन इत्यादि

१- प्राङ्नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते म० २-२९
२- तस्मात् कुमारं जातं धृतं वै वाग्रे प्रतिलेह्यन्ति स्तनं या
अनुपधायन्ति ।
३- रघु० ३-१८
४- रघु० ३-१८, १०-७८, १४-७५, १५-३१
५- रघु० ३-१८
६- रघु० १४-७५- १५-३१
७- रघु० ३-१९, २०
८- रघु० ३-२१, ५-३६ , ८-२९ , १०-६९

प्राच्यग्रन्थानुसार जिस दिन पुत्रोत्पन्न हो , उसी दिन नामकरण संस्कार होता है , किन्तु मनु [१] के मतानुसार दस अथवा बारह वर्ष की आयु में नामकरण संस्कार होना चाहिए । सुप्रसिद्ध गद्यलेखक बाणभट्ट ने "कादम्बरी" में दश वर्ष की आयु के प्रति संकेत किया है ।[२] कालिदास ने नामकरण संस्कार का स्पष्टतः उल्लेख न करते हुए भी पुत्रोत्पन्न होने पर सर्वत्र पिता द्वारा नामकरण करवाया है । तदतिरिक्त प्राचीन काल में जिस प्रकार के नियम प्रचलित थे यथा नाम का अर्थ शुभ , सार्थक एवं गुणोपेत हों , उस परम्परा का पालन किया है । बौधायन गृह्यसूत्र में लिखा है कि ऋषि , देवता या पूर्वजों के नाम पर रखना चाहिए ।

निष्क्रमण , अन्नप्राशन तथा वर्षवर्धन संस्कारों को कवि ने "जात-कर्मादियः" से ही उल्लिखित कर दिया है ।[३] महर्षि मनु ने निष्क्रमण तथा अन्नप्राशन का उल्लेख इस प्रकार किया है ।[४] भारद्वाज ने चूडाकर्म संस्कार का सम्बन्ध वैदिक काल से जोडा है ।[५] इसको मानने में सभी ने एकमत होकर भारद्वाजगृह्यसूत्रानुसार चूडाकर्म को तृतीय वर्ष में माना है । कालिदास ने इस संस्कार का एक स्थान पर साक्षात् और अन्यत्र परोक्ष संकेत काकपक्ष , शिखण्डक इन पदों द्वारा दिया है ।[६]

१- नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत्
२- प्राप्ते दशमे ऽहनि पुण्ये मुहूर्ते . . . . चन्द्रापीड इति नाम चकार । का० पृ० ३-८
३- रघु० १०-६ , ५-३६ , ३-२२
४- चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् । मनु० २-३३
षष्ठे अन्नप्राशनं मासि यथेष्टं मंगलं कुरु । मनु० २-३४
५- अथास्य सांवत्सरिकस्य चौडं कुर्वन्ति यथार्षि यथोपयज्ञं वा , विज्ञायते च यादृशा बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशाखा इव ।
६- रघु० ३-२८, १८-४३ , १-५

कवि ने इस संस्कार को मनाने की विधि का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं किया , किन्तु मुख्यांग केश कर्त्तन ही था ।[1]

प्रायः स्मृतियों में चौलोपरांत उपनयन[2] का उल्लेख मिलता है । चौल संस्कार जन्मोपरान्त तृतीय वर्ष में होता था तथा उपनयन अष्टम वर्ष में । उपनयनोपरान्त विधिपूर्वक विद्याध्ययन प्रारम्भ होता था । गुरु वेदादि द्वारा अध्यापन प्रारम्भ करते थे , अतः इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता था कि अष्टवर्ष के पूर्व ही शिशु वर्णादि का अध्ययन करता होगा । कालिदास ने भी रघुवंश में अज के विषय में इस प्रकार का उल्लेख करते हुए लिखा कि अज ने सर्वप्रथम वर्णमाला सीखी , तत्पश्चात् संस्कृत-साहित्य-सागर में प्रविष्ट हुए ।[3]

संस्कारों में उपनयन का महत्व बहुत है । एक पक्ष में जहां यह व्यक्ति के नियमबद्ध जीवन में प्रविष्ट कर धार्मिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिए अग्रसर करता है , वहीं दूसरे पक्ष में वेदविद्या का मार्ग प्रशस्त कर मानसिक और हित विकास में सहयोग देता है । आश्वलायन गृह्यसूत्रों में उपनयन की अवस्था इन शब्दों में प्राप्त होती है ।[4]

इस संस्कारोपरांत बालक ब्रह्मचर्य जीवन में प्रविष्ट होता था ।

१- वृत्तचूलः रघु० ३-२८
२- रघु० ३-२९
३- रघु० ३-२८
४- अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत् । एकादशे क्षत्रियम् द्वादशे वैश्यम् । आषोडशात् ब्राह्मणस्योपनीतः कालः ।
आद्वाविंशात्क्षत्रियस्य आ चतुर्विंशवैश्यस्य ।"

उसकी वेशभूषा तथा दैनिक जीवन अंत्यधिक सीमित हो जाते थे । महाकवि कालिदास ने ब्रह्मचारी की वेशभूषा "कुमारसम्भवम्" में चित्रित की है ।[१] रघुवंशम् में रघु के उपनयन संस्कार का उल्लेख किया जाता है । इस संस्कार में यज्ञोपवीत का अत्यधिक महत्व है , अतः उपनयन को ही यज्ञोपवीत संस्कार पद से अलंकृत किया गया है तथा यज्ञोपवीत आजीवन गले में शोभित होता था[१] तथा वरात्रिय इसे धारण करते थे ।

वैदिकाध्ययनोपरान्त केशान्त या गोदान संस्कार का वैदिक विधान था । स्वयं कवि कालिदास गोदान के पश्चात् रघु के विवाह का उल्लेख करते हैं , अतः निश्चय ही यह ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थाश्रम के मध्य की कड़ी है । वैदिकाध्ययन की समाप्ति के पश्चात् ब्रह्मचारी स्नान कर पितृगृह लौट आता था । स्नात ब्रह्मचारी को स्नातक कहा जाता था । कालिदास स्नातक पद का प्रयोग स्पष्टतः करते है ।[२]

उपनयन के पश्चात् विवाह अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्कार है , जो व्यक्ति को गृहस्थ बनने का मार्ग खोल देता है । स्वयं कालिदास ने गृहस्थाश्रम को "सर्वोपकारक्षमम्" कहकर विवाह का महत्व बढ़ा दिया है ।[३] पुत्र के उद्देश्य से विवाह का विधान है और पुत्र उनके अनुसार "पितृऋण" के लिए आवश्यक था । पुत्र के लिए ही पुत्रेष्टियज्ञ और पुत्रोत्पत्ति व्रत का प्रसंग देकर गृहस्थाश्रम के महत्व को बढ़ा देते हैं । स्त्री को पुत्रवती होने का आशीर्वचन तथा वैवाहिक शुभावसरों

१- कुमार० ११-६४
२- रघु० ७-२८
३- पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम् " रघु० ५-१०

पर पुत्रवती और सौभाग्यवती को ही शुभ स्वीकार करना इत्यादि विवाह के माहात्म्य को बढ़ाते हैं ।[१]

अंतिम संस्कार दशाह है जिसका कवि ने उल्लेख किया है , यह अन्तिम संस्कार है जिसे मृत्यूपरान्त सम्पादित किया जाता था । इसका अर्थ है अशौच का अन्तिम दिवस । जिसके अनन्तर श्राद्ध संपादित किया जाता था , जब अन्तिम शुद्धि प्राप्त होती थी । मृत्यु के दिवस से दशम दिवस पर्यन्त गिने जाते थे तथा इसमें श्राद्ध के समस्त क्रिया कलाप सम्मिलित थे , तथा मृतक शरीर की अन्तिम सजावट , जिसे "अंतिमण्डनम्" पद से विभूषित किया गया है । शाकुन्तल में इस पद का प्रयोग प्राप्त होता है । "अन्त्यमण्डनम्" को आश्वलायन में भी बताया है , जिसमें दाहक्रिया के पूर्व शव आभूषणों तथा पुष्पों से आभूषित होता था और अगरु चन्दन का लेप उसपर लगाए जाते थे ।[२]

अग्निसंस्कार अर्थात् मृतक शरीर को नवीन श्वेत वस्त्र प्रेत चीवर में लपेटने के पश्चात् चिता में अग्नि का संयोग करना और अनन्तोगत्वा दशाह संस्कार होता था , विशेषकर दशम दिवस द्वारा श्राद्ध शब्द में बोधित होता है जो अद्यपि काश्मीर में प्रचलित है । कविश्रेष्ठ कालिदास ने सुप्रसिद्ध टीकाकार वल्लभ के दशाह संस्कार को विशेष व्याख्यायित किया है , अशौच के दशम दिवस का बोधक नहीं ।[३]

१- रघु० १७-७ कुमार० ७-५७
२- अथवा एतदेव में मृत्युमण्डलम्
रघु० ८-७१ , कुमार ४-२२
३- रघु० १५-१६ , ७८-७१ , १२-५६ , ८-७३

तीन द्विज वर्णों के लिए कालिदास अनेक संस्कारों का वर्णन करते हैं। ये संस्कार उनको नवीन जीवन का अधिकार देते माने गए थे, जिनके कारण उन्हें द्विज की संज्ञा प्राप्त थी। प्रातःकाल के शौचों का उल्लेख भी मिलता है, जिनसे निर्मित अनेक कर्मकाण्डों को शास्त्रों के आदेशानुसार एक द्विज सम्पन्न करता था।[1]

मीमांसक वेद को अपौरुषेय वाक्य मानते हैं तथा सम्पूर्ण वेद के पंच प्रभेद मानते हैं ---

(क) विधि (ख) मन्त्र (ग) नामधेय (घ) निषेध और (ङ) अर्थवाद

इन पंच के अन्तर्गत मंत्रब्राह्मणात्मक वेद के समस्त वाक्य आ जाते हैं। कालिदास ने भी इन विषयों का परोक्ष संकेत दिया है। विधि के प्रभेद अधिकार विधि का स्पष्टतया उल्लेख रघुवंशम् में प्राप्त है।[2] अधिकारी एवं अधिकार के स्वरूप पर अधिकारविधि में विवेचना की गई है। इसके आधार पर यह कहा जाता है कि फल का स्वामी वही व्यक्ति है, जो अधिकार से विशिष्ट है। इसी प्रसंग में मीमांसा का कथन है कि शूद्रों को तप का अधिकार नहीं है।[3] कविकुलश्रेष्ठ ने भी शूद्रों के अनधिकार तथा उनके याग द्वारा प्रजा में अव्यवस्था का स्पष्ट संकेत

१- रघु० ५-६
२- कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधि : अ० सं० पृ० ६४
३- अतएव च शूद्रस्य न यागाद्यधिकारः । तस्माध्ययनविधिसिद्धज्ञानाभावात् । आधानसिद्धाग्न्यभावात् च । मी० न्यायप्र० पृ.० १९४-१९५

किया है । रामराज्य में एक विद्वान् ब्राह्मण अपने अकालग्रस्त नवयुवक के पार्थिव शरीर को लेकर राम के समीप पहुंचकर मर्मभेदी विलाप करने लगा , क्योंकि इक्ष्वाकुवंशीय में अकालमृत्यु नहीं होती थी । उसी वेला में आकाशवाणी भी हुई कि "हे राजन् ! आपकी प्रजा में कुछ वर्ण धर्म सम्बन्धी दोष आ गया है , अतः उसका अन्वेषण कर दूर करो , तभी तुम्हारा उद्देश्य पूर्ण होगा ।" अन्वेषण कर राम ने देखा कि एक मनुष्य अग्नि में प्रज्वलित कर वृक्ष की शाखा पर अवलम्बित हो, धूम्रपान कर तप कर रहा है । रामद्वारा परिचय पूछे जाने पर उसका कथन था कि देवपद प्राप्त करने के लिए तप कर रहा था तथा वर्ण से शूद्र था ।[1] राम ने शूद्रों का तप में अनधिकार तथा अनधिकार के कारण प्रजा में पाप फैलता देखकर निश्चय किया कि इसका वध उचित है , कवि ने स्पष्टतः इसका वर्णन किया है ।

ग्रन्थों में विधि के पश्चात् मन्त्र का विचार किया गया है । यागानुष्ठान में उपयुक्त पदार्थों का स्मरण मन्त्रों द्वारा किया जाता है , यही मन्त्रों की उपयोगिता है ।[2] कवि ने मन्त्रों के महत्त्व का उल्लेख वसिष्ठ-दिलीप वार्ता , रघु के मन्त्रसिक्त रथ प्रभृति में किया है , साथ ही साथ शाकुन्तलम् में स्पष्टतः वैदिक मन्त्र की रचना की है ।[3]

मन्त्र के पश्चात् वेद का तृतीय प्रभेद नामधेय है , जिसका अर्थ

१- तपस्यनधिकारित्वात्प्रजानां तमघावहम् ।
शीर्षच्छेद्यं परिच्छिद्य नियन्ता शस्त्रमाददे । रघु० १५-५१
२- मन्त्रैरेव स्मर्तव्यम् अ० सं० पृ० ५८
३- रघु० ४-८

नाम अर्थात् संज्ञा है । नामधेय शब्द कर्ममीमांसा का पारिभाषिक शब्द है , जिसका अर्थ यागविशेष का नाम है । कविश्रेष्ठ ने विश्वजित् , अश्वमेघ , पुत्रेष्टि प्रभृति अनेक यागों का नाम लिखा है ।

नामधेय के पश्चात् निषेध का विचार प्राप्त है जिसका कवि ने उल्लेख नहीं किया है । अन्त में अर्थवाद विचार किया गया है । अर्थवाद का अर्थ किसी वाक्य की प्रशंसा अथवा निन्दा करना है ।[1] कालिदास का त्रिवेणी में स्नान मात्र से स्वर्गप्राप्ति का उल्लेख अर्थवाद का सर्वोत्तम उदाहरण है , जिसके द्वारा मनुष्यों में सत्कर्म के प्रति प्रवृत्ति उत्पन्न करने का प्रयास किया गया है ।[2]

अन्यत्र कवि ने स्पष्टतः मीमांसा दर्शन के प्रणेता महर्षि जैमिनि का उल्लेख करते हुए मीमांसा दर्शन संबन्धी ज्ञान का सम्यक् परिचय प्रदान किया है । नृपति पुत्र के पुनर्जन्म से मुक्ति के प्रसंग में कवि का कथन है कि "उदारचित्त पुत्र ने पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति के लिए राज्यभार अपने पुत्र को प्रदान कर जैमिनि ऋषि के शिष्य होकर उनसे योग सीखकर आवागमन से मुक्ति प्राप्त की ।"[3] इस उल्लेख द्वारा प्रतीत होता है कि जैमिनि ऋषि योग दर्शन के आचार्य थे किन्तु भारतीय दर्शन की अन्यतम रचनाओं तथा दर्शन के इतिहास के अध्ययन से यही ज्ञात होता है कि महर्षि जैमिनि योग दर्शन के नहीं प्रत्युत मीमांसा दर्शन के प्रणेता थे । किन्तु

१- प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः ।" अ० सं० पृ० ६८

२- समुद्रपत्न्योर्जलसंनिपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात्
तत्त्वावबोधेन विनापि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः   रघु० १२-५८

३- महीं महेच्छः परिकीर्य सूनौ मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा
तस्मात्सयोगादधिगम्य योगमजन्मनेऽकल्पत जन्मभीरुः ।   रघु० १८-३३

जैमिनि के जीवन वृत्त के विषय में प्रायः सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य मौन है । बौद्ध एवं जैन साहित्य से भी जैमिनि के जीवनवृत्त पर प्रकाश नहीं पड़ता । महाभारत में जैमिनि का उल्लेख अवश्य आता है किन्तु दार्शनिक के रूप में नहीं । पंचरात्र में एक हस्ती द्वारा जैमिनि की मृत्यु का उल्लेख मिलता है , इसके अतिरिक्त आश्वलायन गृह्यसूत्र में भी जैमिनि का उल्लेख हुआ है । ब्रह्मसूत्र के प्रणेता महर्षि बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र में जैमिनि मुनि का विचार प्रायः दशम बार उद्धृत किया है ।[1] इन उल्लेखों द्वारा उनके व्यक्तित्व के विषय में जनसामान्य का ज्ञान नगण्य रह जाता है , तथापि मीमांसा सूत्र" इस दर्शन का मूलभूत ग्रन्थ है ।

शब्द नित्यत्व

मीमांसा दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त "नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः" का प्रसंग भी उल्लेखनीय है । रघुवंश का प्रथम श्लोक वस्तुतः स्वयं में अनुपमेय है , जिसमें मीमांसकों का "नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः" सांख्य के द्वित्व तथा अद्वैत वेदान्तियों का सच्चिदानन्द ब्रह्म" संकेतित है ।

वेदों का अपौरुषेयत्व सिद्ध करने के लिए मीमांसकों ने "शब्द एवं अर्थ" का सम्बन्ध नित्य एवं स्वाभाविक है , इस सिद्धान्त की स्थापना की । इस सिद्धान्तानुसार "क" , "ख" आदि वर्ण ही मूल शब्द है , तथा वर्ण नित्य है ।

१- परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् । ब्र० सू० ४-३-१२
ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः । ब्र० सू० ४-४-५

"क" तथा "ख" आदि जो ध्वनियों का हम प्रत्यक्ष श्रवण करते हैं, वे वर्णों के प्रकाशक मात्र है। क्योंकि यदि प्रत्यक्ष शब्द को ही वास्तविक शब्द स्वीकार कर लें, तो "ग" आदि के बारम्बार ध्वनित होने से उन्हें अनेक शब्द रूप में स्वीकार करना पड़ेगा। किन्तु ऐसा होता नहीं, अतः यह स्वीकार करना चाहिए कि वास्तविक "ग" उच्चरित "ग" से उत्पन्न नहीं प्रत्युत व्यक्त होता है। यदि एक ही शब्द के पृथक्-पृथक् उच्चारण को एक ही वस्तु की अनेक अभिव्यक्तियां नहीं स्वीकार करेंगे, तो उनसे एक ही अर्थ निकलना कदापि सम्भव नहीं होगा। अतएव वास्तविक शब्द हमारे कण्ठ से प्रस्फुटित होता है, उत्पन्न नहीं। वास्तविक शब्द अनादि होने के कारण नित्य है, अतएव शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नियत एवं स्वाभाविक है, आधुनिक या संकेतित नहीं। वेद इस प्रकार के नित्य और मूलभूत शब्दों का कोष है, लिखित या उच्चरित वेद नित्य वेद के प्रकाश मात्र हैं। महाकवि कालिदास की भावना में शब्द-अर्थ में अर्धनारीश्वर का सा अपृथक् सिद्धि का सम्बन्ध प्रतिफलित हो रहा है।[1]

शक्ति और अपूर्व

कार्यकारण सम्बन्ध के विषय में मीमांसा शक्तिवाद का सिद्धान्त स्वीकार करती है। इस सिद्धान्तानुसार कारण में अदृष्ट शक्ति वर्तमान रहती है। उदाहरणस्वरूप बीज में एक अदृश्य शक्ति है, जिससे वह अंकुर उत्पन्न कर सकता है। इस अदृष्ट

१- वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये,
जगतपितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ। रघु० १-१

शक्ति के सिद्धान्त द्वारा मीमांसक अपनी समस्याओं का समाधान करते हैं । कालिदास ने "महाराज दिलीप ने अश्वमेध कर मानों मृत्यूपरान्त स्वर्गारोहण के लिए नवनवति सोपानों का निर्माण किया "[1] इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है ।

इस श्लोक द्वारा मीमांसकों के शक्ति एवं अपूर्व दोनों सिद्धांतों की व्याख्या की जा सकती है । मीमांसा के मतानुसार इहलोक में सम्पादित कर्म एक अदृष्ट शक्ति का प्रादुर्भाव करता है , जिसे अपूर्व की संज्ञा दी गई है । यह कर्मफल के भोग की शक्ति है , जिसे अपूर्व की संज्ञा दी गई है । जो अवसर प्राप्ति पश्चात् फलित होती है । दिलीप ने मानों अश्वमेध कर इसी अपूर्व नामक शक्ति को प्राप्त किया , जिसकी प्राप्ति मृत्यूरान्त फलित होती । कर्मफल का व्यापक नियम यह है कि लौकिक या वैदिक सभी कर्मों के फल का संचित होते हैं । अपूर्व का सिद्धान्त उसी का एक अंश है ।

निःश्रेयस

कार्य कारण सम्बन्ध के विषय में प्राचीन मीमांसकों के मतानुसार स्वर्ग अर्थात् नित्य निरतिशय आनन्द की प्राप्ति ही जीवन का परम लक्ष्य माना जाता है । अतः उनका अभीष्ट है कि स्वर्गेच्छुक याग करें । अतः वे यज्ञ , दान , तप इत्यादि सत्कर्मों के प्रति ही अपनी अभिरुचि प्रदर्शित करते है । अतः समस्त कर्मों का अन्तिम

१– इति क्षितीशो नवतिं नवाधिकां महाक्रतूनां महनीयशासनः
समारुरुक्षुर्दिवमायुषः क्षये ततान सोपानपरम्परामिव ॥ रघु० ३-६९

उद्देश्य स्वर्गप्राप्ति है । कालिदास ने यद्यपि स्वर्ग का उल्लेख बहुतायत से किया है , तथापि उनका उच्चतम ध्येय क्या था ? यह स्पष्टतः ज्ञात है ।

दिलीप के प्रसंग में स्वर्गप्राप्ति का स्पष्टतः उल्लेख कवि ने किया है[1], एतद्व्यतिरिक्त स्वर्ग की कल्पना अन्यत्र भी की गई है । भूपति अज के प्रसंग में कवि का कथन है कि गंगा एवं सरयू के संगम पर तीर्थ में देहत्याग कर स्वर्ग में इन्दुमती को प्राप्त कर उसके साथ नंदन वन के क्रीड़ाभवन में रमण किया तथा देवपद को प्राप्त किया ।[2] पुरुषोत्तम राम के निधन तथा परधाम गमन में भी कवि का कथन है "भक्तों पर कृपा करने वाले राम विमान पर आरूढ़ होकर स्वर्ग चले गए तथा भक्तों के लिए सरयू नदी को स्वर्गारोहण के लिए सोपानवत् बना दिया ।"[3]

जह्नुतनया गंगा के द्वारा कपिल मुनि के कोप में भस्मसात् सागरपुत्रों के स्वर्गप्राप्ति का वर्णन कवि अन्यत्र करते हैं । इसके द्वारा पौराणिक कथा भी इंगित हो रही है । "मालविकाग्निमित्रम्" में पुरुरवा के मुख से स्वर्ग के सुखाधिक्य का उल्लेख कवि कर रहा है ।[4] महाधिराज कुश के उत्तम राज्य प्रबन्ध की उपमा स्वर्ग से देते हुए कवि का कथन है कि अयोध्यानगरी में कुश को अत्यधिक आनन्द की अनुभूति हुई । अतः उसने स्वर्ग की कामना का त्याग कर दिया । कुश ने इन्द्र की सहायता में वीर गति प्राप्त की , अतः उन्होंने मानों इन्द्र के अर्ध सिंहासन पर

१- रघु० ३-६९
२- रघु० ८-९५
३- रघु० १५-१००
४- अनिर्देश्यसुखः स्वर्गः कस्तं विस्मारयिष्यति । विक्रम० ३-१८

आधिपत्य जमा किया । यह वस्तुतः स्वर्ग का सर्वोत्तम पद होगा , जिस प्रकार कुश ने अधिकार प्राप्त किया ।[२]

अष्टादश सर्ग में कवि ने रघुवंशीय नृपों की वंशावली का ही वर्णन किया है , वहां स्वर्गलोक का यशोगान यथास्थल करते हैं । सम्पूर्ण सप्तदश सर्ग कुशपुत्र अतिथि के गुणों से परिपूर्ण है , उस अतिथि ने अनेक उत्तम कार्य सम्पादित किए फलस्वरूप पुण्य के आधार पर स्वर्गलोक को प्राप्त किया । उन्हीं के पौत्र धर्मात्मा नल ने वृद्धावस्था में वनवास लिया तथा मृगों के साथ रहने लगे जिससे जन्मचक्र से मुक्ति प्राप्त हो । नल ने तो आवागमन के च्च चक्र से मुक्ति का प्रयास किया तथा उनके पुत्र नल ने स्वर्ग प्राप्त किया । नृपेश नभ के पुत्र क्षेमधन्वा ने इक्ष्वाकु वंशियों की भांति वानप्रस्थ आश्रम लेकर वन में तप प्रारम्भ किया तथा उनके पुत्र देवानीक ने स्वर्ग पर्यन्त प्रसिद्धि प्राप्त की । नरेश क्षेमधन्वा ने भी यज्ञकर स्वर्ग प्राप्त किया था । गुणी देवानीक के पुत्र "अहीनग" ने भी सफलतापूर्वक साम , दाम , दण्ड , भेद नीतियों का प्रयोग की तथा मरणोत्तर स्वर्ग को प्राप्त किया । उसी वंश में वज्रनाभ नामक नृप हुए जो इन्द्र के समान प्रभावशाली तथा युद्ध में वज्र के समान गर्जन करते थे , उन्होंने भी पुत्र शंखण को राज्य प्रदान कर पुण्य के बल पर स्वर्ग प्राप्त किया ।[२]

इसी प्रसंग में कवि ने वेदान्तसम्मत ब्रह्म का उल्लेख भी किया है ।[३]

१- रघु० १७-५
२- रघु० १७-१८ , ७, ८, १०, १२, १६, २२, ३१
३- ब्रह्मभूयं गतिमाजगाम रघु० १८- २८

ब्रह्मपद को प्राप्त कौशल्या ने अपने पुत्र ब्रह्मिष्ठ को राज्य प्रदान किया जो कुल शिरोमणि थे तथा जिसके कुशल शासन को देखकर प्रजा के नेत्र आनन्दाश्रु से परिपूर्ण हो जाते थे । उन्होंने अनेक वर्ष पर्यन्त राज्यभार संभाला तथा वे विष्णु के समान सुन्दर थे । विषय वासनाओं से दूर रहकर, त्रिपुष्पर क्षेत्र में स्नानकर ब्रह्मिष्ठ ने भी स्वर्ग को प्राप्त किया ।[1] इसी प्रकार मेघदूतम् में भी अलकापुरी के यक्षों के विविध विलासों का रमणीय वर्णन करते हैं तथापि स्वर्गप्राप्ति तथा वहां के सुखों में रमण करना ही कालिदास की दृष्टि में अत्युच्च ध्येय था, यह प्रतीत नहीं होता । छान्दोग्योपनिषद् एवं भगवद्गीता के समान ही स्वर्ग में सुखभोग के द्वारा पुण्य संचय का ह्रास होता है, यह विचार कवि को भी मान्य था । यही कारण है कि सुप्रसिद्ध करुणगीतिका मेघदूतम् में उत्प्रेक्षा का अवलम्बन लेकर कहते हैं कि पुण्य संचय के ह्रास के कारण स्वर्गीय जनों ने पृथ्वी पर आकर अवशिष्ट पुण्यार्थ से उज्जयिनी नगरी के रूप में स्वर्ग का सुन्दर रूप बसाया ।[2] स्वर्ग में सुख अक्षय न होने के कारण ही मरीचि आश्रम में निवास करने वाले ऋषिगण उस सुख का मोह त्याग कर उच्चतर पद की प्राप्ति के लिए सदैव तपश्चर्या में लीन रहते हैं । स्वर्ग प्राप्ति के उपरान्त भी मनुष्य जरा, जन्म, मृत्यु के चक्र से मुक्ति प्राप्त नहीं करता है, यही भाव अभिव्यक्त करता हुआ कवि शाकुन्तलम् के भरतवाक्य में पुनर्जन्म से मुक्ति की शंकर से प्रार्थना करता है ।[3] जन्मान्तर से मुक्ति की कामना कवि ने

१- रघु० १८-३१
२- पू० मे० ३०
३- अभि० ७-३१

धर्मात्मा नल के प्रसंग में भी बताई है । वहां उनका कथन है कि नृपेश नल ने अपने पुत्र नभ को उत्तरकोशल का राज्य सौंपकर वृद्धावस्था में वन में मृगों के साथ तृण चरा थे , जिससे उन्हें जीवन क्रम के आवागमन से मुक्ति प्राप्त हो सके ।[1] इसी प्रकार नृप पुत्र के प्रसंग में कवि का कथन है कि पुनर्जन्म से मुक्ति के लिए उन्होंने जैमिनि ऋषि से योग सीखकर आवागमन से मुक्ति प्राप्त की ।[2]

अतः मुक्ति के प्रसंग में मीमांसकों ने यज्ञ, दान तप इत्यादि सत्कर्मों के प्रति अपनी अभिरुचि प्रदर्शित करते हैं , किन्तु कालिदास का विचार है सत्कर्मों द्वारा सुख की प्राप्ति होती है अर्थात् सन्तलोकों में निवास । उनकी सिद्धियों की चरम सीमा स्वर्ग है , किंतु यह अवस्था चरमशान्ति नहीं हो सकती तथा न हि पुनर्जन्म से मुक्ति प्राप्त होती है । पुण्य कर्मानुसार स्वर्ग में निवास करने की अवधि निश्चित होगी तथा पुण्यकर्म की क्षीणता प्राप्त होने पर पुनः धरातल पर लौटना पड़ेगा । जन्म शृंखला पुनः अपना अस्तित्व बना लेगी । त्रिवेणी में स्नान मात्र से पुनर्जन्म से मुक्ति पाने का उल्लेख अर्थवाद का उदाहरण है तथा इसका अर्थ व्यक्तियों की सत्कर्म के प्रति प्रवृत्ति है ।[3]

प्राचीन मीमांसकों ने "याग" को महत्त्व प्रदान किया किन्तु शनैः शनैः मीमांसक गण भी अन्यान्य भारतीय दर्शनों के समान मोक्ष (सांसारिक बन्धनों से मुक्ति) को ही सर्वोत्तम कल्याण (निःश्रेयस) मानने लगे । उनके मतानुसार यदि

१- मृगैरजर्यं जरसोपदिष्टमदेहबन्धाय पुनर्बबन्ध । रघु० १८-७
२- तस्मात्सयोगादधिगम्य योगमजन्मनेऽकल्पत जन्मभीरुः रघु० १८-३३
३- रघु० १२-५८

सकाम भाव से कर्म सम्पादित किया जाए तो बारम्बार जन्म लेना पड़ता है किन्तु जब सुख दुःखात्मक विश्व की प्रकृति को समझ लेता है , तब वह सांसरिक जीवन से विरक्त हो जाता है । वह अपनी वासनाओं को दमन करने की चेष्टा करता है , अतः पाप कर्म से विरत होकर उन समस्त कर्मों को छोड़ देता है , जो सुखप्राप्ति के निमित्त किए जाते हैं । इस प्रकार पुनर्जन्म तथा भव-बन्धन से मुक्ति प्राप्त होती है । निष्काम धर्माचरण और आत्मज्ञान के प्रभाव से पूर्वकर्मों और के संचित संस्कार भी क्रमशः लुप्त हो जाते हैं , तब इस जन्म के पश्चात् पुनर्जन्म नहीं होता और कर्मबन्धन समाप्त हो जाता है अर्थात् जन्म-मृत्यु के चक्र से सर्वदा के लिए मुक्ति प्राप्त हो जाती है और कर्मबन्धन समाप्त हो जाता है अर्थात् जन्म मृत्यु के चक्र से सर्वदा के लिए मुक्ति प्राप्त हो जाती है और एकबार बन्धन का नाश होने पर वह पुनः जन्म मरण के जाल में नहीं फंसता । इसी निःश्रेयस् को कवि ने भिन्न-भिन्न रूप से दर्शाया है इतना अवश्य है कि वे योग सम्मत समाधि तथा तत्वज्ञान द्वारा कर्म को दग्ध करने का आदेश देते हैं ।[1]

दर्शन के अन्य महत्वपूर्ण विषय जगत् के विषय में धारण तथा प्रमाणचर्या सांख्ययोग सम्मत है , किन्तु आत्मा , परमात्मा , (ईश्वर) वेदान्त प्रतिपादित विचारों से साम्यता रखते हैं , अतः निसर्गतः मीमांसा दर्शन से भिन्न होने के कारण विवेचन अप्रासंगिक है ।

क्या मीमांसा दर्शन अनीश्वरवादी है ?

क्या मीमांसा दर्शन को निरीश्वरवादी कहना चाहिए ? मीमांसा दर्शन

१- इतसे दहने स्वकर्मणां ववृते ज्ञानमयेन वह्निना । रघु० ८-२०

को निरीश्वरवादी कहने में ईश्वर का स्थान अत्यंत गौण है तथा जैमिनि ने ईश्वर का उल्लेख नहीं किया है जो एक, अन्तर्यामी और सर्वशक्तिमान् हो । विश्व की सृष्टि के लिए धर्माधर्म पुरस्कार तथा दण्ड देने के लिए ईश्वर को मानना भ्रान्तिमूलक है, इस प्रकार देवताओं के गुण या धर्म की चर्चा नहीं हुई है ।

मीमांसा देवताओं को बलिप्रदान के लिए कल्पना करती है । देवताओं को मात्र बलि ग्रहण करने वाले के रूप में माना गया है, उनकी उपयोगिता मात्र होम के लिए है क्योंकि मीमांसा में अनेक देवताओं की सत्ता स्वीकार की गई, अतः मीमांसा को अनेकेश्वर वादी कहा जा सकता है । कालिदास के समय में भी हिन्दू देव समुदाय में अनेक देवताओं का होना भी लोगों का बहुदेवत्ववाद के सिद्धांतों में विश्वास प्रकट करता है । किंतु यद्यपि देवताओं की अनेकता बहुदेवत्व वाद के प्रति संकेत करती है, तथापि ईश्वरीयता की अनन्तता में एक परम आवश्यक एकता की धारा प्रवाहित हो रही है । इसी प्रकार मीमांसकों के भी अनेकेश्वरवादी कहना भ्रामक है । देवताओं का का अस्तित्व मात्र वैदिक मन्त्र में ही स्वीकार किया गया है, विश्व में उसका कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं । देवताओं तथा आत्माओं के मध्य क्या सम्बन्ध है, यह भी स्पष्ट नहीं किया गया, न हि इनका स्वतन्त्र सत्ता है और न हि उपासना के विषय ही है । कुमारिलभट्ट ने ईश्वर को वेद का निर्माता भी स्वीकार नहीं किया क्योंकि वेद अपौरुषेय, स्वतः प्रकाश तथा स्वतः प्रमाण है ।

पश्चात्वर्ती मीमांसकों ने ईश्वर को स्थान दिया है । पाश्चात्य विद्वान् मैक्समूलर का कथन है कि मीमांसकों ने सृष्टिकर्ता के विरुद्ध जो युक्तियां दी हैं उनसे सिद्ध है कि यदि ईश्वर को सृष्टिकरता मान लिया जाए तो उसपर क्रूरता,

पक्षपात प्रभृति दोष आरोपित हो जाते हैं , किंतु सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर को न मानने का अर्थ निरीश्वरवाद नहीं है । मीमांसा पूर्णतया वेद पर आधारित है तथा वेद में ईश्वर का पूर्णतया संकेत है , अतः मीमांसा अनीश्वरवादी है , यह कथन असन्तोषजनक प्रतीत होता है । तथापि मीमांसकों ने कर्म पर अत्यधिक बल दिया है अतः ईश्वर का महत्त्व गौण हो गया है । इसके विपरीत कालिदास का ईश्वर भक्ति तथा उपासना का विषय है । कर्म का आदेश कवि की रचनाओं में भी प्राप्त है किन्तु ईश्वर की अपेक्षा उनका महत्त्व अल्प है । कर्म द्वारा नश्वर स्वर्ग की प्राप्ति होती है किंतु ब्रह्म (ईश्वर) की प्राप्ति आनन्दानुभूति की चरमसीमा है । इस प्रकार मीमांसा तथा कालिदास के दर्शन में सूक्ष्म अन्तर प्राप्त होता है । अस्तु , कालिदास के मुख्यतया कवि होने के कारण अक्षरशः साम्यता की आशा करना ही व्यर्थ है ।

पञ्चम सोपान

न्याय-वैशेषिक दर्शन एवं कालिदास

सप्त पदार्थ -- द्रव्य,गुण,प्रयत्न,प्रवृत्ति,
निवृत्ति,कर्म,चतुः आश्रम,अलौकिक प्रत्यक्ष,
प्रमेय पदार्थ,मुक्ति विचार ।

न्याय वैशेषिक दर्शन एवं कालिदास
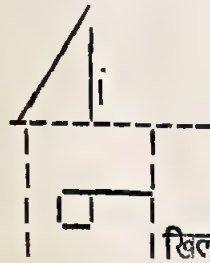
अखिलकविकुलचकचूडामणि कविकुलतिलक तथा कविता कामिनी के कमनीय कान्त कवि कालिदास के काव्य रूपी सागर के मन्थन के फलस्वरूप जो कुछ मोती प्राप्त होते हैं उनके आधार पर यह ज्ञात होता है कि उनके काव्यों में वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों, उपनिषदों, रामायण महाभारत, पुराण, मनुस्मृति प्रभृति धार्मिक ग्रन्थों, सांख्य-योग तथा मीमांसा वेदान्त प्रभृति उपस्तिक, बौद्ध एवं जैन नास्तिक दर्शन, आयुर्वेद, ज्योतिष विद्या, अर्थशास्त्र, कामसूत्र, नाट्यशास्त्र, अलंकार, व्याकरणज्ञान, संगीतशास्त्र, अमरकोष, छन्द तथा इतिहास का सूक्ष्म, परिष्कृत एवं यथोचित परिचय प्राप्त होता है, किन्तु न्याय एवं वैशेषिक दर्शनों का कवि ने अपनी सुदृढ शैली में अत्यन्त अल्प उल्लेख किया है। "उत्तरराम-चरित" के रचनाकार सुप्रसिद्ध भवभूति ने संभवतः कवि पर ही आक्षेप करते हुए "मालतीमाधव" में इस श्लोक का उल्लेख किया है।[1]

१- यद्वेदाध्ययनं तथोपनिषदां सांख्यस्य योगस्य च ज्ञानं तत्कथनेन किं न हि ततः

अस्तु सर्वप्रथम वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित सिद्धान्तों की विवेचना अभीष्ट है । वस्तुतः औलूक्य एवं अक्षपाद दर्शन के सिद्धान्त परस्पर समान होने के कारण उन्हें "समानतन्त्र"[1] पदेन भी व्याहृत किया जाता है । यही कारण है कि मैंने दोनों दर्शनों का उल्लेख एक ही सोपान में किया है ।

प्राणिमात्र की प्रवृत्ति का लक्ष्य एकमात्र सुख की प्राप्ति एवं दुःख का परिहार है , क्योंकि दुःख का अनुभव प्राणी की प्रकृति के विरुद्ध पड़ता है तथा उसकी सत्ता का अनुभव समस्त प्राणियों द्वारा अपनी आत्मा द्वारा अनुभूत है । प्राणियों में जो विचारशील हैं वे सांसारिक वैषयिक सुखों को भी दुःखमिश्रित होने के कारण हेय मानते हैं दुःख की सामान्य अनुभूति सर्वसाधारण को रहने के पश्चात् भी उनके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान स्थूलदर्शी सर्वसाधारण जनता को ज्ञात नहीं हो पाता । महाकवि कालिदास के उक्ति के अनुसार अनपेक्षित वस्तु के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान के अभाव में उसका प्रतीकार सम्भव ही नहीं है ।[2] अतः उस दुःख के विनाश के लिए उपाय आवश्यक है , अन्ततः वैशेषिकानुसार परमेश्वर का साक्षात्कार ही उपाय रूप में दृष्टिगत होता है [3] तथा इस विषय में उपनिषद् भी प्रमाण है ।[4]

कश्चिद् गुणो नाटके । यत्प्रौढित्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवं तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्यवैदग्ध्ययोः । मालती० १-६

१- "........... इति समानतन्त्रेऽपि प्रतिपादितम् । स० द० स० पृ० १४९

२- विकारं खलु परमार्थतोऽज्ञात्वाऽनारंभः प्रतीकारस्य । अभि० अंक ३ पृ०

३- यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः
तदा शिवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यन्ति । श्वेत० ६-२०

४- निसर्गप्रतिकूलवेदनीयतया निखिलात्मसंवेदनसिद्धं दुःखं जिहासुस्तद्धानोपायं जिज्ञासुः परमेश्वरसाक्षात्कारम् उपायमाकलयति ।" स० द० सं० औलूक्य दर्शन पृ० ३९१

कवि कालिदास भी इसी विचारधारा से अनुप्राणित प्रतीत होते हैं , क्योंकि उसी परमेश्वर के लिए वे भी आराधना करते हैं ।[1]

परमेश्वर का साक्षात्कार वैशेषिकदर्शनानुसार[2] श्रवण , मनन तथा भावना द्वारा प्राप्य है । इन्हीं भावों का उल्लेख सर्वदर्शनसंग्रह के औलूक्य दर्शन में भी प्राप्त है । किंतु प्रेयान् कवि कालिदास ने श्रवण एवं मनन का उल्लेख स्पष्टतः कदापि नहीं किया किंतु अभ्यास द्वारा ईश्वर की प्राप्ति की वरानि निसर्गतः प्राप्त होता है । श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी उसी परमेश्वर का प्रसंग है जिसे उस रूप में ज्ञातकर व्यक्ति मृत्यु रूप दुःख के बन्धन से मुक्ति प्राप्त करता है । इसी श्रुति को आधार मानकर वैशेषिक परमेश्वर साक्षात्कार का एकमात्र उपाय बतलाते हैं ।[3]

इसके पश्चात् वैशेषिक दर्शन में धर्म का विवेचन मिलता है । यहां "अथ" द्वारा मंगल या आनन्तर्य का बोध होता है अर्थात् शिष्यों की जिज्ञासा के पश्चात् । श्रवणादि में निपुण तथा असूयारहित शिष्यों को ज्ञान की पराकाष्ठा के रूप धर्म की पराकाष्ठा न्यायसूत्र में मिलती है । कवि ने भी धर्म के प्रति सर्वत्र अपनी आस्था प्रगट की है । उनकी दृष्टि अतिविशाल तथा धार्मिक विचार अतीव उदार थे । कुमारसम्भव के द्वितीय सर्ग में ब्रह्मदेव तथा रघुवंश के दशम सर्ग में विष्णु की

१- अभि० १-१ , मालविका० १-१ , विक्रम० १-१
२- आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासबलेन च
त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् । स० द० सं० औलूक्यदर्शन पृ० ३६२
३- तमेवं विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय । श्वेता० ३-८
४- अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः । वै० सू० १-१-१
५- यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः सः धर्मः । वै० सू० १-१-२

स्तुति उनके धार्मिक दृष्टिकोण को अतिस्पष्ट करती है ।[1] ब्रह्म , विष्णु एवं महेश उसी परमेश्वर के कार्यनिमित्त से भिन्न-भिन्न भासमान रूप प्रतीत होते हैं । कार्यवश अन्यत ब्रह्मदेव , कथंचिद् विष्णु तथा शिव को श्रेष्ठता प्राप्त होती है । अतः ज्येष्ठ कनिष्ठ भाव उनके सम्बन्ध में समान रूप से प्रतिबिम्बित होते हैं । इस उदात्त तत्व का भाव निम्नश्लोक में स्पष्ट झलकता है ।[2] सनातन धर्म का भी यही तत्व है , गीता में भी यही उल्लिखित है ।[3]

वैशेषिक दर्शन की विषय वस्तु प्रधानतः सप्त पदार्थ[4] है , जिनमें गुण का अतिस्पष्ट संकेत कालिदास ने दिया है ।[5] शब्दगुण[6] दो प्रकार का होता है -- ध्वन्यात्मक या अस्फुट तथा वर्णात्मक या स्फुट । गुण की परिभाषा से यह ज्ञात होता है कि वह द्रव्य पर आधारित है । द्रव्यों[7] की संख्या नव है , इनमें प्रथम पंच भूत की संख्या से पारिभाषित हैं क्योंकि प्रत्येक का कोई न कोई विशेष गुण है । पंचभूत निर्मित शरीर के प्रति अनास्था दिखलाते हुए दिलीप का उल्लेख रघुवंश में

१- रघु० १०-१६
   कुमार ० २-६
२- एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्येषां प्रथमावरत्वम् ।
   विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद्वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ ॥ कुमार० ७-४४
३- स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
   लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् । गी० ७-२२
४- द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्तपदार्थाः । त० सं० पृ० २
५- अथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः । रघु० १३-१
६- गुणत्वजातिमत्वं गुणसामान्यलक्षणम् । त० सं० पृ० २
७- गुणवत्त्वम् - द्रव्यत्वजातिमत्वं वा द्रव्यसामान्यलक्षणम् तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालादिगात्ममनांसि नवैव । त० सं० पृ० २

दृष्टव्य है ।[1] इन भूतों के विशेष गुणों का प्रत्यक्ष वाह्येन्द्रिय द्वारा ही होता है यथा आकाश का गुण शब्द है ।[2] इसी प्रकार पृथ्वी का गन्ध जल का रस , तेज का रूप तथा वायु का स्पर्श गुण है ।[3] ये पंच विशेष गुण वाह्येन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष होते हैं । उसी के आधारभूत द्रव्य से उस इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है -- यथा घ्राणेन्द्रिय पृथ्वी के तत्वों से निर्मित है , रसेन्द्रिय जल के तत्वों से । इसी प्रकार चक्षु का उपादानकारण तेज , त्वक् का वायु तथा श्रवणेन्द्रिय का आकाश उपादान कारण है ।[4] पार्थिव द्रव्य गन्धयुक्त होते हैं , इससे यह ज्ञात होता है कि घ्राणेन्द्रिय जिससे गन्ध का ज्ञान होता है , पार्थिव है । इसी प्रकार रूप , रस , गन्ध, स्पर्श और शब्द को ग्रहण करनेवाले इन्द्रिय क्रमशः तेज , जल , वायु और आकाश के कार्य है ।[5] किन्तु न्यायदर्शन सम्मत पंचमहाभूतों और सांख्यसम्मत पंचमहाभूतों में पर्याप्त अन्तर है । कणाद दर्शन में उल्लिखित चतुर्विंशति गुणों में प्रयत्न का उल्लेख मिलता है । प्रयत्न[6] प्रकारत्रय में विभाजित है -- (क) प्रवृत्ति (ख) निवृत्ति तथा (ग) जीवन योनि । इसी प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का उल्लेख कवि ने भी किया है । रघुवंश में रघु एवं अज[7] के निवृत्ति एवं प्रवृत्ति के आदर्शरूप में देखा गया है ।

१- रघु० ३-५७
२- अभि० १-१ , रघु० १३-१
३- शब्दादीन्विषयान्भोक्तुं चरितुं दुश्चरं तपः । रघु० १०-२५
४- शब्दादि निर्विश्य सुखं चिराय तस्मिन्प्रतिष्ठापितराज शब्दः । रघु० १८-३
५- रघु० १०-२५ , १३-१ , १८-३
६- गुणत्वजातिमत्त्वं गुणसामान्यलक्षणम् ।
रूपरसगन्धस्पर्श संख्या- परिमाण - पृथक्त्व संयोग विभाग परत्वाऽपरत्व गुरुत्व द्रवत्व स्नेह-शब्द - बुद्धि सुख , दुःखेच्छा द्वेष- प्रयत्न-धर्माधर्मसंस्काराश्चतुर्विंशतिर्गुणाः ।
७- रघु० ८-२१-२२

दोनों में सहज स्नेह दिखाकर यह प्रकट किया गया है कि तत्वतः दोनों में विवाद या विरोध नहीं । सत्ववान् रागवान् से कदापि मोह न रहे तथा गृहत्याग तदनन्तर वनजीवन यापन की अनिवार्य नहीं । इसी प्रकार यह भी अनिवार्य नहीं कि कोई रागवान् स्वकर्तव्य को तिलांजलि दे नित्य प्रिया के प्रलाप में लीन रहे । कवि की दृष्टि में मानव की मानवता दोनों के समन्वय में है, वही नैयायिकों की जीवनयोनि है । मानव मानवता के प्रकाश में मुक्ति चाहता है तो रघु का अनुगामी बने । सारांशतः यह कहा जा सकता है कि कालिदास प्रवृत्ति एवं निवृत्ति अथवा राग तथा सत्त्व को कर्मभूमि और जन्मभूमि में ही विकसित करने का उपदेश देते हैं । प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का जो समभाग कवि को अभीष्ट है, वह है राम । वह हरि ही नहीं प्रत्युत पुरुषोत्तम भी है । उसके राग की स्थिति भी चरमसीमा है क्योंकि प्रिया के वियोग में व्याकुल हो लता को सीता समझ उससे लिपटना चाहता है तथा सत्वावस्था की चरमसीमा में उसी गर्भभरालसा प्रिया को लक्ष्मण के साथ प्रेषित कर देता है । यह तो मात्र एक दृष्टान्त है, इसका पूर्ण चरित्र इसी प्रकार पूर्ण रागवान् एवं सत्त्ववान् है । राग एवं सत्त्व समानरूप से विद्यमान हैं, फलतः वह अनेक के लिए मुक्ति प्रदान करता है[1]-- कवि ने स्पष्टतः इसका उल्लेख किया है ।[2]

तृतीय पदार्थ कर्म के गौरवगाथागान में कवि की भारती कदापि श्रान्त नहीं होती ।[3] राम द्वारा परित्याग बेला में सीता द्वारा कथित वाक्य कर्म की महत्ता को बतलाता है -- " पुत्रोत्पत्तिपर्यन्त सूर्य में दृष्टि निश्चित कर तपस्या करना उन्हें अभीष्ट

१- रघुवंश अष्टमः सर्गः
२- उपस्थितविमानेन तेन भक्तानुकम्पिना ।
   चक्रे त्रिदिवनिश्रेणिः सरयूरनुयायिनाम् ॥ - रघु० १५-१००
३- "कर्मत्वं नाम नित्यासमवेतत्वसहितसत्तासाक्षात् व्याप्यजातिः" त० सं० पृ० ४

है ,जिस पुण्यात्मक कर्म के परिणामस्वरूप जन्मान्तर में भी उसी पति की प्राप्ति हो । इसी प्रकार ऋषियों के जीवनपर्यन्त तपस्या द्वारा भी तापस् कर्म के माहात्म्य का ही ज्ञान होता है जिनका यशोगान कालिदास के प्रत्येक ग्रन्थ में प्राप्त है ।[1] कुमारसंभव का मनोयोगपूर्वक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि उमा का तप तथा अन्य ऋषियों का आचरण समस्त उत्कृष्ट कर्मों के ज्वलन्त उदाहरण है । कर्म द्वारा मनुष्य अपने भविष्य में अभीष्ट की प्राप्ति भी कर पाता है, यही भाव उमा द्वारा शिव प्राप्ति में अभिप्रेत है जिसका संकेत गीता में भी प्राप्त होता है ।

शारीरिक एवं मानसिक दो प्रकार के कर्मों का चिन्तन वैशेषिक सूत्रों में मिलता है तथा श्रुतियों में प्रतिपादित धर्म- तदन्तर्गत दान तथा प्रतिग्रह धर्मों एवं चतुराश्रमोचित धर्मों का निरूपण हुआ । कविशिरोमणि ने इन समस्त प्रकारके कर्मों का उल्लेख अपनी रचनाओं में अत्यन्त सुन्दर एवं सजीव रूप से प्रस्तुत किया है ।

शारीरिक कर्मों के प्रसंग में तपस्वियों की तपश्चर्या सर्वोत्तम उदाहरणरूप में प्रस्तुत है । नृपों का आखेटवर्णन, राजकार्य की कुशलता तथा अन्य क्रियाएँ समस्त शारीरिक कर्म के अन्तर्गत आते हैं ।[2] मानसिक कर्मों के अन्तर्गत महर्षियों का समाधिस्थ होना उदाहृत है जिन्हें अपने मानवीय शरीर का ज्ञान नहीं होता था । यथा अभिज्ञान-शाकुन्तल में वर्णित मुनि मरीचि[3] का उल्लेख जिनके शरीर पर चींटियों एवं पक्षियों ने घोंसले तक बना लिए थे ।

दान एवं प्रतिदान धर्मों को भी कवि अपनी सरल वैदर्भी शैली में अपनी रचनाओं में नगवत् पिरो देता है । रघुवंश के पंचम सर्ग में दान का अतीव उज्ज्वल दृष्टान्त प्रस्तुत होता है । वरतन्तु के शिष्य कौत्स गुरुदक्षिणा के लिए रघु से धन की

१- रघु० १४-१६६, कुमार० ५-६,१८,२५,२८,२९
२- रघु० ९-४९ ३- अभि० ७-११

याचना करते हैं जबकि रघु ने अपनी समस्त धनसम्पत्ति यज्ञ में दान कर दी थी। रघु अलकापुरी पर आक्रमण कर यक्षराज धनेश से धनप्राप्ति का उद्योग करते हैं, इसी प्रसंग में कोष में स्वतः सुवर्ण वृष्टि होती है। नृप रघु का आग्रह है कि शिष्य कौत्स सम्पूर्ण धन को स्वीकार करे, दूसरे पक्ष में कौत्स अभीप्सित धनसम्पदा के अतिरिक्त सुवर्ण अस्वीकार कर रहे हैं। दान एवं प्रतिग्रह का यह आग्रह चित्र संस्कृत किं वा सम्पूर्ण विश्व साहित्य का सर्वोत्तम दृश्य है, जो अन्यत्र दुर्लभ है।[1] चतुराश्रमों का तथा तदनुकूल व्यवहार एवं धार्मिक क्रियाओं का विवेचन भी कवि अत्यन्त मनोयोग से करते हैं। रघुवंश का प्रारम्भ ही ऋषियों[2] की गुणगाथा के साथ प्रारम्भ होता है। ब्रह्मचर्यावस्था में तपोवन आश्रम, छात्रजीवन तथा ब्रह्मचारी वेश उन्हें अभीष्ट था। शैशवावस्था में विद्या का अभ्यास, युद्धक्रिया प्रभृति का उल्लेख मिलता है।[3]

गृहस्थाश्रम को कवि ने सर्वोत्तम आश्रमरूप में स्वीकार किया है। पतिव्रता पत्नी के अभाव में धार्मिक क्रियाएँ पूर्ण नहीं हो सकती, अतः विवाह आवश्यक है। विवाह के समस्त प्रकारों का उल्लेख कवि करते हैं। गृहस्थाश्रम की सफलता कामोपभोग एवं पुत्रोत्पत्ति है। कर्त्तव्यों के अंतर्गत आतिथ्य सत्कार, धार्मिक क्रियाएँ तदन्तर्गत सन्ध्या, होम, तर्पण तथा पंचमहायज्ञ आते हैं। संक्षेप रूप में त्रिवर्ग, अतिथि पूजा, जाप, होम तर्पण, सन्ध्या वन्दना से धर्म, जीविकोपार्जन से अर्थ, स्त्री, पुत्र की प्राप्ति से काम--यही धर्म, अर्थ, काम की उपलब्धि होती थी।[4]

१- जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च
- रघु० ४-३१

२- रघु० १- ५ से ९

३- रघु० १-५१, ५-१०, १-८, ३-३१

४- कु० ६-१३, ८-४७, रघु०३-३१, ५-२, ८-३०, ३-४५

तृतीयाश्रम वानप्रस्थ ही सामाजिक आदर्श था। रघुवंशी नृपों ने तो सदैव यह ध्येय बतलाया कि वृद्धावस्था प्राप्त होने पर मुनिवृत्ति धारण करें। वे वल्कल-वस्त्र धारण करते थे तथा कुटी एवं वृक्षों के नीचे, पत्नीसहित वास करते थे। शयनार्थ कुश की चटाई अथवा मृगचर्म तथा प्रकाशनार्थ इङ्गुदी का दीपक प्रयुक्त करते थे। जहाँ वे वास करते थे वह स्थान तपोवन था तथा वहाँ पर्णकुटी कुंज, पत्थर की शिलाएँ रहती थीं।[1]

संयास को अन्त्य आश्रम कहा गया है। मुक्ति की इच्छावाले तत्त्वदर्शी योगियों के साथ शास्त्रचर्चा, कुशासन पर स्थित हो मन को एकाग्र करना, योगबल द्वारा शरीरस्थ पंचपवनों को वश में करना, ज्ञानाग्नि द्वारा कर्म को दग्ध करना, धन के प्रति वैराग्य, प्रकृतिस्थ गुणत्रय पर विजय प्रभृति इस आश्रम के उद्देश्य थे। इस प्रकार सन्यास क्रिया से वे परमात्मा के दर्शन में समर्थ हो जाते थे तथा इन्द्रिय को वश में करके योग द्वारा शरीर त्याग कर देते थे।[2]

अक्षपाद दर्शन में तत्त्वज्ञान द्वारा निःश्रेयस् की प्राप्ति स्वीकृत है जिसमें दुःखों का आत्यन्तिक उच्छेद हो जाता है। इसी कारण महर्षि गौतम ने तत्त्वज्ञान की सिद्धि के लिए न्यायदर्शन का प्रथम सूत्र भी इन्हीं भावों से समन्वित है।[3] अतः प्रमाण[4] प्रमेय प्रभृति तत्त्वों का विवेचन आवश्यक है तथा कवि उन्हें किस रूप में स्वीकार करते थे। यह भी ज्ञात करना आवश्यक है। नैयायिकों ने चतुर्प्रमाणों[5]

१- रघु० ३-७०, अभि० ७-२०, रघु० १-९५, रघु० १४-८१, रघु०१-५१, १-५०, अभि० १-४, ५-१०
२- रघु० ८-१८, १९, २०, २१, २३, २४
३- तत्त्वज्ञानाद् दुःखात्यन्तोच्छेदलक्षणं निःश्रेयसं भवति - न्या०सू० १-१-२९
प्रमाणप्रमेयेत्यादितत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमैः -- न्या० सू० १-१-१

को स्वीकार किया है किन्तु कविकुलगुरु कालिदास नैयायिकों की इस विचारधारा से सहमत प्रतीत नहीं होते हैं और न वे वैशेषिकों के प्रमाण चर्चा को स्वीकार करते हैं, उन्होंने इस क्षेत्र में सांख्य-योग के मतानुसार प्रमाणत्रय को स्वीकार किया है।[1] यद्यपि देवी सरस्वती के प्रिय पुत्र महाकवि इन मतों को स्वीकार नहीं करते हैं, तथापि प्रत्यक्ष के दो प्रकार लौकिक एवं अलौकिक जो न्यायदर्शन मान्य है उनका कवि ने अपनी रचनाओं में यथोचित स्थलों पर प्रस्तुत कर अपनी सुरुचिपूर्ण प्रज्ञा का परिचय प्रदान किया है। अलौकिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत योगज अलौकिक प्रत्यक्ष का उल्लेख मिलता है इस प्रत्यक्ष की प्राप्ति द्वारा समस्त प्रकार के वस्तुओं की साक्षात् अनुभूति होती है। इस प्रकार की अनुभूति मात्र उन व्यक्तियों को हो सकती है, जिन्होंने अपने योगाभ्यास द्वारा अलौकिक शक्ति प्राप्त की है तथा जो योग में पूर्ण सिद्ध है, उन्हें योगज शक्ति स्वतः ही प्राप्त हो जाती है तथा उस शक्ति का नाश कभी नहीं होता है। इस प्रकार के योगियों को युक्त संज्ञा से अलंकृत किया जाता है।[1(क)] इस परिभाषानुसार महर्षि वशिष्ठ को योगज शक्ति प्राप्त थी, यही कारण है कि उन्होंने योगबल के आधार पर ध्यावस्थित होकर पवित्रात्मायुक्त दिलीप के पुत्राभाव के कारण को समझ लिया।[2] उसी प्रकार प्रिया-सी, सचिव, गृहिणी इन्दुमती के निधनोपरान्त अज के असहनीय शोक का कारण स्वाश्रमस्थित होकर भी अपनी अलौकिक शक्ति द्वारा ज्ञातकर अपने शिष्य को सान्त्वनार्थ अज के समीप भेजा था।[3] इन उदाहरणों से

४(पू०पृ०)- साधनाश्रयाव्यतिरिक्तत्वे सति प्रमाव्याप्तं प्रमाणम् स० द० सं० पृ० ३८८

५(पू०पृ०)- तच्चतुर्विधं प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात् स० द० सं० पृ० ३८९

१- रघु० १०-२८

१(क) उद्धृत एवं चटर्जी भारतीय दर्शन द्वितीय संस्करण न्याय दर्शन अध्याय पृ० ११२-११३

२- सोऽपश्यत्प्रणिधानेन संपतेः स्तम्भकारणम्। रघु० १-७४

३- अथ तं सवनाय दीक्षितः प्रणिधानाद् गुरुराश्रमस्थितः। रघु० ८-७५

ज्ञात होता है कि महर्षि वशिष्ठ "युक्त" व्यक्ति थे । इसी प्रकार राम द्वारा सीता परित्याग के अवसर पर वाल्मीकि का कथन उन्हें "युक्त" व्यक्तित्व रूप सिद्ध करना है ।[1] किन्तु वे पूर्णतया युक्त नहीं थे, क्योंकि युक्त व्यक्तियों के विपरीत युञ्जान व्यक्तियों की भी न्याय दर्शन में विवेचना है, जिन्होंने योग में आंशिक सिद्धि प्राप्त की है, उन्हें युञ्जान कहते हैं । युञ्जान व्यक्ति को योगज शक्ति स्वतः प्राप्त नहीं होती, प्रत्युत उन्हें इसके लिए कुछ धारणा, ध्यान की आवश्यकता भी पड़ती थी तथा इसका नाश भी सम्भव है ।[2] इस अर्थ की अभिव्यंजना रघुवंश के पंचदश सर्ग में होती है ।[2क] लवणासुर पर विजय प्राप्त कर जब शत्रुघ्न लौट रहे थे, तब वाल्मीकि के आश्रम में नहीं गए, क्योंकि उस स्थिति में वाल्मीकि अपनी सिद्धियों के बल पर सत्कार की सामग्री एकत्रित करने का प्रयो करेंगे, अतः उनकी तपस्या की शक्ति का ह्रास होगा इस अर्थ को शत्रुघ्न के वचनों द्वारा प्रकाशीभूत कराया है ।[3]

यद्यपि प्रमाणविषयक विचार कवि एवं नैयायिकों के साम्यताविषयक नहीं हैं तथापि नैयायिकों द्वारा मान्य प्रमेयों का उल्लेख कवि ने सर्वत्र किया है । अतः प्रमेयों का विशद विवेचन यहाँ आवश्यक है ।

आत्मा के ईश्वर एवं जीव रूप में दो भेद हैं । सर्वज्ञ ईश्वर एक है तथा जीव प्रत्येक शरीर के लिए भिन्न-भिन्न है ।[4] आत्मा ज्ञान से युक्त है तथा समस्त

१- सोऽपश्यत्प्रणिधानेन संपते स्तम्भकारणम् । रघु० १-७४

२. डा० सर्व चटर्जी भारतीय दर्शन द्वितीय संस्करण न्याय दर्शन अध्याय पृ० 113

२क अथ तं सवनाय दीक्षितः प्रणिधानाद् गुरुराश्रमस्थितः । रघु० ८-७५

३- जाने विसृष्टां प्रणिधानस्त्वां । रघु० १४-७२

४- अवेक्ष्य रामं ते तस्मिन्न प्रजहुः स्वतेजसा
त्राणाभावे हि शापास्त्राः कुर्वन्ति तपसो व्ययम् ।
- रघु० १५-३

को देखनेवाला , सर्वज्ञ तथा सभी का अनुभव करनेवाली है, यह विभु एवं नित्य है । आत्मा के कुछ विशेष चिह्न यथा - इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, दुःख सुख एवं ज्ञान है । जिस प्रकार की वस्तु से आत्मा सुख का अनुभव करती है, उसी प्रकार की वस्तु की इच्छा वह करती है । दुःखप्रद वस्तु से द्वेष होता है तथा सुखद पदार्थों के लिए प्रयास करते हैं । सुप्रसिद्ध नैयायिक उदयन ने ईश्वर की सिद्धि में इन प्रमाणों को उपस्थित किया है -- " संसाररूपी कार्य के कर्ता के रूप में सृष्टि के आरम्भ में "दो परमाणुओं को जोडनेवाले के रूप में, विश्व को धारण करनेवाले के रूप में, अतार्य वेद सिद्धान्तों के प्रवर्तक के रूप में श्रुति प्रतिपादित होने के कारण, वाक्यभूत वेदों के रचयिता के रूप में द्वित्व संख्या की उत्पादक अपेक्षाबुद्धि को धारण करनेवाले के रूप में तथा अदृष्ट (धर्माधर्म) के व्यवस्थापक के रूप में विश्ववेत्ता अव्यय ईश्वर की सिद्धि होती है ।[1]

कविकुलगुरु ने भी विश्वरूपी कार्य के कर्ता के रूप में ईश्वर की सत्ता स्वीकार की है । ईश्वर का यथार्थ वर्णन असम्भव है क्योंकि वह मन एवं वाणी से अगोचर है । ईश्वर स्वयं सामान्यजनों को प्रत्यक्षतः दृष्टिगत नहीं होता है किन्तु उसके ऐश्वर्य का ज्ञान जिन पदार्थों (पृथिव्यादि) में होता है तथा अनुमान और वेद-वचन ही जिसके लिए आधार है, वह आशय कवि स्पष्टतः ही ऋचा को उल्लिखित करता है , इस रूप में वेदों के रचयिता के रूप में तथा श्रुतिप्रतिपादन के रूप में भी ईश्वर की सत्ता कवि को मान्य है ।[2] जगत् के स्थूल तथा सूक्ष्म कारण से

१- कार्यायोजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः ।
वाक्यात्संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ॥
-- न्याय कुसुमाञ्जलि ५-१

२- रघु० १०-२८ ३- अभि० ४-११

जगत् की उत्पत्ति और प्रलय में सम्पूर्ण सृष्टि, पालन एवं लयीकरण से सम्बद्ध श्लोक भी कवि उद्धृत करता है ।[1] यहाँ यह अवश्यमेव ही ध्यातव्य है कि कवि का ईश्वर वेदान्त, उपनिषद् एवं गीता के भावों से ओत-प्रोत है अतः न्यायदर्शन सम्मत समस्त गुण उसमें कदापि दृष्टिगत नहीं होते हैं । इस ईश्वर में अनेक विरोधी गुण का समवाय है । वह अज, स्वतः काम, दुःखरहित, कर्मानुसार प्राणियों का नियन्ता है । वह आप्तकाम तथापि सज्जनों की रक्षा एवं दुर्जनों के नाश के लिए बारम्बार अवतार लेता है तथा लोकसंग्रह के लिए विविध कर्मों में संलग्न दीखता है ।[2]

जीवात्माओं के यथार्थज्ञान तथा मुक्तिप्रदान के मार्ग प्रदर्शन करना ही न्याय दर्शन का उद्देश्य है । जीवन एवं मरण के चक्र में स्थित जीव को ही मुक्ति की आवश्यकता है । जीव के रूप में आत्मा भिन्न-भिन्न है, यही कारण है कि एक जीव की मुक्ति प्राप्ति पर समस्त विश्व की मुक्ति नहीं हो जाती । जीव के रूप में विभिन्न नृपों, ऋषिगणों सभी उदाहरण रूप में समझे जा सकते हैं । वस्तुतः प्रत्येक चेतन प्राणी जीवात्मा ही है । जीवरूप दुष्यन्त[3] शिव से पुनर्जन्म अर्थात् जीवन मरण से मुक्ति चाहता है । प्रायः पुनर्जन्म के प्रसंगों को स्मरण कर जीव खिन्नता को प्राप्त करता है ।[4] इसी प्रकार राजा पुत्र का उल्लेख भी मिलता है, जिन्होंने जैमिनि ऋषि के शिष्यत्व को स्वीकार कर योग सीखकर आवागमन से मुक्ति प्राप्त की । कुमुद्वती के पुत्र अतिथि ने स्वर्ग प्राप्त किया तथा धर्मात्मा नल ने पुत्र को राज्य सौंपकर वन में

१- 'कुमार० २-१०
२- रघु० १० से १६, ३१
३- ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः । अभि० ७-३५ ।
४- रघु० ११-२२

वास करना प्रारम्भ किया तथा धर्मात्मा नल ने पुत्र को राज्य सौंप वन में वास करना प्रारम्भ किया । जिसके फलस्वरूप उन्हें विश्व में जन्म प्राप्त न हो । जीव का वस्तुतः मुक्ति प्राप्त करना ही अभीष्ट है, जिसे कवि अन्यत्र भी संकेतित करता है ।[1]

शरीर ही आत्मा के भोग का अधिष्ठान है । शरीर विभिन्न चेष्टाओं, इन्द्रियों तथा उनके अर्थों का भी आश्रय है । किसी वस्तु का त्याग अथवा उसकी प्राप्ति के लिए चेष्टाएँ शरीर में होती हैं । शरीर के अनुग्रह से इन्द्रियाँ अनुगृहीत होती है, उसी में उपघात होने पर ये भी उपहत होती है ।[2] अपने-अपने अच्छे या बुरे विषयों की प्रवृत्ति दिखलाती है । उन इन्द्रियों का आश्रय भी शरीर ही है । शरीर रूपी आयतन में इन्द्रियों और उनके अर्थों के सन्निकर्ष से उत्पन्न होनेवाले सुख दुःख की संवेदना होती है, अतः शरीर अर्थों का भी आश्रय है । इस विशेषणों से युक्त शरीर तो जनसाधारण भी दृष्टिगत करता है, अतः यदि कवि ने शरीरस्थ दुःख सुख, अच्छे बुरे विषयों की प्रवृत्ति किसी वस्तु के त्याग या प्राप्ति की चेष्टा से युक्त शरीर की धारणा प्रस्तुत की है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?[3]

इन्द्रियाँ भोग का साधन है, जो शरीर से युक्त है । ये पंच है -- घ्राण, रसना, चक्षु, त्वचा तथा श्रोत्र, जिनसे क्रमशः सूंघना, स्वाद लेना, देखना, स्पर्श तथा श्रवण कार्य संपादित होते हैं । इन इन्द्रियों में शक्तिदान करनेवाले पृथ्वी जल, अग्नि, वायु एवं आकाश जिन्हें भूत की संज्ञा प्राप्त है, इनका उल्लेख कवि यथोचित स्थल पर करते हैं ।[4] इन इन्द्रियों के द्वारा भोग्य वस्तुओं को अर्थ की संज्ञा प्राप्त

१- रघु० १८-३,३३
२- जघान समरे दैत्यं दुर्जयं तेन चावधि । रघु० १७-५
३- तथेति प्रतिजग्राह प्रीतिमान्सपरिग्रहः । रघु० १-९२
४- तं वेधा विधसे नूनं महाभूतसमाधिना । - रघु० १/२९

है । घ्राणेन्द्रिय का अर्थ गंध है, रसनेन्द्रिय का रस चक्षुरिन्द्रिय का रूप, त्वगिन्द्रिय का स्पर्श और श्रोत्रेन्द्रिय का शब्द है । इनमें चक्षुरिन्द्रिय त्वगिन्द्रिय तथा श्रोत्रेन्द्रिय का उल्लेख कवि ने स्पष्टतः किया है ।[1] बुद्धि, ज्ञान एवं उपलब्धि को अर्थान्तर अर्थात् पर्याय मानते हैं, यह चेतन है तथा शरीर एवं इन्द्रियों के संघात से पृथक् है । इसका उल्लेख कवि ने स्पष्टतः कहीं नहीं किया है ।

सुखादि ज्ञानों का साधन इन्द्रिय मन है । इसी को अन्तःकरण अर्थात् आन्तरिक भावों का ज्ञान करने वाली इन्द्रिय भी कहते हैं । इसका चिन्ह है एक ही काल में दो ज्ञानों को एक साथ न उत्पन्न होने देना । मन रूप इन्द्रियों का वर्णन कवि ने किया अवश्य है किन्तु वह "अंतःकरण" में ही अन्तर्हित है ।[2]

मानसिक, वाचिक तथा शारीरिक क्रिया को प्रवृत्ति कहा गया है, जो शुभाशुभ के भेद से छः प्रकारों में विभक्त है । इन तीनों क्रियाओं का उल्लेख कविकुलगुरु की रचनाओं में नगवत् जडित है । प्रवृत्ति के कारण ही पुनर्जन्म होता है ।

प्रवृत्ति की उत्पत्तिकर्ता द्वेष है । ये प्रकारत्रय में विभक्त हैं -- राग, द्वेष और मोह । ये ही ज्ञाता को पुण्य या पाप के प्रति प्रवृत्त करते हैं, जहाँ मिथ्या ज्ञान है वहीं राग-द्वेष है । इन्हीं के वश में प्राणी कार्य करता है, जिससे सुख, दुःख की प्राप्ति होती है ।[3] इसका विशद विवेचन मैंने योगदर्शन खण्ड में किया है अतः यहाँ उसका उल्लेख मात्र पर्याप्त होगा ।

१- श्रुतिविषयगुणा या अभि: १-१
यथाभ्यर्थितमनुतिष्ठन्बालस्पर्शमुपलभ्य ।

- अभि० सप्तमोऽङ्कः, पृ० ३६

२- अन्तःकरणमिति न खल्ववगच्छामि । विक्रम० चतुर्थोऽङ्कः - पृ० २३६

३- रघु० १२-१०

उत्पत्ति के पश्चात् मृत्यु तदनन्तर पुनर्जन्म ही नैयायिकों का प्रेत्यभाव है, जिसे योगदार्शनिक जन्मान्तर की संज्ञा प्रदान करते हैं। कालिदास ने जन्मान्तर पर पर्याप्त प्रकाश डाला है, यह प्रेत्यभाव का अभ्यास अपवर्ग पर्यन्त चलता है।[1]

प्रवृत्तियों तथा दोषों से उत्पन्न होनेवाले अर्थ को फल कहते हैं। फल में दुःख सुख की संवेदना होती है। हमारे द्वारा जो भी कर्म प्रतिपादित होते हैं उनसे सुख या दुःख रूप फल की उपलब्धि होती ही है।

दुःख एवं सुख रूप फल की उपलब्धि एवं त्याग में ही समस्त विश्व व्याप्य है। दुःख-सुख का सुन्दर समन्वय निखिलकविचक्रचूडामणि द्वारा हुआ है। जिसके द्वारा पीडा या संताप हो वही दुःख है। जब व्यक्तियों को अनुभव होता है कि समस्त विश्व ही दुःखापूरित है तब दुःख को हटाने की इच्छा से जन्म को ही दुःखरूप समझ निर्मम हो जाते हैं तथा विरक्ति फलस्वरूप मुक्ति की प्राप्ति है। महाकवि कालिदास के शब्दों में वास्तविक स्वरूप के ज्ञान के अभाव में उसका प्रतीकार सम्भव ही नहीं है।[2] दुःखत्रयान्तर्गत आध्यात्मिक आधिभौतिक एवं आधिदैविक हैं। आध्यात्मिक दुःख शरीर मानस भेद से दो प्रकार का है। नृपादि ,मनुष्य,ग्राम्य चतुष्पद गो अश्वादि पशु, पंखयुक्त गृध्रादि पक्षी , अल्पचरण अथवा चरणरहित सर्प वृश्चिकादि सरीसृप प्रायः प्रत्यक्ष चेष्टारहित विषवृक्षादि स्थावर के कारण उत्पन्न दुःख आधिभौतिक दुःख है, इसी प्रकार देवयोनिविशेष यक्ष,राक्षस तथा विनायकवेश,ग्रहों के आवेश के कारणरूप दुःख को आधिभौतिक दुःख कहा गया है। इसी आधिभौतिक

१- ममैव जन्मान्तरपातकानां । रघु० १४-६२

२- विकारं खलु पारमार्थतोऽज्ञात्वाऽनारम्भः प्रतीकारस्य । -अभि० तृतीयोऽङ्कः पृ० ४४

दुःख दैवी विपत्तियों (अग्नि, जल, महामारी, अकालमृत्यु) तथा आधिभौतिक (शत्रु प्रभृति) दुःखों को दिलीप के मुख से कवि ने कहलाया है ।[1]

अपवर्ग ही नैयायिकों का मूल उद्देश्य है । जिसका अर्थ है दुःखों से पूर्णतया मुक्ति । प्राप्त जीवन की समाप्ति तथा पुनर्जन्म से मुक्ति ही अपवर्ग है, अतः नैयायिक अपवर्ग की व्याख्या निषेधात्मक शब्दों में करते हैं । इस अपवर्ग का उल्लेख कवि बहुतायत से करता है । रघुवंश कवि का प्रौढतम ग्रन्थ है तथा रघु-अज का प्रसंग अति रमणीय एवं अनुपमेय ही है । रघु का पुत्र प्रेम के प्रसंग में कवि ने निवृत्ति का उल्लेख अत्युत्तम उदाहरण द्वारा प्रस्तुत किया है ।[2] सर्प की भाँति त्वचा का मोह रघु के शरीर से जाता रहा और राज्यश्री भी पुत्रवधू की भाँति सेवा में लीन रही । कवि ने रघु एवं अज का एक साथ उल्लेख कर प्रेय एवं श्रेय और अपवर्ग (अभ्युदय) तथा उदयापवर्ग (निःश्रेयस्) का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है । अज जहाँ अभ्युदय में लीन हैं वहीं रघु अपवर्ग में तत्पर हैं । कवि ने निःश्रेयस् तथा अभ्युदय में इच्छापूर्वक स्नेह प्रदर्शित किया है । प्रेम के लिए बाह्य तथा श्रेय के लिए आभ्यन्तर जगत् पर किस प्रकार विजय प्राप्त की जाती है यह कवि ने स्पष्टतः दिखलाया है तथा सहज ही सम्यग्रूप से समझ सकते हैं कि वस्तुतः विषय और उसके भोग में विराग तो हो गया किन्तु विरोध का प्रश्न कहीं उदित नहीं हुआ ।[3] अज का आग्रह स्वीकार कर उन्होंने राग को भी अपना सहायक स्वीकार किया तथा योग समाधि द्वारा परमपद को प्राप्त किया । कवि इसे विविध प्रकार से मुक्ति, अपवर्ग, अनजायिपद, परार्ध्यगति, अनावृत्ति अवस्था, अजन्म शब्दों द्वारा निर्देशित करता है ।[4]

१- रघु० १-६०, २-८-१४ , ३- रघु० ८-१० , ४-रघु०८-२४,१०-२३,८-१६, १७

षष्ठ सोपान

प्रत्यभिज्ञा दर्शन तथा कालिदास

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के मूल सिद्धान्त,कालिदास
की रचनाओं में उनका स्वरूप,शब्दगत
साम्यता, कालिदास पद का अर्थ ।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन और कालिदास

धर्म एवं दर्शन की दृष्टि से निखिलकविकुलचूड़ामणि कालिदास ने किसी विशेष धर्म अथवा सम्प्रदाय विशेष के प्रति सहज आकर्षण अभिव्यक्त नहीं किया है और न किसी नवीन सम्प्रदाय की उपस्थापना की है तदपि क्वचिद् मनीषीगणों का कथन है कि कविश्रेष्ठ शैवदर्शन को स्वीकार करते थे तथा वे स्वयं शैव थे । इसी कारण उनकी प्रत्येक रचना शिवस्तुति से प्रारम्भ होती है ।[1] किन्तु कालिदास ने ब्रह्मा, विष्णु की भी विशद स्तुति अपनी रचनाओं में की है ।[2] "कुमारसम्भवम्" के द्वितीय सर्ग में ब्रह्मा की विस्तृत स्तुति प्राप्त है जो नीलमतपुराण के प्रथागत प्रार्थना से सामंजस्य रखती है ।[3] अतः कालिदास का शैव दर्शन किसी सम्प्रदाय विशेष

१- सहिदेवः परं ज्योतिः तपः पारे व्यवस्थितम् ।
   परिच्छिन्नप्रभावर्द्धिर्न मया न विष्णुना ॥ कुमार० २-५१
   रघु० १-१ ,पू०मे०
   अभि० - १-१, विक्रम० १-१, मालविका० १-१

२- रघु० १०-१६-३३, कुमार २-४-१५

३(क)- नमस्ते देवदेवेश जगत् कारण कारण, त्रैलोक्यनाथसर्वज्ञसर्वेश्वर नमोऽस्तु ते ।
नी०पु० १२६०

नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने, गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे
कुमार० २-४

(ख)- शब्दयोनिस्तथाकाशं जगद्धारयते प्रभो, कीर्येण ते महाभागत्वं च प्रोक्तस्तथापरः ।
नी०पु० १२६५

यदमोघमपामन्तरुप्तं बीजमज त्वया । अतश्चराचरं विश्वं प्रभवस्तस्य गीयते ॥
कुमार० २-५

के प्रति आस्था नहीं रखता और अन्य देवताओं को भी यथोचित सम्मान प्राप्त है।[1] डॉ० लक्ष्मीचरकल्ला ने कालिदास को अपनी पुस्तक में ईश्वराद्वय विचार से अनुप्राणित स्वीकार किया है । उनके विचारानुसार वे ईश्वराद्वय के पोषक थे ।[2] ईश्वराद्वयवाद

(ग)- त्वयासर्वमिदंव्याप्तं त्रैलोक्यं स चराचरम्, स्रष्टात्वमस्य सर्वस्य संहर्तापालकस्तथा ।
-नी०पु० १२६२

तिसृभिस्त्वमवस्थाभिर्महिमानमुदीरयन्, प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतांगतः
- कुमार० २-६

(घ)- भूमिर्धृताधारयतेत्वयेदं सचराचरम्, त्वयाधृतोधारयन्ति तथैवापोऽखिलं जगत्।
- नी०पु०१२६४

स्त्रीपुंसावात्मभागौ ते भिन्नमूर्त्तेः सिसृक्षया । प्रसूतिभाजः सर्गस्य तावेव पितरौ स्मृतौ ॥ -कुमार० २-७

(ङ)- यदुन्मीलयसिनेत्रे त्रैलोक्यस्योद्भवस्तदा, भवतीह जगन्नाथ यदास्वपिसि वै तदा ।
- नी०पु० १२६३

स्वकालपरिमाणेन व्यस्तरात्रिदिवस्य ते । यौ तु स्वप्नावबोधौ तौ भूतानां प्रलयोदयौ । कुमार० २-८

(च)- तदेतदखिलंदेवत्रैलोक्यं संप्रणश्यति । त्वत्तोऽन्यं नैव पश्यामि जगतोऽस्येह कारणम्।
-नी०पु०१२६१

जगद्योनिरयोनिस्त्वं जगदन्तो निरन्तकः । जगदादिरनादिस्त्वं जगदीशो निरीश्वरः ॥
-कुमार० २-९

आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना । आत्मना कृतिना च त्वमात्मन्येव प्रलीयसे । कुमार० २-१०

(छ)- ध्याताध्येयं तथा ध्यानं यज्ञाश्चविविधास्तथा सर्वमेतत् त्वमेवैकस्त्वतः किम् परं प्रभो । नी०पु० १२६९

त्वमेव हव्यं होता च भोज्यं भोक्ता च शाश्वतः, वेद्यं च वेदिता चासि ध्याता ध्येयं च यत्परम् । कुमार० २-१५

कुमारसम्भवम् तथा नीलमतपुराण दोनों में ही ब्रह्मा शिव की महत्ता का व्याख्यान करते हैं -

स एव भगवान् शम्भुः..... नाहं शक्नुनुतद्रूपं निरूपयितुमध्यवसायवाऽहं तस्य श्रीविष्णुः परस्य परमात्मनः ,
परंतत्त्वं न जानामि स यथास्यजगत्पतेः - नी०पु० १२७७, कुमार० २-५१

1- रघु० दशम सर्ग, कु० द्वितीय सर्ग

काश्मीर की निजी विशेषता है क्योंकि कर्नाटक का वीरशैव तथा तमिलनाडु का शैव सिद्धान्त द्वैतवादी है ।[1]

माधवाचार्य के सर्वदर्शनसंग्रह में संकलित शैव सम्प्रदायों का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि कालिदास ने जिस शैवदर्शन को स्वीकार किया है प्रत्यभिज्ञा दर्शन से सामञ्जस्य रखता है जिसे काश्मीरी शैव दर्शन की संज्ञा भी प्राप्त है । अन्य समस्त दर्शन काश्मीर से वहिर्विकसित हुए थे तथा ईश्वराद्वय से भिन्न द्वैतवाद को ही सिद्धान्त रूप में स्थापित किया था । चिन्तनीय यह है कि क्या प्रत्यभिज्ञा दर्शन चिरकाल से ही ईश्वराद्वय सिद्धान्त को स्वीकार करता था ।[2] सर रिचार्ड टेम्पल ने अनुसन्धान द्वारा तथ्य प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि प्राचीन शैव दर्शन के आगम शास्त्र का दर्शन द्वितत्त्व की सत्ता स्वीकार करता था, किन्तु पाश्चात्वर्ती आगम स्पन्द तथा प्रत्यभिज्ञा दर्शन ईश्वराद्वय का प्रतिपादन करता है । किन्तु जे०सी० चटर्जी के "काश्मीर शैविज़्म" जिसके आधार पर सर रिचार्ड टैम्पल ने अत मा का उपस्थापन किया वे इस विचार का अनुमोदन नहीं करते । डॉ० चटर्जी का कथन है कि कुछ आगमशास्त्र द्वैत हैं किन्तु इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि काश्मीर में ईश्वराद्वयवाद तथा ईश्वरद्वयवाद दोनों ही साथ-साथ उद्भवित एवं विकसित हुए क्योंकि नीलमतपुराण में इस प्रकार के संकेत प्राप्त होते हैं । अतः यह कथन अनुचित है कि प्राचीन काल में प्राप्त काश्मीरी शैव दर्शन ईश्वराद्वय सिद्धान्त का पोषक नहीं था, यह सम्भव है कि उसका तत्कालीन स्वरूप वर्तमान प्राप्त प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्तों से भिन्न हो । नीलमतपुराण[3] जिसका स्थितिकाल सर्वसम्मति से षष्ठ या सप्त शताब्दी है उसमें प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्तों का

2(back page) - Pandit Lachmmi Dhar Kalla - "The Birth place of Kalidasa" ~~Ed~~ Page 27-39

1.J.C. Chatterjee -"Kashmir Shaivism" Part I

2.Temple's work of Lalla P.111

3.Lachmmi Dhar Kalla -"The Birthplace of Kalidas - परिशिष्ट ।

उल्लेख प्राप्त है । अतः सर रिचार्ड टेम्पल का यह वक्तव्य कि "सुप्रसिद्ध वेदान्ती शंकराचार्य के प्रभाव में त्रिक दर्शन अद्वैत में परिवर्तित हो गया था" अनुचित है । यद्यपि ईश्वराद्वय काश्मीर से बाहर शंकराचार्य के पूर्व प्रचलित न हो सका तथापि षष्ठ शताब्दी में रचित नीलमतपुराण में प्राप्त ईश्वराद्वय इस सिद्धान्त की पुष्टि करता है कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन नीलमतपुराण के पूर्व ही अद्वय को स्वीकार करता था । अतः कालिदास नेभी शिव का अद्वैत सिद्ध करने में शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन की ही सहायता ली होगी । सम्प्रति प्रत्यभिज्ञा दर्शन के वाङ्मय को तीन शीर्षकों में विभाजित किया गया है ।

आगमशास्त्र दैवीज्ञान माना जाता है जो गुरु शिष्य परम्परा से चला आ रहा है । स्पन्दशास्त्र में दर्शन के मुख्य सिद्धान्तों की विवेचना है । प्रत्यभिज्ञाशास्त्र शैव दर्शन के मुख्य सिद्धान्तों का मानव की तार्किक बुद्धि के लिए व्याख्या करता है तथा इसमें आगम के दार्शनिक पक्ष का प्रतिपादन हुआ है, इसके तर्क,वाद प्रतिवाद का प्रयोग किया गया है ।

शैव दर्शन का वह प्रकार विशेष जिसे प्रतभिज्ञादर्शन की संज्ञा दी गई है वह आठवीं शताब्दी के पश्चात् ही विकसित हुआ अतः कालिदास इस सिद्धान्त की कल्पा किस प्रकार कर सकते हैं जिसका आविर्भाव ही उस काल में न हुआ हो ? इस आक्षेप के उत्तर में यह समाधान है कि यद्यपि सोमानन्द ने नवीं शताब्दी में प्रत्यभिज्ञा दर्शन को सुव्यवस्थित ढंग से नियोजित किया किन्तु उसका उद्भव बहुत पूर्व हो चुका था जिसे त्र्यम्बक के आधार पर त्रिक दर्शन कहा गया था । आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में वर्तमान वसुगुप्त जिसने प्रत्यभिज्ञा को नवीन जीवन प्रदान किया । उसे भी शिव का

अनुग्रह प्राप्त था ऐसी जनसामान्य धारणा है । कुछ प्राचीन संकलनों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि काश्मीर में प्रत्यभिज्ञा दर्शनप्राचीन काल से ही विद्यमान था किन्तु बौद्धदर्शन के प्रभाव में उसकी महत्ता कम हो गई थी, उसी का पुनर्जन्म आठवीं शताब्दी में हुआ था । शैव दर्शन का "आगम खण्ड" जिसे दैवीय ज्ञान माना गया है के विषय में बताया गया था कि साक्षात् शिव ने इस दर्शन के विषय में बताया था किन्तु यह निश्चयतः अत्यधिक प्राचीन घटना होगी क्योंकि आठवीं शताब्दी के लेखकों ने इस प्रकार का कोई संकेत नहीं दिया है । जे०सी० चटर्जी का कथन है कि ईसा की आठवीं शताब्दी में प्रत्यभिज्ञा दर्शन का पुनरुत्थान हुआ था, उसका आविर्भाव बहुत पूर्व हो चुका था तथा उसे ईश्वराद्वयवाद सिद्धान्त ही मान्य था , यह संकेत भी नीलमतपुराण से ज्ञात होता है । कालिदास ने इसी त्रिक दर्शन के आधार पर अपनी रचनाओं का निर्माण किया था ।[1] त्रिक दर्शन के आगमशास्त्र का विवेचन भी प्राप्त है अतः कालिदास आगमवृद्ध थे अर्थात् आगम के प्रकाण्ड पण्डित थे , क्योंकि प्रौढतम रचना रघुवंश के "इन्दुमती स्वयंवर" में अनूप देश के नृप की प्रशंसा में "आगमवृद्धसेवी" विशेषण से अलंकृत किया है ।[2] स्वयं कालिदास का विश्वास है कि आगम विद्या का ज्ञान व्यक्ति की बुद्धिमत्ता के आधार पर ही होता है -- "प्रज्ञया

१-(क) श्री त्र्यम्बकसंज्ञमध्यमुक्तामय स्थितेः
श्री सोमानन्दनाथस्य विज्ञानप्रतिबिम्बकम् ।"
– ई०प्र० २

(ख) चैतन्यमात्मा शिवसूत्र १-१
स्वात्मैवसर्वभूतानां एक एव महेश्वरः । ईश्वरप्रत्यभिज्ञादर्शन, पृ० ४-११
चिदेवभगवती तत्तज्जगत् आत्मना स्फुरति । प्रत्यभिज्ञाहृदय पृ० ३

२- रघु० ६-४१

सद्दृशायमः"[1] तथा प्रत्यभिज्ञा द्वारा सम्पादित कर्म सर्वदा पूर्ण होता था । अतः कालिदास सम्मत आगम शैव सम्मत आगम शास्त्र जहाँ ज्ञान एवं क्रिया दोनों की आवश्यकता समझी गई है, उसी के समान है । अतः कालिदास का प्रत्यभिज्ञा संदेश नीलमतपुराण में वर्णित ईश्वराद्वयसिद्धान्त पर आधारित है । अतः कालिदास ने प्रत्यभिज्ञा दर्शन को किस प्रकार अपनी रचनाओं में स्थान दिया है उसका विशद विवेचन अभीष्ट है ।

प्रत्यभिज्ञा दर्शनानुसार एकमात्र तत्व शिव है उसी से अन्य समस्त तत्व अभिव्यक्त होते हैं । प्रत्येक जीव में रहनेवाला शिव ही आत्म तत्त्व है । अपने चरम रूप में इसे परासंवित्, परमेश्वर, शिव या परमशिव कहते हैं । यह तत्व मात्र जीव में नहीं प्रत्युत जड़ अथवा चेतन जितनी वस्तुएँ विश्व में है सभी में व्यष्टि तथा समष्टिरूप से वर्तमान है । यह अनन्त वस्तुओं में रहने पर भी एक है तथा एकरूप में समस्त वस्तुओं में विद्यमान है । देशकाल से परे तथापि समस्त देश तथा कालों में एकरूप में वर्तमान है । यह नित्य तथा अनन्त है तथा विश्वव्यापी-विश्वातीत है । परमशिव स्वयं षट्त्रिंशति तत्वों के रूप में जगत् में भासित होता है । विश्वोत्तीर्ण, विश्वात्मक, परमानन्दमय तथा प्रकाशैकघन इस शिव तत्व का ही अपने से लेकर पृथ्वीपर्यन्त प्रत्येक तत्त्व अभिन्न रूप में स्फुरण है । इस तत्व के अतिरिक्त वस्तुतः अन्य क्वचित् अपि ग्राह्य ग्राहक नहीं । यही परम शिव भट्टारक नाना वैचित्र्यों के रूप में स्वयं स्फुरित होता है, वह इच्छा, काम, क्रियात्मक तथा पूर्णानन्द स्वभाव का है । सृष्टि अवस्था में विश्वाकार होने के कारण स्थिति में विश्व के प्रकाशन द्वारा तथा संहार में आत्मसात् करने से शिव में जो अकृत्रिम अहं भाव है उसी को विमर्श

१- रघु० १. १५

शक्ति कहते हैं । यदि शिव में विमर्श शक्ति न हो तो वे अनीश्वर और जड़ हो जाऍगे । चित्, चैतन्य, परावाक् परमात्मा का मुख्य ऐश्वर्य कर्तृत्त्व, स्फुरता आदि शब्दों द्वारा आगमों में विमर्श का ही वर्णन है । इस शक्ति में अनन्तस्वरूप है किन्तु पञ्चस्वरूप-चिदानन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया महत्त्वपूर्ण है । शक्ति के इन पंचस्वरूपों से सम्पन्न शिव अपने आप समस्त विश्व की अभिव्यक्ति करते हैं । वस्तुतः यह जगत् शिव की शक्ति का ही विस्तृत रूप है, जिसे परमशिव ने अपने में स्वेच्छा से अभिव्यक्त किया है ।[1] इसके द्वारा यह प्रदर्शित है कि महेश्वर को विश्व की रचना में किसी की आवश्यकता नहीं तथा न हि किसी सामग्री की । उसकी इच्छा ही क्रिया है विश्व की रचना है । सृष्टि, स्थिति तथा संहार विलय, अनुग्रह इन पंचकृत्यों को शिव सर्वदा करते रहते हैं । शिव अपने अन्तर से जगत् को बहिर्मुख करता है (सृष्टि)[2] उसे कुछ काल के लिए स्थित रहता है (स्थिति) पुनः अपने में समेट लेता है (संहार)[3] जब शिव अपनी माया द्वारा आत्मगोपन करके परिमित या परिच्छिन्न प्रमाता बन जाता है तब उसे पुरुष[4] की संज्ञा प्राप्त होती है । प्रमाता अथवा पुरुष हो जाने पर शिव का कर्तृत्त्व कला में किंचिद् कर्तृत्व में परिणत हो जाता है, उसका पूर्णत्व राग में परिणत हो जाता है, उसका नित्यत्व काल में, व्यापकत्त्व नियति में परिणत हो जाता

१- निरुपादानसंभारमभित्तवेव तन्वते ।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलानाथाय शूलिने ।। वसुगुप्त
२- विश्वस्यप्रमातृ प्रमेयरूपस्य पराहन्ताचमत्कार सार स्यापि
स्वस्वरूपापोहनात्माख्यातिमयी निषेधव्यापाररूपा या पारमेश्वरी शक्तिः
३- विश्वस्यप्रमातृ प्रमेयरूपस्य पराहन्ताचमत्कार सार स्यापि - प्र० ह० ४
स्वस्वरूपापोहनात्माख्यातिमयी निषेधव्यापाररुपा या पारमेश्वरी शक्तिः
- प्र० ह० पृ० ४
४- शिव एव गृहीतपशुभावः परमार्थसार " अभिनवगुप्त "

है, माया के पंचकंचुकों द्वारा शिव स्वयं को आवृत्त कर लेता है ।[1] शंकर के विवर्तानुसार जगत् में जो कुछ है वह नामरूप है , सत्य नहीं । किन्तु ईश्वराद्वयावाद के अनुसार आभास परमशिव[2] की कल्पना या अनुभव के कारण सत्य है ।

मालविकाग्निमित्रम्[3] में कालिदास ने शिव-शक्ति के सामरस्य से सृष्टि प्रक्रिया का उल्लेख किया है, अतः शिव तथा शक्ति के सामरस्य से विश्व सर्जन की कल्पना कालिदास को शैव दार्शनिक सिद्ध करता है । इसके अतिरिक्त महाभारत के कथानक पर आधारित विश्वप्रसिद्ध नाटक अभिज्ञान शाकुन्तलम्" में कवि ने दुर्वासा के श्राप अंगुलीयक का गिरना, फलस्वरूप दुष्यन्त का विस्मरण पश्चात् नाटक चक्र में दुष्यन्त का रुदन और काश्मीर में प्रणयी युगल का सम्मिलन इन घटनाओं की कल्पना कर नाटक को नवीनतम रूप प्रदान किया है । इन मौलिक कल्पनाओं का परिचय प्रदान करते हुए कवि अपने शैव दर्शन ज्ञान को संकेत देते हैं । महाभारत की ऐतिहासिक, निर्जीव तथा निष्प्राण कथा में कवि ने दो महत्वपूर्ण नवीनताएँ समाविष्ट की हैं -- दुर्वासा का श्राप तथा उसकी निवृत्ति के लिए मुद्रिका की व्यवस्था । कथानक को अधिक रोचक तथा आकर्षक बनाने के लिए मुद्रिका का गिर जाना तथा अन्त में काश्मीर में शकुन्तला-दुष्यन्त का सम्मिलन कराकर काश्मीरी शैव सिद्धान्त को सुदृढ़ बनाया है। वस्तुतः काव्य का प्राण ही नवीन घटनाओं का समन्वय है तथा हर्ष का विषय है कि कविश्रेष्ठ ने प्रणयरूपक में दर्शन तथा काव्य का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत कर अपनी प्रतिभा को उच्चतम शिखर पर पहुंचा दिया है । यहाँ शकुन्तला को शक्ति तथा दुष्यन्त को शिव द्वारा संकेतित किया

१- तिरोधानकरीमायाभिधा पुनः ई० प्र०
माया विमोहिनी नाम - मोहः आवरणं, तस्य वशो विच्युतिः, तथा च शक्ति मानक्रियते ।
२- आदर्शे मलरहिते यद्वद्वदनं विभाति तद्वदयम् ।
शिवशक्तिपातविमले धीतत्वे भातिभारूपः ॥ परमार्थसार
~~परमार्थसार~~ चेतनो हि स्वात्मदर्पणे भावान् प्रतिबिम्बवदाभासयति - ई०प्र०

गया है । अभिज्ञान अथवा प्रत्यभिज्ञा शब्द का बारम्बार प्रयोग भी इसी दर्शन को संकेतित करता है । नाटक की संज्ञा अभिज्ञान-शाकुन्तलम् " रखकर भी कवि ने दार्शनिक विचारों[1] को ही प्रस्फुटित किया है । अभिनवगुप्त ने "ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी" में प्रत्यभिज्ञा की व्याख्या करते हुए कहा कि इसी अभिज्ञान अथवा अनुग्रह द्वारा शक्तितत्त्व या ईश्वर का अनुभव पुरुष होता है । अभिज्ञानशाकुन्तल भी शकुन्तला दुष्यन्त के गान्धर्व विवाह से प्रारंभ होता है जिसके मूल में सृष्टि रचना का गूढ़ रहस्य छुपा है ।[2] शकुन्तला तथा दुष्यन्त ने गुरुजनों की अनुमति के अभाव में परिणय किया, क्योंकि प्रत्यभिज्ञानुसार वे शिव-पार्वती के ही रूप हैं जिनकी आत्माओं का पूर्वकालिक मिलन हो चुका है । जिस प्रकार शिव[3] पार्वती के लिए "प्रिये","हृदयं परमेशितु" प्रयोग करते हैं उसी प्रकार शकुन्तला दुष्यन्त की प्रिया है । शिव आनन्द के क्षणों में शक्ति के माध्यम से जगत् की सृष्टि करते हैं[4] उसी प्रकार शक्तिरूपा शकुन्तला का पुत्रसहित दिखाना आवश्यक है । इसके द्वारा शक्ति (शकुन्तला) शिव

३(पू०पृ०)- रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा । मालविका० १-४

१-(क) किंत्वभिज्ञानाभरणदर्शनेन शापो निवर्तिष्यते । अभि० चतुर्थांक,पृ० ६०

(ख) सखि यदि नाम स राजा प्रत्यभिज्ञानमन्थरो भवेत्ततस्येदम् आत्मनामधेयांकितमंगुलीयकं दर्शय । अभि० चतुर्थांक,पृ० ७६

(ग) अपनेष्यामि तावत्तेऽवगुण्ठनम् । ततस्त्वां भर्ताभिज्ञास्यति ।
-अभि० पंचमोंक:पृ०८८

(घ) अथवेदृशोऽनुरागोऽभिज्ञानमपेक्षते । अभि० षष्ठोऽङ्कः,पृ०११

२- प्रलयस्थितिसंहारपिधानानुग्रह लक्षणानि पञ्चकृत्यानि । तत्र पिधानं नाम संस्कारमात्रतया स्थितस्यापि विलीनीकरणम् । अनुग्रहः स्वातन्त्र्य तादात्म्यतयावस्थापनमिति । ई० प्र० वि० पृ० ५

३- सैषा सारतयाप्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ई० प्र० वि० पृ० ५

४- स्वातन्त्र्यमहिम्नाप्रकाशते ई० प्र० वि० पृ० ५

(दुष्यन्त) की इच्छा से जगत् की सृष्टि प्रारम्भ करती है जो परमशिव का ही कार्य है, यह संकेतित है । सृष्टि के पश्चात् माया पंच से शिव स्वयं को आवृत्त कर लेता है तथा पुरुष मायोपहित शिव के स्वरूप को पहचान नहीं सकता । इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर नाटककार ने दुष्यन्त को अपनी राजधानी में प्रेषित किया है तथा जब वह शकुन्तला का स्मरण नहीं कर सकता क्योंकि शक्ति निषेधात्मक व्यापार है।[1] अतः मायोपहित शिव अर्थात् पुरुष अपना मूलस्वरूप को भूलकर संसारी हो जाता है । नाटककार ने विस्मृति के लिए दुर्वासा को श्राप की कल्पना की है । क्योंकि महाभारत की ऐतिहासिक कथा में इस श्राप की विवेचना प्राप्त नहीं होती, यह कल्पना कवि की मौलिकता का परिचायक है, जिसमें नाटक के कथानक को कौतुहलपूर्ण बना दिया है । श्राप शकुन्तला दुष्यन्त के सम्मिलन में विघ्नकारक है । यही श्राप प्रत्यभिज्ञा दर्शन में नियतिपद द्वारा संकेतित है । सृष्टि क्रम में सृष्टि के पश्चात् शिव अपने स्वरूप का विलय, विधान, तिरोधान अथवा निग्रह कर देते हैं, यह मोह माया शक्ति के माध्यम से होता है ।[2] इसके पश्चात् शिव अपने स्वरूप को प्रकाशित करते हैं तथा यह मा- अध्यात्म ज्ञान अथवा गुरु के द्वारा उपदेश द्वारा ज्ञात होता है ।[3] यह ज्ञान अपने प्रत्यभिज्ञा द्वारा ही होता है इसी कारण दुर्वासा ने अपने श्राप निवृत्ति का उपाय आत्मनामधेयांकिता प्रत्यय का दर्शन बतलाते हैं । अपनी अंकुलीयक के दर्शन के साथ ही दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला का स्मरण देखकर सानुमती आश्चर्यस्तम्भित

१- निषेधव्यापाररूपा या पारमेश्वरी शक्तिः परमार्थसार ४

२- .... महेशस्य देवीमायाशक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैतत् न पुनः ब्रह्मवादिनामिव कर्मी काचित् माया उपपद्यते ।

३- परमार्थमार्गमेनं झटिति यदागुरुमुखात् समभ्येति - प०सा० १७ ।

हो उठी है ।[1] शकुन्तला आवरणहीन मुख में दुष्यंत के सम्मुख स्थित है किन्तु दुष्यन्त उसका अभिज्ञान नहीं कर सकता । यह घटना प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आभासवाद से समानता रखती है । आभासवादानुसार समस्त विश्व का अधिष्ठान चित् या संवित् है । चित्र-विचित्र सर्वदा परिवर्तन आभास उसी चित् के आविर्भाव मात्र हैं जो कुछ भी किसी रूप में प्रकट है, वह प्रमेय प्रमाता , ज्ञान ; ज्ञान के साधन अथवा इन्द्रियों के रूप में वे समस्त उसी परमचित् का आभास मात्र है । आभास का अर्थ आ (ईषत् अर्थात् संकुचित रूप में भासः प्रकाशन कुछ संकुचित रूप में भासन या प्रकाशन आभास कहलाता है, सभी प्रकार का आविर्भाव परिसीमित होता है, जो कुछ भी विद्यमान है वह आभासों का विन्यास मात्र है । यावत्पर्यन्त विलय अथवा तिरोधान की क्रिया रहती है, शक्ति तथा शिव में सम्मिलन नहीं होता । मायोपहित पुरुष शक्ति का अभिज्ञान नहीं कर सकता । शिव ही सृष्टि का वैभव है अतः जब वे अनुग्रह करते हैं उस स्थिति में माया के पंचकंचुकों का आवरण हट जाता है तथा पुरुष-शक्ति का सामरस्य होता है, किन्तु वहाँ प्रत्यभिज्ञान की आवश्यकता होती है । शाकुन्तल में भी पंचमोङ्क में शकुन्तला जब दुष्यन्त के सम्मुख प्रस्तुत होती है, वहाँ वह आपन्न सत्त्वा थी, अतः शक्ति ने अपना सृष्टिकार्य पूर्ण नहीं किया था । महाभारत में शकुन्तला पुत्रसहित दुष्यन्त के सम्मुख प्रस्तुत हुई हैं किन्तु कालिदास की शकुन्तला गर्भ-भरालसा है अतः सृष्टिकार्य पूर्ण न होने के कारण शिव अनुग्रह नहीं कर सकते ।[2] संसारी पुरुष शक्ति को पहचान नहीं सकता किन्तु जब शिव शक्ति के माध्यम से विश्वसृजन कर चुकता है तथा कुछ काल तक स्थित रखने के पश्चात् पुनः समेटने के लिए अनुग्रह करता है उस वेला में मायोपहित पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप पर

१- अभि० शाकुन्तल , षष्ठोङ्कः ,पृ० ११३
२- परमार्थसार ९

शिव को पहचान लेता है । उसी प्रकार पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् शकुन्तला का सृष्टि कार्य समाप्त होता है तथा प्रत्यभिज्ञान रूप अंगुलीयक के प्राप्त होने पर दुष्यन्त (संसारी) के सम्मुख से शाप रूप माया का आवरण हट जाता है तथा शक्तिरूप शकुन्तला के लिए काश्मीर जाता है । प्रत्यभिज्ञानुसार ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व परमेश्वर का ही स्वरूप है तथा कर्तृत्व ईश्वर की उपाधि नहीं प्रत्युत स्वरूप है ।[1] इसी कारण दुष्यन्त का शकुन्तला को लेने जाना संकेतित है । माया शिव की शक्ति होने के कारण यथार्थ है तथा नानात्व और भिन्नता उत्पन्न करती है, किन्तु वह शिवमयी है । मोक्ष की अवस्था में प्रत्यभिज्ञान के कारण शक्ति और शिव का सामरस्य होता है ।[2] इसी प्रकार दुष्यन्त ने अंगुलीयक रूप प्रत्यभिज्ञान द्वारा शकुन्तला का स्मरण किया तथा शक्ति (शकुन्तला) तथा शिव (दुष्यन्त) का सम्मिलन सम्भव हो सका ।

नाटक के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अंगुलीयक के अभाव में समक्ष आवरणहीनमुखा शकुन्तला का दुष्यन्त स्मरण न कर सका, यही वस्तुस्थिति प्रत्यभिज्ञा में भी स्पष्ट की गई है कि साधनाभाव में जीव अपने दिव्य शक्ति को विस्मृत कर देता है । उसके लिए आध्यात्म शास्त्र, गुरुनिर्देश अथवा स्वगत प्रत्यय आवश्यक है ।[3] जीव स्वयमेव ईश्वर का ज्ञान नहीं कर सकता तथा प्रत्यभिज्ञान के अभाव में यह अनुभव असम्भव है । इसके उदाहरण-स्वरूप सर्वदर्शनसंग्रह[4] में कहा गया है कि जिस प्रकार

१- कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे ।
   अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः । - ई०प्र० १ १-२

२- परमेश्वरस्य निरतिशयम् यत् पूर्णस्वरूपतापरित्यागे भोक्तृभोग्यस्वभावं पशुभाव-मापन्नोऽपि सर्वप्रमातृणां अनुभवितृ तया स्वात्मनि प्रस्फुरन् चिदानन्दैकधनः शिव एव

३- शास्त्रगुरुस्वप्रत्ययसिद्धोऽयमर्थः ई० प्र० ॥ ४-१,२

४-(क) सर्वदर्शनसंग्रह - प्रत्यभिज्ञा -दर्शन अध्याय पृ० ३७२
  (ख) स्थितोऽप्यन्तिके कान्तालोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा प्र०ह० ४-३२

कामिनी नायक के गुण समूह को केवल श्रवण कर उससे प्रेम करने लगता है तथा मदनाग्नि से पीड़ित होकर विरहवेदना को सहने में असमर्थ हो जाती है तथा किसी उपाय द्वारा मदनलेख भेज अपनी अवस्था का निवेदन उस नायक को कर उसके समीप जाकर उसको देखने लगती है किन्तु उसके गुणों के परामर्श के अभाव में वह स्त्री उस नायक को साधारण व्यक्ति के समान देखती है फलस्वरूप वह आनन्द या सन्तोष प्राप्त नहीं करती, किन्तु जब दूती आकर उसे अपने वाक्यों द्वारा नायक के गुणों की पहचान करा देती है तब वह नायिका शीघ्र ही पूर्ण रूप से प्रेम करने लगती है । इस दृष्टान्त द्वारा यह दिखलाया गया है कि बिना अभिज्ञान कराए बिना कोई किसी में रुचि नहीं ले सकता, इस प्रकार अंगुलीयक, शास्त्र अथवा प्रत्यय प्रत्यभिज्ञान में सहायक है । किन्तु इसके लिए आवश्यक है कि इस मिलन के पूर्व एक मिलन हो चुका हो, क्योंकि उसके अभाव में प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकता ।[1] अतः संसारी पुरुष अपनी पूर्वावस्था में परमशिव से सम्मिलित रहता है, यह स्वीकार करना आवश्यक है प्रत्यभिज्ञा के पश्चात् प्रत्यभिज्ञा चिह्न यहाँ अंगुलीयक अथवा शास्त्र का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है, अतः शकुन्तला पुनः उस प्रत्यभिज्ञान स्वरूप अंगुलीयक को धारण करना अस्वीकार करती है । वस्तुतः इस निषेध का अर्थ है कि अंगुलीयक द्वारा परिज्ञान होनेके पश्चात् शिव शक्ति का सम्मिलन फलस्वरूप अंगुलीयक की व्यर्थता संकेतित है दुष्यन्त शकुन्तला के साहचर्य को प्राप्त करता है, जिसे प्रत्यभिज्ञा दर्शन में उपलब्धि कहा गया है , जिसका अर्थ है शिव के साथ व्यक्तिगत वार्तालाप । इसी कारण कालि-दास ने शाकुन्तल का पूर्ण अंक रचा है । सप्तमोऽङ्क/ के प्रारम्भ में दुष्यन्त इन्द्र

१- सहिपूर्वानुभूतार्थोपलक्षधापरसोऽपिसन् ।
विमृशन् स इति स्वैरी स्मरतीत्युपदिश्यते ॥ - ई०प्र० १. ४ :१

के शत्रुओं से युद्ध करने के लिए जाता है तथा कश्मीर में शकुन्तला से उसका सम्मिलन होता है जो प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का उत्पत्तिस्थल है । इस दर्शनानुसार अन्तःकरण की प्रेरणा से ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों द्वारा निष्पन्न कर्म की जो वासनाएँ अथवा संस्कार चित्त में रह जाते हैं, उसे कार्ममल कहते हैं । ये ही वासनाएँ जीव को एक जन्म से दूसरे जन्म के प्रति प्रवृत्त करती है । कालिदास भी इन्द्र के युद्ध द्वारा इन्द्रियों के कर्मरूप शत्रुओं को ही संकेतित कर रहे हैं, जब कार्ममल की समस्त अशुद्धियाँ ईश्वर के अन्तस्थल में विद्यमान प्रेम अथवा प्रत्यभिज्ञा के विशुद्ध लपटों में जलकर भस्मीभूत हो जाता है ।[१] अतः प्रत्यभिज्ञा अथवा प्रेमल चिन्ह द्वारा परम शिव अथवा उसकी शक्ति का अनुभव होता है, अतः शकुन्तला के सम्मिलन के पूर्व ही दुष्यन्त द्वारा उसका प्रत्यभिज्ञान आवश्यक है । एतदतिरिक्त दुष्यन्त इस सम्मिलन को काश्यप का अनुग्रह कहते हैं । अनुग्रह[२] भी प्रत्यभिज्ञा दर्शन का विशिष्ट पद है तथा अनुग्रह का अर्थ ईश्वर के यथार्थ रूप का प्रकाशन है, अतः काश्यप आभासवाद का संकेत दे रहे हैं ।[३] काश्यप के आश्रम में दुष्यन्त का पुत्र सर्वदमन को स्वीकार करने के मूल में भी प्रमाता तथा प्रमेय में अभिन्नता स्वीकार करना है । जिस प्रकार प्रत्यभिज्ञा दर्शन में विश्व को क्रियात्मक रूप में समझा गया है[४] उसी प्रकार कालिदास

१- सर्वोत्तीर्णरूपं सोपानपदक्रमेण संश्रयतः ।
परतत्वरूढ़िलागे पर्यन्तेशिवमयीभावः ॥

२- (क) परमेश्वरानुग्रहोपाय एव स्वात्मज्ञानलाभः - प० सा० ९६
(ख) निमित्तनैमित्तकयोरयंक्रमः तव प्रसादस्य पुरस्तु संपदः - अभि० ७-३०

३- (क) अभि० ७-३२
(ख) अप्रत्यभिज्ञातात्मपरमार्थानां समलोकव्यवहारः ।
अन्येषां स एव निर्मलः ॥ ई० प्र० १, ७, १४

४- (क) एष विवाद एव प्रत्याययति । अभि० संलोद्ध्कः पृ० ४०

भी विश्व को कर्मभूमि स्वीकार करते हैं उन्हें वेदान्त सम्मत "ब्रह्मसत्यं जगत्मिथ्या" अभीष्ट नहीं है । कश्यप ने दुष्यन्त को पुत्रपत्नीसहित विश्व के कल्याण का आदेश दिया है वह भी प्रत्यभिज्ञा दर्शन का मूल सिद्धान्त है ।[1] शकुन्तला के शाप का कारण भी यही था, उसने प्रमादवशात् दुर्वासा मुनि के प्रति अपने कर्तव्य का संपादन किया था, कर्त्तव्यनिष्ठा का संकेत कवि धीवर के प्रसंग में भी देते हैं । कर्त्तव्यनिष्ठा प्रत्यभिज्ञा दर्शन का मूल सिद्धान्त है । बौद्ध दार्शनिकानुसार[2] जगत भ्रम है इसका खण्डन भी शाकुन्तल में हो जाता है, क्योंकि वहाँ कर्म की प्रधानता है तथा कर्त्तव्य के प्रति उन्मुखता ही सर्वोच्च है ।[3] दुष्यन्त तथा शकुन्तला के सम्मिलन में कथानक समाप्त नहीं हो जाता, प्रत्युत उन्हें इसी जगत् में रहकर मानव सेवा का आदेश काश्यप देते हैं ।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि कालिदास ने शाकुन्तल में नवीनताएँ समन्वित कर उसके कथानक को प्रत्यभिज्ञा के सिद्धान्तों के आधार पर निर्मित किया । इसके अतिरिक्त क्वचिद् पंक्तियाँ भी प्रत्यभिज्ञा दर्शन से साम्यता रखती हैं उनपर दृष्टिपात करना आवश्यक है ।

सुस्पष्ट तथा सर्वप्रथम उल्लेख जो प्राप्त होता है, वह नाटक का नामकरण है । "अभिज्ञान शाकुन्तल" में अभिज्ञान शब्द को नाटक के शीर्षक रूप में रखकर ही कवि

(ख) क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते । कुमार० ५-८६

(ग) विभक्तमप्येकसुतेन तत्तयोः परस्परस्योपरि पर्यचीयत - रघु० ३-२४

१- जनान् यथेप्सितान् पश्यन् जानाति च करोति च । - ई० प्र० ॥ ४. १. १५

२- प्राग्ये राज्यक्षणे तेषां प्रायः काश्मीरमण्डलं भोज्यमास्ते स्म बौद्धानां प्रव्रज्योर्जितं तेजसां ।
- राजतरंगिणी

३- अभि० ६-२

ने अपनी अभिरुचि प्रदर्शित की है । अष्टमूर्ति[1] में शिव की जो स्तुति नान्दी श्लोक में प्राप्त है, उसके द्वारा "ईश्वराद्वयवाद" की ही पृष्ठभूमि प्रतीत होती है । शिव ही अपनी शक्ति से विवाह कर आनन्द के क्षणों में इच्छा शक्ति के माध्यम से सृजन करते हैं । माया के कारण शिव मायोपाधिविशिष्ट पुरुष बन अपनी शक्ति से वियुक्त होते हैं जिसे शाकुन्तल में शाप[2] द्वारा माया की कल्पना की गई है, अन्ततः प्रत्यभिज्ञा द्वारा सम्मिलन सम्भव है । अतः शकुन्तला को उसकी सखियों का कथन है कि यदि नृपश्रेष्ठ न पहचाने तब उसे अंगुलीयक दिखाना । शकुन्तला जिस समय दुष्यन्त के सम्मुख उपस्थित हुई है उसकी तुलना कवि ने क्रिया से दी है । तथा दुष्यन्त समस्त अर्हतासमूह के नायक रूप में वर्णित है । "अर्हता प्रागसरः" अर्हत् बौद्ध दर्शन में सर्वोच्च ज्ञानयुक्त व्यक्ति की संज्ञा है । कालिदास के विचारानुसार शिव जो उनका अभीष्ट है, वह समस्त ज्ञान का स्वामी है । अन्यत्र कवि ने स्पष्टतः दुष्यन्त की कल्पना शिव से की है ।

बुद्ध से शिव की श्रेष्ठता स्वीकार करते हुए नाटककार ने न मात्र "अर्हता प्रागसरः"[3] प्रयोग किया है , प्रत्युत शाकुन्तल के द्वितीयोङ्क में "सिद्धार्थास्वः"[4] पद का भी प्रयोग किया है । उसके द्वारा यह ध्वनित है कि शिव पर आस्था रखकर ही सिद्धार्थ बना जा सकता है, उसके लिए बौद्धधर्म को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं । पुनः शकुन्तला पर प्रथम दृष्टिपात बेला में दुष्यन्त की आनन्दाभिव्यक्ति में "निर्वाण"[5] पद का प्रयोग हुआ है,जो बौद्ध धर्म का विशिष्ट पद है । अतः कवि

१- अभिज्ञान० - १. १

२- विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा - अभि० ४-१

३- त्वमर्हतां प्रागसरः । अभि० ५-१५

४- हन्त सिद्धार्थौ स्वः । अभि० द्वितीयोङ्क : ३५

५- अहो लब्धनेत्रनिर्वाणम् - अभि०

पर बौद्ध दर्शन का भी पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है ।

जिस प्रकार प्रत्यभिज्ञा दर्शन में पार्वती के लिए क्रियाशक्ति तथा शिव के लिए ज्ञानशक्ति पद प्रयुक्त है उसी प्रकार की पंक्ति शार्ङ्गरव ने भी "शाकुन्तल" के पंचमोङ्क में कही है ।[1] उस काल में शकुन्तला आपन्नसत्वा है[2], किन्तु शापाधीन दुष्यन्त विस्मृति की अवस्था के कारण स्मृति की धुंधली छाया आकर लौट जा रही है ।[3] गौतमी शकुन्तला के मुख से आवरण हटाती है[4], किन्तु शापाधीन नृप अशंकायुक्त है तथा इस स्थिति में उसे प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है और वह प्रिया का परित्याग कर देता है ।[5] किन्तु अंगुलीयक रूप प्रत्यभिज्ञा की प्राप्ति के पश्चात् उसकी स्मृति वापस लौट आती है तथा वह शकुन्तला का साक्षात्कार चाहता है ।[6] उसकी विरहावस्था देखकर अप्सरा सानुमती आश्चर्यान्वित करती है ।[7] किन्तु कार्ममल के भग्न हुए बिना शक्ति

१- त्वमर्हतां प्राग्रसरः स्मृतोऽसि नः शकुन्तला मूर्तिमती च सत्क्रिया - अभि० ५-१५
२- तदिदानीमापन्नसत्वेयं प्रतिगृह्यतां सहधर्मचरणायेति - अभि० पंचमोङ्कः पृ०८६
३- तदिदानीमाप तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥ अभि० ५-२
४- जाते मुहूर्तं मा लज्जस्व । अपनेष्यामि तावत्तेऽवगुण्ठनम्
ततस्त्वां भर्ताऽभिज्ञास्यति । - अभि० पंचमोङ्कः पृ० ८८
५- इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति,
प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेत्यध्यवस्यन्
भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्ततुषारम् ,
न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम् ॥ अभि० ५-१९
कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामि न परिग्रहं मुनेस्तनयाम् ।
बलवत्तु दूयमानं प्रत्याययतीव मे हृदयम् ।। अभि० ५-३१
६- अनुग्रहश्चक्रमिकः अक्रमिकश्च ई० प्र०
७ सति खलु दीपे व्यवधानदोषेणैषोऽन्धकारदोषं अनुभवति । अभि०षष्ठोङ्कः:पृ०१२३
८- देवादीनां च सर्वेषां भविनां त्रिविधं मलं ।
तत्रापि कार्ममेवैकं मुख्यं संसार कारणम् ॥ ई० प्र० ॥ ३२-१०

का दर्शन नहीं हो सकता । अतः सानुमती अपने विचार प्रकट करती है ।[१] शकुन्तला के सम्मिलन के पूर्व दुष्यन्त उसके चित्र प्रभृति में अपना काल उसी प्रकार व्यतीत करता है, जिस प्रकार भक्त इष्टप्राप्ति के लिए ईश्वर की आराधना करता है, अन्ततः इन्द्र के शत्रुओं को पराजित करता है अर्थात् उसके कार्यमल का नाश होता है तथा शकुन्तला से सम्मिलन होता है । अब वह शकुन्तला के सम्मुख प्रत्यभिज्ञा का महत्त्व बतलाता है । सृष्टि रचना व्यर्थ न हुई, क्योंकि दुष्यन्त का कथन है कि "भाग्य से स्मृतिभिन्न मोह के नाशोपरान्त तुम्हारा मुखचन्द्र का दर्शन प्राप्त हुआ है ।"[२] प्रत्यभिज्ञा के प्रतिभासित विभाग द्वारा एकता को ही सुस्पष्ट किया गया है ।[३] इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा की सहायता से सृष्टि का कार्य द्विगुणित आनन्द के साथ समाप्त होता है । दुष्यन्त तथा पुत्र सर्वदमन का परिचय अपराजिता औषधि द्वारा होता है । "अपराजिता" शिव की ही संज्ञा है ।[४] वह पुत्र शिव तथा शक्ति के क्रीडाफलस्वरूप अनुभव है । वह पुत्र अपराजिता औषधि अथवा शिव के धागे से बंधा है । विवर्तानुसार यह अनुभव समाप्त हो जाता है अर्थात् जीव ब्रह्ममय हो जाता है । किन्तु प्रत्यभिज्ञानुसार वह अनुभव

१- अहमिदानीमेव निवृत्तं करोमि । अथवा श्रुतं मया शकुन्तलां समाश्वासयन्त्या महेन्द्र-जनन्या मुखात् -- यज्ञभागोत्सुका देवा एव तथानुष्ठास्यन्ति यथाऽचिरेण धर्मपत्नीं भर्ताऽभिनन्दिष्यति । - अभि० पंचमोऽङ्क, पृ०१२२

२- प्रिये क्रौर्यमपि मे त्वयि प्रयुक्तमनुकूलपरिणामं संवृत्तं यदहमिदानीं त्वयाऽप्रत्यभिज्ञात-मात्मानं पश्यामि । -अभि० सप्तमोऽङ्कः पृ० १४१
स्मृतिभिन्नमोहतमसो दिष्ट्या प्रमुखे स्थिताऽसि मे सुमुखि ।
उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम् ॥ - अभि० ७-२२

३- एष विवाद एव प्रत्याययति अभि० सप्तमोऽङ्कः पृ० १४०

४- परमार्थ ९७,६८,७५,८१
सजयत्यपराजिताः स्तव चिन्तामणि २

विनाश नहीं,प्रत्युत शिव से सम्बन्धित हो जाता है , इस प्रसंग में दुष्यन्त का कथन उल्लेखनीय है ।[१] वह शकुन्तला को पुनः अंगुलीयक प्रदान करता है किन्तु शकुन्तला उसे अस्वीकार कर देती है ।[२] वस्तुतः प्रत्यभिज्ञा के पश्चात् इस चिह्न की कोई आवश्यकता नहीं, इसकी आवश्यकता मात्र आत्मानुभूति के लिए थी । सानुमती शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त के अनन्य अनुराग को प्रत्यभिज्ञान पर आधारित देख कर आश्चर्यस्तम्भित होती है ।[३]

प्रत्यभिज्ञानुसार संसारी पुरुष प्रत्यभिज्ञा के अभाव में शिव अथवा शक्ति का ज्ञान नहीं कर सकता क्योंकि प्रत्यगात्मा माया ने आवरण के कारण अपनी आत्मा स्थित शिव का अभिज्ञान नहीं कर[४] सकता, किन्तु प्रत्यभिज्ञान के क्षण में वह आनन्दानुभूति प्राप्त करने लगता है ।

पत्नी पुत्र सहित दुष्यंत मारीचि के आश्रम में आशीर्वचन हेतु जाता है । वहाँ काश्यप इस सम्मिलन को श्रद्धा,विद्या तथा वित्त से उपमित करते हैं इसके द्वारा त्रिक दर्शन संकेतित है जो प्रत्यभिज्ञा दर्शन का पर्याय है ।[५] दुष्यंत शकुंतला सम्मिलन

१- किमपि मनसः संमोहो मे तदा बलवानभूत् ।
अस्माङ्गुलीयोपलम्भात्खलु स्मृतिरूपलब्धा । अभि० सप्तमोङ्कः पृ० १४३
२- नास्य विश्वसिमि । आर्यपुत्र एवैतद्धारयतु ।
- अभि० सप्तमोङ्कः पृ० १४३
३- अथवेदृशोऽनुरागोऽभिज्ञानमपेक्षते । अभि० षष्ठोङ्कः पृ० ११३
४- सांख्य दृशि इव रजस्तमोवृत्तिमोहः - परमेश्वरस्वातन्त्र्यमेव मायाख्यं मोहयतीत्याशयः प्र० वि० । ३५
क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते - कुमार० ५-८६
५- श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत्समागतम् । अभि० ७-२९
नरशक्तिशिवात्मकं त्रिकम्

को काश्यप का अनुग्रह बताता है ।[1] एतदुपरांत नृप दुष्यन्त अपनी विस्मरण की समस्या महर्षि के सम्मुख रखता है ।[2] वस्तुतः प्रत्यभिज्ञा दर्शनानुसार यह समस्त विश्व शक्ति का वैचित्र्य है ।[3] अपने इस विस्मरण के कारण नृपेश अत्यधिक आश्चर्ययुक्त हैं तथा अंगुलीयक दर्शन फलस्वरूप शकुंतला का स्मरण उसके विस्मय की चरम पराकाष्ठा है । वह इस तथ्य का विश्लेषण करने में असमर्थ है, अतः वह वस्तुस्थिति को मुनि-श्रेष्ठ के सम्मुख रखता है[4], जिस शंका का निवारण मारीचि ने किया है ।[5] वस्तुतः प्रत्यभिज्ञानुसार शिव स्वतः प्रकाश, स्वतन्त्र, ज्ञानरूप हैं तथा क्रियाशक्ति द्वारा की गई सृष्टि रचना से उसकी स्वतन्त्रता में कोई अन्तर नहीं आता । मरीचि ने शिव की इस स्वतन्त्रता का उल्लेख किया है ।[6] कवि ने शाप की जो कल्पना की है वह सर्वथा उचित

१- भगवन् । प्रागभिप्रेतसिद्धिः । पश्चाद्दर्शनम् । अतोऽपूर्वः खलु वोऽनुग्रहः । अभि० सप्तमोऽङ्कः पृ० १४५
उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं घनोदयः प्राक्तदनंतरं पयः ।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रमस्तव प्रसादस्य पुरस्तु संपदः ॥
- अभि० ७-३०

२- भगवन् .... स्मृतिशैथिल्यात्प्रत्यादिशन्नपराद्धोऽस्मि
.... तच्चित्रमिव मे प्रतिभाति । अभि० सप्तमोऽङ्कः ,पृ० १४६

३- जगत् चित्रम् - स्तव चिन्तामणि - ई० प्र०
चित्रीमति नियति रूपत्वात्
विश्ववैचित्र्य समुभित्तितलोपमे
विरुद्धाभावसंस्पर्शे ,परमार्थसतीश्वरे - ई० प्र० ॥ २,३,१५

४- यथा गजो नेति समक्षरूपे तस्मिन्नपक्रामति संशयः स्यात् ।
पदानि दृष्ट्वा तु भवेत्प्रतीतस्तथाविधो मे मनसो विकारः ॥ - अभि० ७-३१

५- वत्स, अलमात्मापराधशंकया । संमोहोऽपि त्वय्युत्पन्नः । अभि० सप्तमोऽङ्कः ,पृ० १४६

६- स्वातन्त्र्यमहिम्ना प्रकाशते ।
दुर्वाससः शापादियं तपस्विनी सहधर्मचारिणी त्वया प्रत्यादिष्टा नान्यथेति । स चायमङ्गुलीयकदर्शनावसानः । -अभि० सप्तमोऽङ्कः पृ० १४६

है क्योंकि जब शक्ति वैचित्र्ययुक्त शक्ति की रचना करती है, पंचकंचुकयुक्त माया का आवरण जीव पर आवृत्त होता है, उस क्षण में मात्र ईश्वर के प्रत्यभिज्ञान द्वारा स्वात्मानुभव होता है, अतः मारीचि का शकुन्तला के प्रति कर्तव्य है ।[1]

अतः शक्ति के माध्यम से जब शिव सृजन कर मायोपहित जीव की रचना कर चुकते हैं तब कुछ दिनों के पालन क्रिया के उपरान्त शक्ति शिव के स्वच्छ प्रकाश में पुनः सामरस्य प्राप्त करती है अतः मारीचि ने आभासवाद के सिद्धान्तों को एक श्लोक में समन्वित कर दिया है ।[2] पुनः मरीचि ने दुष्यन्त को पुत्र भरत का परिचय

१- वत्से चरितार्थासि । अभि० सप्तमोऽङ्क, पृ० १४७

२- शापादसि प्रतिहता स्मृतिरोधरूक्षे , भर्तर्यपेततमसि प्रभुता तवैव ।
   छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे, शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा ॥
   - अभि० ७ -३२

शाप	-	निषिध्यापारपारमेश्वरी शक्तिः ।
स्मृति	-	स्मृतिशक्तिश्चपरमेश्वरस्यैव ।
रोध	-	तिरोधानकरीमाया
भर्ता	-	शिवभट्टारक
तमस्	-	मोहस्तमसो वरणकः प्रकाशाभाव्योगतः
प्रभुता	-	अस्फुटत्वे इच्छाशक्तिरीश्वरस्य
छाया	-	इत्यनयाच्छायया स्मृत्या प्रमातृसिद्धिः
मल	-	देवादीनां च सर्वेषां भविनां त्रिविधं मलं
प्रसाद	-	अनुग्रहः स्वात्मतादात्म्यतथावस्थापनमिति
शुद्धः	-	प्रकाशः स्वचमत्कारसारः स्वेच्छयास्वात्मभित्तौ
दर्पणतले	-	संविदेव विश्वमात्मनि भासयति
अवकाश		भगवत एव परमशिवस्य ज्ञानक्रियायोगः

प्रदान किया तथा उसे स्वीकार करने का आदेश दिया जिसे दुष्यन्त ने स्वीकार किया है ।[1]

प्रत्यभिज्ञादर्शनानुसार अनुभव समाप्त नहीं होता जैसा वेदान्तसम्मत विवर्तवाद में हो जाता है । वह सम्बन्ध पिता-पुत्र के समान है । इसके अनन्तर महर्षि कण्व को संदेश प्रेषित करने में मारीच ऋषि ने समस्त प्रत्यभिज्ञा दर्शन को एक ही वाक्य में समन्वित कर दिया है ।[2] जिसकी व्याख्या इस दर्शनानुसार इस प्रकार है कि शक्ति द्वारा सृष्टि क्रम पूर्ण हो गया है तथा प्रत्यभिज्ञा द्वारा मायोपाधिविशिष्ट जीव का अज्ञान समाप्त हो चुका है अतः उसने स्वात्मा को पहचान लिया है तथा परमशिव अथवा शक्ति में लीन हो गया है । इसके पश्चात् मारीचि का दुष्यन्त को कथन है कि तुम ऐसे कार्य करो जिससे दोनों लोक सुखी रहें ।[3] प्रत्युत्तर में दुष्यन्त इस आज्ञा को शिरोधार्य करता है ।[4] अन्त में नाटक के शीर्षकानुसार भरतवाक्य में कवि ने पुनर्जन्म से मुक्ति मांगी है ।[5] यहाँ प्रयुक्त "पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः" पद द्वारा शिव

१- वत्स कच्चिदभिनन्दितस्त्वया विधिवदस्माभिरनुष्ठित जातकर्मा पुत्र एष शाकुन्तलेयः ।
भगवन् अत्र खलु मे वंशप्रतिष्ठा । अभि० सप्तमोऽङ्कः पृ० १४७

२-गालव इदानीमेव विहायसा गत्वा मम वचनात्तत्रभवते कण्वाय प्रियमावेदय यथा पुत्रवती शकुन्तला तच्छापनिवृत्तौ स्मृतिमता दुष्यन्तेन प्रतिगृहीतेति ।
- अभि० सप्तमोऽङ्कः पृ० १४९

३- गणशतपरिवर्तैरेवमन्योन्यकृत्यै -
नियतिमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः ॥
- अभि० ७-३४

४- भगवन् यथाशक्ति श्रेयसे यतिष्ये ।
- अभि० सप्तमोऽङ्कः पृ० १४९

५- ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः । अभि० ७-३५

का अपनी शक्ति से पुनप्राप्ति संकेतित है । "परिगत शक्तिः पार्वतीयेन सः" अर्थात् जीवन ने अपना चरमोद्देश्य प्राप्त लिया है , जिसके द्वारा मुक्ति की कल्पना तथा आवागमन से आत्यन्तिक निवृत्ति है ।

इस प्रकार शकुन्तला का पूर्ण अध्ययन के अनंतर यह ज्ञात होता है कि प्रत्यभिज्ञा के सिद्धान्तों तथा "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" की घटनाओं में आश्चर्यजनक साम्यता प्राप्त होती है । संभवतः कवि ने अपने दार्शनिक प्रौढ विचारों को नाटक की रमणीयता, कमनीयता तथा नाटकीय तत्वों के समुचित विकास को कुशलतापूर्वक निभाते हुए प्रस्तुत किया है । पूर्णकथा प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्तों के परितः अपना जाल बुन रही है यथा दुर्वासा का श्राप, शकुन्तला के अंगुलीयक का खो जाना, नृप का विस्मरण, इन्द्र के शत्रुओं के साथ दुष्यन्त का युद्ध, मुद्रिका की प्राप्ति तथा काश्मीर में उनका सम्मिलन समस्त घटनाएँ नाटककार प्रसूत प्रसंग हैं । काश्मीर में ही प्रत्यभिज्ञा दर्शन का उद्भव एवं विकास हुआ था तथा कवि ने भी आभासवाद के सिद्धांत को मारीच के मुख से दुष्यंत को शिक्षित किया है । सृष्टि-विधान तथा अनुग्रह इन सिद्धान्तों का उल्लेख, नाटकीय विकास के विभिन्न अवस्थाओं में प्रायः प्राप्त होता है ।[1] इसके अतिरिक्त कवि साभिप्रायवशात् दार्शनिक शब्दों का प्रयोग प्रचुरता से करते हैं -- स्मृति बोध, अभिज्ञान, प्रत्यभिज्ञा, प्रत्यय, विस्मृति, संशय, अबोध, असत्कल्पना, सम्मोह, शाप, सत्क्रिया, छाया, मल, शक्ति ,श्रद्धा, विधि, द्रव्य, सत्व, अनुग्रह, अनुशय, प्रसाद ,व्यवधानदोष, अन्धकार दोष , माया, मृगतृष्णिका, नाममात्रप्रस्ताव, भ्रान्ति, मतिभ्रम, भावचेतः, मोक्षः आदि । शकुन्तला के लिए क्रिया तथा दुष्यन्त पिनाकिन पद द्वारा उपमा दी गई है तथा "परिगतशक्ति-रात्मभूः" द्वारा शिव पार्वती संकेतित है । इन उपमाओं द्वारा कवि का मुख्य उद्देश्य

१- सृष्टिस्थितिसंहार विधानानुग्रह लक्षणानि पञ्चकृत्यानि ।

ज्ञान तथा क्रिया की अभिन्नता प्रस्तुत करना है क्योंकि प्रत्यभिज्ञानुसार ज्ञानरूप शिव तथा क्रियाशक्ति में सामरस्य स्वीकार किया गया है ।[1] इसी प्रकार दुर्वासा के शाप की कल्पना द्वारा कालिदास ने दुष्यन्त के चरित्र को उच्च कोटि का बना दिया है क्योंकि महाभारत का दुष्यन्त चरित्रहीन, कामुक तथा स्वार्थी रूप में चित्रित है किन्तु कालिदास द्वारा चित्रित नृप जिसमें विचार करने की शक्ति विद्यमान है, उसके द्वारा अशिष्ट आचरण की कल्पना करनी अनुचित है । अतः मुद्रिका तथा उसके शाप की कल्पना की गई है ।[2] संभवतः तत्कालीन बौद्ध दर्शन के प्रति जनता की अधिक अभिरुचि देखकर कवि ने प्रणय रूपक को प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आधार पर इस नाटक की रचना की जिसका उद्देश्य काश्मीर के बाहर भी इसका प्रचार करना था ।

"मालविकाग्निमित्रम्" में मालविका का विदर्भकुमारी के रूप में प्रत्यभिज्ञान नाटक के अन्त में निश्चित अवधि के पश्चात् दासियों के आगमन से होता है । इस प्रत्यभिज्ञान के पश्चात् ही अग्निमित्र तथा मालविका परिणय सूत्र में आबद्ध होते हैं, इसके पूर्व उनका प्रणय व्यापार ही विद्यमान रहता है ।[3] सुप्रसिद्ध खण्डकाव्य मेघदूत में भी यक्ष यक्षिणी के मिलन में बाधक शाप ही है ।[4] यहाँ कवि ने मेघ के माध्यम से

१- ज्ञानं विमर्शानुप्राणितं विमर्श एव च क्रिया इति न च ज्ञानशक्तिविहीनस्य क्रियायोगः ।
-ई०प्र० पृ० १९०

२- येऽपि... शापादिना.... मूढाः सन्तः प्रागभ्यस्तस्वात्मज्ञानवासना प्रबोधानुगृहीता स्वात्मस्थितिं लभन्ते ।

३- मालविका (आत्मगतं) किं नु खलु साम्प्रतं भर्ता भणति । मालविका० पञ्चमोऽङ्क पृ ३५०

४- शापेनास्तंगमितमहिमा पू०मे० १
शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
शेषान्मासान्गमय चतुरो लोचने मिलयित्वा ॥
- उ०मे० ५३

प्रत्यभिज्ञान प्रेषित किया है, किन्तु उनका सम्मिलन शापावधि समाप्त होने के पश्चात् ही सम्भव है । "विक्रमोर्वशीयम्" में भी शाप के कारण उर्वशी लतारूप में परिवर्तित हो जाती है तथा संगमनीय मणि के द्वारा उसका अभिज्ञान होता है ।[1] कुमारसंभव में भी कालिदास ने कुछ भिन्न रूप में किन्तु इन्हीं भावों को अनुप्राणित किया है । यहाँ पार्वती शिव को पहचान लेती है । इस प्रत्यभिज्ञा के आनन्द को कवि ने एक पंक्ति में प्रकट करने में सफल हुए हैं ।[2] किन्तु सृष्टिकर्त्ता का अनुभव प्रत्यभिज्ञानुसार व्यर्थ नहीं है । पार्वती ने शिव पर अधिकार प्राप्त किया था ।[3] इसके द्वारा भी शिव पर शक्ति का सामरस्य तथा शक्ति के अभाव में शिव का जडवत् माना जाना और शक्ति द्वारा जगत् की सृष्टि का विस्तार अपेक्षित है ।[4] प्रौढतम ग्रन्थ रघुवंश में प्रत्यभिज्ञादर्शन का विशेष वर्णन नहीं मिलता तथापि "वागर्थाविव सम्पृक्तौ" द्वारा प्रत्यभिज्ञा दर्शन के परावाक् सिद्धान्त को कवि इंगित कर रहे हैं । एतदतिरिक्त "शब्दार्थसम्बन्धौ" द्वारा शब्द एवं अर्थ की अभिन्नता को शिव पार्वती का सामरस्य भी समझा जाता है ।[5]

१- सङ्गमनीय इति मणि......
   ...... सङ्गममचिरात्प्रियजनेन । विक्रम० ४-६६

२- शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ । कुमार० ५-८५

३- अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ
   अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ।
   - कुमार० ५-८६

४- अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः । कुमार० ५-८६
   भर्तृर्यपेततमसि प्रभुता तवैव । अभि० ७-
   इच्छाशक्तिरेव इत्थं विजृम्भते । ई० प्र०

५- वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
   - रघु० १. १

कालिदास संज्ञा में प्रयुक्त "दास" पद भी प्रत्यभिज्ञा दर्शन की निष्ठा के ही गीत गा रहा है । अत दर्शनानुसार दास को स्वामी की ओर से समस्त अभीष्ट वस्तुएँ प्राप्त होती थीं ।[1]

"काली" द्वारा भी शिव की शक्ति का संकेत है, जिसे भद्रकाली अथवा महाकाली "काश्मीरी शैव" में कहा गया है । अतः कालिदास पद भी "काश्मीरी शैव दर्शन" को ही संकेत देता है । शंकराचार्य ने भी इसी प्रकार शिव-शक्ति के विषय में लिखा है ।[2]

किन्तु डॉ० मिराशी ने अपनी रचना "कालिदास" में इन विचारों का खण्डन किया है । उनके विचारानुसार क्या इन घटनाओं के आधार पर उन्हें शैवमतानुयायी स्वीकार किया जा सकता है । उनके नाटकों में शाप से कुछ काल के लिए प्रेमी युगल का वियोग होता है तथा पुनः सम्मिलन हो जाता है, किन्तु यह पूर्णतया कल्पना प्रसूत विषय है, इसमें सन्देह नहीं । किन्तु इस युक्ति का कोई आधार नहीं कि यह कल्पना उन्होंने प्रत्यभिज्ञादर्शन से ली होगी, क्योंकि यह दर्शन यह नहीं कहता कि वियोग जैसा शापमूलक होता है, वैसे ही जीवों की विस्मृति शापमूलक होती है । शाकुन्तल के भरतवाक्य में प्राप्त "परिगतशक्ति" विशेषण का अर्थ पार्वती सहित हो सका है इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कालिदास प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुयायी थे ।

१- कथंचिदासाद्य महेश्वरस्य दास्यं जनस्याप्युपकारमिच्छन् - ई० प्र० । १-१

२- शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम् ।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।
- आनन्दलहरी

श्रयेत् स्वातन्त्र्यशक्तिं स्वां साकालीपराकला ।
स्वातन्त्र्यशक्तिः कलयति परामृशति क्षिपति विसृजति
गणयति जानीते च इति काली । विश्वस्य अंतर्बहीरुपतया पालनपूरणात्मकत्वात् परा इति ।

सप्तम सोपान

पाशुपत,बोद्ध एवं जैन दर्शन और कालिदास

बोद्ध एवं जैन दर्शन का कवि की रचनाओं में स्वरूप, पाशुपत दर्शन तथा कालिदास की रचना का विवेचन ।

(क) बौद्ध दर्शन, जैनदर्शन और कालिदास

निखिलविद्वच्चूडामणि कविश्रेष्ठ कालिदास के ग्रन्थों का गहन अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि बौद्ध एवं जैन धर्मों का प्रत्यक्ष संकेत प्राप्त नहीं है । सम्भवतः बौद्ध दर्शन के कुछ परोक्ष संकेत प्राप्त हों किन्तु जैन दर्शन का एकमात्र स्थल प्राप्त है ।

वस्तुतः कालिदास का स्थितिकाल ब्राह्मणों के ह्रास युग में ही होगा क्योंकि मेघदूत में निर्जन चैत्य[1] का उल्लेख मिलता है । तदतिरिक्त हिंसारहित यज्ञ का उल्लेख भी संभवतः जीवन के प्रति सम्मान प्रदर्शित करनेवाले बौद्धधर्म के सम्पर्क का ही सूचक है ।[2] इसी प्रकार "विपुल" पद के स्थल पर विशिष्ट अर्थ में "प्रागेव" का प्रयोग कवि ने किया है, जो संस्कृत बौद्ध साहित्य की विशेषता है ।[3] अतः कालिदास पर बौद्धों का पर्याप्त प्रभाव ज्ञात होता है । अतः ग्रंथों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि कवि ने निर्वाण[4] शब्द का प्रयोग प्रायः किया है । बौद्धों के अनुसार पूर्ण शान्ति अथवा

१- नीडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः । पू०मे० २५
२- देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं । - मालविका० १-४
३- एवमात्मा प्रयतमानो विभियान् गर्जितानपि ।
रति हेतोर्बभूविरे प्रागेव गुणसंमितान् ॥ कु०सं० ४-८१
कुन्दैः सविभ्रमवधूहसितावदातैरुद्योतितान्युपवनानि मनोहराणि
चित्तं मुनेरपि हरन्ति, निवृत्तरागं प्रागेव रागमलिनानि मनांसि यूनाम् । ऋतु० ६-२०
४- निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्यं संधुक्षयन्तीव वपुर्गुणेन - कुमार० ३-५२

आवागमन से मुक्ति निर्वाण द्वारा प्राप्त होती है । जिसका अर्थ है अहंकार का पूर्ण त्याग तथा सर्वज्ञता में परमशान्ति, पूर्णशान्ति, परमानन्द । इसका शाब्दिक भाव है --"सब कुछ फूंक कर निकाल दिया गया है" तथा इसका संकेत है, अहंकार को फूंक निकालने अथवा पूर्णतया समाप्ति के प्रति ।

"मालविकाग्निमित्रम्" की परिव्राजिका कदाचित् बौद्ध भिक्षुणी थी क्योंकि हिन्दू तप साधना के नियम स्त्रियों को प्रव्रज्या का प्रोत्साहन नहीं देते । उसका काषाय वस्त्र उसके योग्य है[1] और वह "शान्तं पापं - शान्तं पापं" के मन्त्र का उच्चारण करती है जो उसी प्रकार के बौद्ध मंत्रोच्चार के सदृश है । इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि कौटिल्य अर्थशास्त्र में "भिक्षुणी" अर्थात् स्त्री परिव्राजिका का संकेत मिलता है ।[2]

यदेवोपनतं दुःखात्सुखं तद्रसवत्तरम् ।
निर्वाणाय तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषतः ॥

- विक्रम० ३-२१

आसीदासन्ननिर्वाणः प्रदीपार्चिरिवोषसि । - रघु० १२-१

अहो लब्धनेत्रनिर्वाणम् - अभि० तृतीयोङ्कः पृ० १०-११

१- इमे काषाय गृहीते युक्तः सज्जनस्यैव पन्थाः । - मालविका० पञ्चमोऽङ्कः पृ० ३५०

२- "Not a Buddhist nun-she is taken to be a nun by many on the ground that she took to ascetic life, but this does not appear to be true. Prof. K.P. Kangle has already pointed that Kautilya's Arthas'astra has spoken of female brahmin ascetics belonging to vedic, religion. The relevant passage from the Arthasastra.

(1 - 12 - 4)

-परिव्राजिका वृत्तिकामा दरिद्रा विधवा ब्राह्मणी अन्तःपुरे कृतसत्कारा महामात्र-कुलान्यभिगच्छेत् । is quite on this point. As Parivrajika in the drama answers this description. Kalidasa has evidently followed this as model. No wonder that she is प्रगल्भा or learned and respected in the court of Agnimitra. --मालविकाग्निमित्र - A critical Study - Dr. M.D. Paradkar. Pg 163

हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि शिव की समाधि का जो चित्र प्रकृति के कुशल चितेरे ने अपने ग्रन्थ "कुमारसम्भवम्" में चित्रित किया है, वह बौद्धयोग से पूर्ण-तया प्रभावित है । यह बौद्धधर्म की ही विशेषता है जिसने भारत में योगाभ्यास का इतना प्रचार किया । समाधिस्थ शिव बोधिवृक्ष के अधः आसनस्थ बुद्ध एवं वीरासन मुद्रा में बुद्धदेव की मूर्तियों में सादृश्य रखता है, जिनके असंख्य प्रकारों को भारत के संग्रहालयों में सुरक्षित रखा है । किन्तु कवि ने शिव को बुद्ध से उच्च माना है यह प्रो० लक्ष्मीधरकल्ल ने अपनी पुस्तक में स्पष्ट किया है ।[1] कवि ने "अर्हत्" शब्द का भी प्रयोग किया है किन्तु संभवतः उसका भाव इस शब्द की बौद्ध अभिव्यंजना से नहीं है ।

जैन दर्शन का एकमात्र संकेत "प्रायोपवेशन"[2] है । नृपेश अज ने विधिवत् समस्तकार्यों को पूर्ण किया, तदनन्तर "प्रायोपवेशन" का व्रत लिया तथा उसे पूर्ण

----

1. Siva's supremacy over Buddha is not hinted only in the phase ...... अर्हतांप्रगसरः but also in the incident of the meeting of the Rishi with Dushyanta in Shakuntalam (Third act) Kalidasa suggests that one can become a Siddhartha only by waiting on Siva and not after the manner of Buddhism, even as the Rishis who had waited on Dushyanta had become Siddhartha as they could speak of themselves सिद्धार्थाः स्वः ।

-- Pandit Lachhmi Dhar Kalla -- The Birthplace of Kalidasa". Pg 41

२-प्रायोपवेशनमतिर्नृपतिर्बभूव रघु० ८-९४

कर नन्दन का वास किया। वे विकृति से मुक्त हो स्वप्रकृति में लीन हो गए।
प्रायोपवेशन आत्मत्याग है तथा उसका सच्चा अनुष्ठान सर्वत्र पुण्यात्मक ही होता है।
जैन दर्शन में प्रायोपवेशन पद का अर्थ मरणपर्यन्त उपवास है।

(ख) पाशुपत धर्म एवं कालिदास

दर्शनतत्त्वों के विवेचन के प्रसंग में पाशुपत धर्म पर विहंगम दृष्टिपात करना अनुचित नहीं, जिसका महत्त्व ई० सन् की आरम्भिक शताब्दियों में था। साम्राज्यवादी गुप्तों के दिनों में शैव सम्प्रदाय का शासन धर्म था और संभवतः कालिदास जिसके एक अनुयायी थे। अपने शिव की अभिधाओं से कवि अप्रत्यक्ष रूप से इस धर्म की ओर संकेत करता है -- पशुपति[1], भूतेश्वर[2] तथा भूतनाथ[3]। यहाँ हम स्पष्टतः इस धर्म तथा शताब्दियों के इसके विकास का उल्लेख कर सकते हैं। पाशुपत दर्शन के तीन सिद्धान्त हैं -- पति, पशु और पाश। इस समस्त पद्धति के चार पाद हैं -- क्रिया, विद्या, योग तथा कार्य। रुद्र को ऋग्वेद में पशुप की संज्ञा दी गई है। अथर्ववेद में भव और शर्व को भूपति तथा पशुपति के नाम मिले हैं तथा पशुपति के शासक से रहनेवाले हैं -- पञ्चप्रकार के विशिष्ट जीव -- गौ, अश्व, नर, अज और मेष। महाभारत में पाशुपत धार्मिक सिद्धान्तों में से एक है।

१- पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छा , पू०मे० ४
२- तद्भूतनाथानुग नार्हसि त्वं सम्बन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम् - रघु० २-५८
३- भूयः स भूतेश्वरपार्श्ववर्ती - रघु० २-४६ ।

विकट से विकट शत्रुओं का नाश करने की शक्ति रखनेवाले पाशुपतास्त्र को प्राप्त करने की आकांक्षा अर्जुन को ही रही । कालिदास का कथन है कि इस प्रकार का पशुपति वह देव है, जो दृढ भक्ति और ध्यान के द्वारा सरलता से प्राप्त किया जा सकता है ।[1]

१- स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः

- विक्रम० १-१

++++++++++++
चतुर्थ अध्याय
++++++++++++

ईश्वरकृष्ण - कालिदास

राजशेखर के श्लोक की व्याख्या, घनश्याम के विचार का विश्लेषण, स्वप्नेश्वर की उक्ति का अध्ययन, सांख्य-कारिका के रचनाकार के आधार पर कवि की तादात्म्य की धारणा, कालिदास के वर्ण, आश्रयदाता और काल का विचार, ईश्वरकृष्ण, कालिदास तथा विन्ध्यवास में ऐक्य-भाव की विचारणा, सांख्यकारिका तथा कवि की रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन, गौडपादभाष्य तथा कालिदास कवि की रचनाओं में सांख्य दर्शन का स्वरूप, भवभूति का दृष्टिकोण, मेघदूत का अध्ययन, ईश्वरकृष्ण कालिदास पद की सार्थकता, निष्कर्ष।

ईश्वरकृष्ण कालिदास

[श]ताब्दी पर्यन्तकाल से कविताकामिनी के कमनीय कान्त कवि कालिदास केवल भारतीय मनीषियों के ही नहीं वरन् पाश्चात्य विद्वज्जनों को अपने जन्मस्थान तथा काल, रचनाओं उनके स्रोत्र तथा अवसर प्रभृति प्रश्नों के मतभेदों के प्रति सहृदय पाठकों एवं आलोचकों का ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं, किन्तु अद्यापि किसी निश्चित निर्णय प्राप्त न होने के कारण तथा विभिन्न आलोचकों द्वारा स्वकीय मतों के उपस्थापनार्थ पर्याप्त सुदृढ तर्कादि की प्राप्ति के पश्चात् तथा किसी नवीन विचारधारा की उत्पत्ति असम्भव समझ अन्ततः मनीषियों द्वारा महाकाव्यों, खण्ड-काव्यों तथा नाटकों के रचनाकार कालिदास तथा अन्य दार्शनिक से ऐक्य भाव के प्रश्न पर कदापि विचार प्रगट नहीं किया था , न हि कालिदास के किसी अन्य उपनाम की कल्पना विद्वज्जनों द्वारा की गई थी । सुप्रसिद्ध श्लोक "एकोऽपि न जीयते हन्त"[१] के रचनाकार राजशेखर ने भी संभवतः कवि की अन्य संज्ञा की कल्पना न की होगी । उसने "कालिदासत्रयी" पद का प्रयोग अवश्य किया है जिससे तीन कालिदास की संख्या इंगित है । सम्प्रति डॉ० टी०जी० माईणकर[२] ने अपनी पुस्तक के प्रथम अध्याय में अनेक सुदृढ तथा सशक्त प्रमाणों के आधार पर सुप्रसिद्ध कवि

१- एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित् ,
   शृंगारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु ॥ -- शुक्तिमुक्तावली ।

२- Dr. T.G. Mainkar " Kalidasa -- His art and Thought."

एवं नाटककार कालिदास की ऐक्यता सांख्यकारिकाकार श्रीमतीश्वरकृष्ण से सिद्ध कर आलोचकों का ध्यान आकर्षित किया है । निस्सन्देह यह नवीन विचारधारा एक निश्चित सीमा तक विवादास्पद है, किन्तु यह वैयक्तिक भी है । अपने शोधप्रबन्ध में इसका लंघन अनुचित प्रतीत होने के कारण इसका उल्लेख आवश्यक है । इतना अवश्य है कि यहाँ मैंने किसी नवीन विचारधारा को प्रस्तुत नहीं किया है किन्तु यह भी सत्य है कि कालिदास ईश्वरकृष्ण विषयक उपलब्ध प्रायः समस्त पुस्तकों का मनोयोगपूर्वक अध्ययन कर अपने निष्कर्ष यहाँ प्रस्तुत किए हैं ।

राजशेखर के श्लोक की नवीन व्याख्या --

राजशेखर ने अपने श्लोक में प्रयुक्त "कालिदासत्रय" पद द्वारा महान् कवि, शृंगार एवं ललितोद्‌गार से परिपूर्ण तथा प्रेम भव्यता के साथ ही साथ चित्ताकर्षक मनोभावों से युक्त अनुपमेय तीन कालिदास को संकेतित किया है । किन्तु डा० माईणकर ने इसकी नवीन व्याख्या कर अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय प्रदान किया है । उनके विचारानुसार क्या राजशेखर "कालिदासत्रयी" द्वारा तीन कालिदास की सत्ता स्वीकार करता है जिसमें कवित्व प्रतिभा समान रूप से विद्यमान थी ? कदापि नहीं, राजशेखर के समान विद्वान् कवि इस प्रकार का प्रयोग नहीं कर सकता है । इस श्लोक की नवीन व्याख्यानुसार इसका अर्थ कालिदास के नाटकत्रयी के समूह (अभिज्ञानशाकुन्तलम् ,विक्रमोर्वशीयम्, मालविकाग्निमित्रम्) तथा काव्यत्रयी के समूह (रघुवंशम्, कुमारसम्भवम्, मेघदूतम्) हैं अर्थात् जिस प्रकार "वेदत्रयी" का अर्थ तीन वेद (ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद) से लिया जाता है उसी प्रकार कालिदासत्रयी का अर्थ उनके तीन नाटकों तथा

तीन काव्यों को लेना चाहिए । प्रथम पंक्ति में प्रयुक्त "कालिदास" पद लक्षण है अर्थात् वह कवि की संज्ञा है तथा द्वितीय पंक्ति में प्रयुक्त "कालिदासत्रयी" विषयवस्तु को प्रस्तुत करता है । इस प्रकार राजशेखर द्वारा प्रयुक्त "कालिदासत्रयी" पद का अर्थ संभवतः यही रहा होगा । इस मत की पुष्टि के लिए मल्लिनाथ की टीका भी प्रसंगतः उल्लेखनीय है । संस्कृत साहित्य के सुप्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने महाकवि माघ के सुप्रसिद्ध रचना"शिशुपालवधम्" के अष्टादश अध्याय[1] के चतुर्विंशति श्लोक की टीका में "कालिदासत्रयीसंजीवन्याम्" पद का प्रयोग किया है । अतः इसके द्वारा कालिदास की तीन रचनाओं पर टीका का स्पष्ट संकेत है । इस प्रकार इस नवीन व्याख्या की पुष्टि भी हो जाती है । इसके अतिरिक्त सुप्रसिद्ध नाटककार तथा महान् कवि कालिदास की ही समस्त रचनाओं में एक समान का उत्कृष्ट स्तर प्राप्त नहीं होता । उदाहरणस्वरूप मालविकाग्निमित्रम् में कवि भौतिक सुख को ही प्रश्रय देता है तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् में आध्यात्मिक दृष्टि अपनी चरमसीमा पर है । अतः तीन कालिदासों की रचना में काव्य-कला की समानता की कल्पना ही व्यर्थ है अतः राजशेखर ने "त्रयी" पद का प्रयोग निपुणता से किया है । मल्लिनाथ तथा राजशेखर दोनों ही ऋतुसंहार को कवि की रचना स्वीकार नहीं की है क्योंकि इसमें कला का वह विकास प्राप्त नहीं होता जिसकी अपेक्षा कवि से की जाती है । संस्कृत साहित्य के अध्ययनोपरान्त यह ज्ञात होता है कि तीन कालिदास[2] के साथ ही साथ नवकालिदास की भी सत्ता स्वीकार की गई है यथा परिमल कालिदास ,अभिनव कालिदास मातृगुप्त कालिदास आदि ।[3] यहाँ कालिदास द्वारा किस कालिदास का विवेचन प्रासंगिक है, इत्युत्कण्ठा होने पर ज्ञात होता है कि ऋतुसंहार,मेघदूतम्,

----

१- शिशुपालवधम् -१८-२४

२-३- Krisnamacariar -- History of Sanskrit Literature. Pg. 112-113.

रघुवंशम्, कुमारसम्भवम्, विक्रमोर्वशीयम् , मालविकाग्निमित्रम् तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् के रचनाकार कालिदास जिन्हें कविकुलगुरु, कविताकामिनी के कमनीय कान्त प्रभृति विशेषणों से अलंकृत किया गया है, उन्हीं का ईश्वरकृष्ण से ऐक्य सिद्ध करने का प्रयास किया गया है । यह सिद्धान्त वस्तुतः नवीन है तथा डॉ० माइणकर स्वयं ही इस विषय पर कहते हैं , जो उचित प्रतीत होता है ।[1]

इस नवीन सिद्धान्त के आधार पर कवि की कालविवेचना भी ध्यातव्य है । जिस प्रकार इनको प्रथम शताब्दी तथा गुप्तकालीनवाद प्रभृति सिद्धान्त स्वीकृत हैं उसी प्रकार इस विचार के आधार पर भी उनका काल विवेचन विचारणीय है, परंतु जिस आधार शिला पर इस सिद्धान्त की स्थापना हुई है, उसका अध्ययन यहाँ किया जा रहा है ।

घनश्याम के विचार का विश्लेषण --

सर्वोच्च प्रधानतम तथा सशक्त प्रमाण, जिस आधार पर नवीन सिद्धान्त की स्थापना की है वह आधारशिला संस्कृत साहित्य के सुप्रसिद्ध नाटककार भवभूति की श्रेष्ठतम रचना उत्तररामचरितम् (काणे संस्करण) के टीकाकार घनश्याम द्वारा रखी गई है जहाँ कवि कुलगुरु कालिदास रचित सूक्त उद्धरणों को विश्वप्रसिद्ध कवि तथा नाटककार कालिदास

१- Every student of Kalidasa is bound to have some view in this matter and however he might try to be objective in this analysis, ultimately the subjective element is bound to play its part. In these circumstances an attempt to put forth ones views has certainly some justification ....After all one has to make one's choice of view which one finds satisfactory at least to one self as some what tenable.

-- Dr. T.G. Mainkar -- 'Kalidasa His Art and Thought' , P. 2-3.

की रचना स्वीकार न कर इश्वरकृष्णमिश्र तथा भर्तृमीढ द्वारा रचित उल्लिखित किया गया है । ये उद्धरण सन्त कविकुलगुरु की प्रौढतम रचनाएँ रघुवंशम् कुमार-सम्भवम् तथा विश्वप्रसिद्ध नाटक अभिज्ञानशाकुन्तलम् से उद्धृत है [1] --

(क) अतएव "गंगाप्रयातान्तनिरुद्धशष्पम्" इति ईश्वरकृष्णमिश्रः ।पृ० ६८

(ख) "शैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य" इति ईश्वरकृष्णमिश्रः । पृ०७६

(ग) "तस्मिन् विप्रकृता काले " इति ईश्वरकृष्णमिश्रः । पृ०१२९

(घ) अत्र वीर्ये इति कवेः प्रमादः " न विवीर्यै कठिनाः खलु स्त्रियः "

इति कुमारसम्भवे ईश्वरकृष्णमिश्रस्येव न दयनीयः । पृ० १४१

(ङ) शैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य इति भर्तृमीढ । पृ० ३०

(च) "अनिष्ठितान्तरजा" इति भर्तृमीढ प्रयोगवत् क्षन्तव्यः । पृ० ८

(छ) "श्यमरविन्दसुरभिः" इति भर्तृमीढस्य । पृ० ३

इन प्रसंगों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उपर्युक्त कथित अंशों को सम्प्रति पाठकगण तथा विद्वज्जन कविकुलगुरु की रचना स्वीकार करते हैं, वे अंश घनश्याम के विचारानुसार ईश्वरकृष्णमिश्र तथा भर्तृमीढ द्वारा रचित है। बारम्बार ईश्वर-कृष्णमिश्र तथा भर्तृमीढ पद प्रयुक्त होने के कारण इन्हें त्रुटि कहना भी उचित प्रतीत नहीं होता अर्थात् विभिन्न स्थलों पर ईश्वरकृष्णमिश्र तथा भर्तृमीढ का प्रयोग प्रमादवशात् नहीं हो सकता है ।

डॉ० टी०जी० माईणकर की इस नवीन विचारधारा का खण्डन महामहोपाध्याय वा०वा० मिराशी तथा डॉ० डी० वी० देवस्थली ने किया है ।[2] इन मनीषीगणों का कथन

१- Dr. T.G. Mainkar - Kalidasa - His art and Thought, Pg. 6

२- Dr. D.V. Devasthali - "Kalidasa - Isvara Krishna Identity not tenable" Mirashi Felicitation volume Pg. 151

मिराशी संशोधनमुक्तावली सार पांचवा (मराठी)

है कि क्या त्रुटियाँ बारम्बार नहीं होती ? यदि इस प्रसंग को यदि ध्यान में न भी रखा जाए तथापि इस उक्ति का खण्डन सरलतापूर्वक किया जा सकता है । घनश्याम ने इन सतांशों में केवल "ईश्वरकृष्ण" पद का प्रयोग कदापि नहीं किया , प्रत्युत ईश्वरकृष्ण मिश्र अथवा भर्तृमीढ पद प्राप्त होता है । इसके विपरीत सांख्यकारिकाकार की संज्ञा सर्वसम्मत से ईश्वरकृष्ण है न कि ईश्वरकृष्णमिश्र । क्या यह सम्भव नहीं कि घनश्याम द्वारा इंगित ईश्वरकृष्णमिश्र तथा सांख्यदर्शन के प्रणेता ईश्वरकृष्ण परस्पर भिन्न-भिन्न व्यक्ति हों? एतदतिरिक्त सांख्यकारिकाकार की संज्ञा भर्तृमीढ भारतीय दर्शन के इतिहास में प्राप्त नहीं होता है । अतः यदि भर्तृमीढ भारतीय दर्शन के इतिहास में तथा कालिदास में ऐक्य स्वीकार कर भी लिया जाए तथापि ईश्वरकृष्णमिश्र तथा भर्तृमीढ में तादात्म्य स्वीकार करना कठिन है । वस्तुतः घनश्याम ने कविकुलगुरु की रचनाओं को दो लेखकों में विभा-जित कर स्वयं अपना पक्ष सन्दिग्ध तथा दुर्बल बना लिया है जिसे दृढ़तर प्रमाण की आवश्यकता है । तदनन्तर घनश्याम अपेक्षाकृत नवीन लेखक हैं तथा वे महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे । उनका स्थितिकाल १७२८-१७३५ तक होगा । इतने नवीन विद्वान् के द्वारा स्थापित मत की सिद्धि के लिए किसी प्रबल प्रमाण की अपेक्षा है । अस्तु, यदि ईश्वरकृष्णमिश्र तथा भर्तृमीढ का ऐक्य स्वीकार कर भी लिया जाए तथापि सांख्यकारिका प्रणेता की संज्ञा स्पष्टतः ईश्वरकृष्ण है वहाँ मिश्र पद का प्रयोग प्राप्त नहीं होता । अतः कालिदास तथा ईश्वरकृष्ण में एकता का अनुमान उचित नहीं । यदि घनश्याम को ही प्रमाण स्वीकार कर ले तथापि भर्तृमीढ तथा ईश्वरकृष्णमिश्र में ऐक्य भाव स्वीकार करें अथवा भिन्न-भिन्न व्यक्ति समझें, कविकुलगुरु से उसका ऐक्यभाव विचार समीचीन नहीं है ।

स्कन्नेश्वर की उक्ति का अध्ययन --

घनश्याम की उक्ति के समर्थन स्वरूप स्कन्नेश्वर नामक नितान्त अपरिचित विद्वान् की पंक्ति प्राप्त होती है । स्कन्नेश्वर का कथन है कि कालिदाससंज्ञक ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका की रचना की - "कालिदासनाम्ना कृता कारिका ।"[1] सामान्यतः ऐसा प्रतीत होता है कि इस उक्ति द्वारा घनश्याम के सिद्धान्त की पुष्टि की गई है । किन्तु यदि तर्क की दृष्टि से इस पक्ष का अध्ययन किया जाए तो ज्ञात होता है कि घनश्याम तथा स्कन्नेश्वर के विचारों में भी परस्पर भिन्नता है । सर्वप्रथम तो स्कन्नेश्वर पर्याप्त नवीन लेखक हैं तथा तद्विषयक सामग्री अत्यल्प मात्रा में प्राप्त होता है । यदि स्कन्नेश्वर के अस्तित्व को स्वीकार कर भी लें, तब उनके वक्तव्य का आलोचनात्मक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि उनका कथन मात्र इतना है कि सांख्यकारिका के रचनाकार ईश्वरकृष्ण हैं जिनकी अन्य संज्ञा कालिदास भी है । यहाँ कालिदास व्यक्ति की संज्ञा अथवा उपाधि दोनों ही हो सकती है । यदि "कालिदास" व्यक्ति का नाम भी स्वीकार कर लें तो यह आवश्यक नहीं कि निखिलकविकुलचूडामणि कालिदास ही संकेतित है ।" कालिदासत्रयी द्वारा तीन कालिदासों का अस्तित्व स्वीकृत ही है, अतः यह वाक्य स्वयं में पूरा नहीं है । इस आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कि कालिदास तथा ईश्वर-कृष्ण में ऐक्य था, उचित प्रतीत नहीं होता । घनश्याम के जिस मत की पुष्टि के उप-स्थापन में स्कन्नेश्वर की उक्ति की सार्थकता सिद्ध की जा रही है उनके परस्पर वैभिन्य का उल्लेख भी आवश्यक है । घनश्याम ने अपने उद्धरणों में ईश्वरकृष्णमिश्र का प्रयोग किया है अर्थात् घनश्याम का पद "मिश्र" संज्ञा से युक्त है किन्तु स्कन्नेश्वर इस पद का

1- Hall - Samkhyasara Pg. 29.

प्रयोग नहीं करते।"मिश्र" पदयुक्त ईश्वरकृष्ण तथा तदेतर मिश्रविहीन ईश्वरकृष्ण की परस्पर भिन्न-भिन्न की संभावना की जा सकती है । अतः दोनों के परस्पर मतभिन्नता के कारण ईश्वरकृष्ण-कालिदास का ऐक्य सिद्ध नहीं हो पाता प्रत्युत दुर्बल हो जाता है ।

सांख्यकारिका के रचनाकार के आधार पर कवि के तादात्म्य की धारणा --

कालिदास तथा ईश्वरकृष्ण के तादात्म्य का मूलकारण सांख्यकारिका है । सांख्य-कारिका कुछ विद्वज्जनों के अनुसार ईश्वरकृष्ण तथा अन्य मनीषियों के अनुसार विन्ध्य-वासी की रचना है जो परमार्थसप्तति के रचनाकार वसुबन्धु के समकालीन थे जिसने सांख्यकारिका के सिद्धान्तों के खण्डनार्थ ही अपनी "परमार्थसप्तति" की रना की थी । सुप्रसिद्ध जापानी दार्शनिक तकाकुसु ने विन्ध्यवासिन् तथा ईश्वरकृष्ण को एक बताया है ।[1] किन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता है ऐसा महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज कहते हैं ।[2] भोज के राजमार्तण्ड में विन्ध्यवासरचित एक वाक्य दृष्टिगोचर होता है ।[3] मनुस्मृति के व्याख्याकार मेधातिथि ने भी विन्ध्यवास के मत का उल्लेख किया है ।[4] स्कन्देश्वर अतीव स्पष्ट तथा प्रभावशाली वक्तव्य द्वारा कालिदास एवं ईश्वर-कृष्ण में ऐक्यभाव स्थापित करते हैं । सुप्रसिद्ध पाश्चात्त्य मनीषी डा० कीथ भी सांख्य-कारिका को विन्ध्यवासकी ही कृति स्वीकार करते हैं । इस प्रकार विन्ध्यवास तथा ईश्वर-कृष्ण में ऐक्य सिद्ध होने के कारण यदि घनश्याम विन्ध्यवास, ईश्वरकृष्ण तथा कालिदास

१- जरनल आफ रायल एशिएटिक सोसायटी १९०५
२- जयमंगला, पृ० ६-७
३- सांख्या हि केचिन्नान्तराभवमिच्छन्तिविन्ध्यवासप्रभृतयः १.५५
४- ------ विन्ध्यवासप्रभृतयः १.५५

में अभिन्नता सिद्ध करने का प्रयास करते हैं तब यह प्रश्न अविश्वसनीय नहीं हो सकता, स्कन्नेश्वर की उक्ति द्वारा इसका अनुमोदन प्राप्त होता ही है । ईश्वरकृष्ण तथा विन्ध्यवास में भिन्नता स्वीकार करें अथवा अभिन्नता विन्ध्यवास को इतिहासवेत्ताओं ने सुप्रसिद्ध बौद्ध-दार्शनिक वसुबन्धु का समकालीन स्वीकार किया है क्योंकि सांख्यकारिका में प्राप्त सिद्धान्तों का ही खण्डन उनकी रचना में प्राप्त है । सांख्य-दर्शन के इतिहास के पठनोपरान्त यह ज्ञात होता है कि सांख्यकारिका ईश्वरकृष्ण रचित कृति है तथा डॉ० पं० उदयवीर शास्त्री ने सिद्ध किया है कि सांख्य के अनेक सम्प्रदायों में से किसी एक सम्प्रदाय के प्रवर्तक वार्षगण्य थे, उसी सम्प्रदाय के अनुयायी विन्ध्यवासी थे, क्योंकि विन्ध्यवास अपने गुरु वार्षगण्य के साम्प्रदायिक शिष्य थे । दूसरे पक्ष में ईश्वरकृष्ण सांख्य की मुख्यधारा के अनुयायी थे । विन्ध्यवासी के अनेक मतों के साथ ईश्वरकृष्ण का विरोध है । यथा विन्ध्यवासी के आतिवाहिक शरीर की सत्ता स्वीकार नहीं की है किन्तु ईश्वरकृष्ण ने सूक्ष्म शरीर (आतिवाहिक) को स्वीकार किया है ।[1] इसी प्रकार अनुमान लक्षण में भी भिन्नता प्राप्त होने के कारण ईश्वरकृष्ण तथा विन्ध्यवास में ऐक्य सिद्ध करना अनुचित है । विभिन्न सिद्धान्तों को देखते हुए दोनों को पृथक्-पृथक् स्वीकार करना ही उचित है । डॉ० वेलवलकर के कथनानुसार विन्ध्यवास, बुद्धसमकालिक होने के कारण इसका काल ई० तृतीय शताब्दी के पूर्वार्ध (२५०ई०) के समीप स्वीकार किया जा सकता है । श्रीविनयतोष भट्टाचार्य[2] विन्ध्यवास को ईश्वरकृष्ण की अपेक्षा प्राचीन स्वीकार करते हैं, किन्तु यह उचित नहीं । ईश्वरकृष्ण ने विन्ध्यवास के मतों का निरा-

---

१- अन्तराभवदेहस्तु नेष्यते विन्ध्यवासिना । - श्लोकवार्तिक
-सां०का० ३९-४०

२- जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री - भाग ६, पृ० ३६, वी० भट्टाचार्य ।

करण इसलिए नहीं किया कि सांख्यकारिका की ७२ वीं कारिका में परवादों का उल्लेख न करने की घोषणा की है । ईश्वरकृष्ण ने समस्त वाद-विवादों से दूर रहकर मात्र सांख्यीय विषय प्रतिपादन करना ही अपना ध्येय रखा । इस विचार-विमर्श को दृष्टि में रखते हुए यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि ईश्वरकृष्ण का काल ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी सिद्ध होता है, क्योंकि अनुमानतः ईसवी प्रथम शताब्दी के "अनुयोगद्वारसूत्र" नामक जैन ग्रन्थ में " कनगसत्तरी"[1] नाम का उल्लेख उपलब्ध है । यह संज्ञा ईश्वरकृष्ण की "सांख्यसप्तति" अथवा सांख्यकारिका का ही है ऐसा सांख्य-दर्शन के इतिहासकार विश्वसनीय विद्वान् पं० उदयवीर शास्त्री एवं म०म० डॉ० गोपीनाथ कविराज ने कहा । इस प्रकार विन्ध्यवास का काल डॉ० उदयवीर शास्त्री २५० ईसवी शतक निश्चित करते हैं , अतः विन्ध्यवास ईश्वरकृष्ण की अपेक्षा अर्वाचीन ही है प्राचीन नहीं । विन्ध्यवास तथा ईश्वरकृष्ण की अभिन्नता के आधार पर स्थापित कालिदास के ऐक्य की कल्पना सुतरां असिद्ध हो जाती है ।

वाग्देवतावतार कालिदास के वर्ण , आश्रयदाता तथा काल का विवेचन --

सामान्य विचारधारानुसार कालिदास ने गुप्तवंश को अपने जन्म द्वारा सुशोभित किया था, अतः यदि कालिदास तथा ईश्वरकृष्ण में ऐक्यभाव स्वीकार कर लिया जाए तो यह मत अधिक सुदृढ हो जाता है। इस प्रकार कालिदास के कालविषयक समस्या का समाधान भी हो जाता है । पाश्चात्य मनीषी कीथ का कथन है कि ईश्वरकृष्ण का काल ईसा की चतुर्थ शताब्दी है तथा ईश्वरकृष्ण एवं वसुबन्धु समकालिक थे, क्योंकि वसुबन्धु ने

१- दी हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर - ए०बी०कीथ,पृ० ४८८

अपने ग्रन्थ "परमार्थ-सन्तति" में ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका अथवा "सांख्यसन्तति" के सिद्धान्तों का खण्डन किया है । बसुबन्धु समुद्रगुप्त के सचिव थे । वामनाचार्य द्वारा रचित "काव्यालंकारसूत्राणि" में एक श्लोक प्राप्त है --

"सोऽयं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयश्चन्द्रप्रकाशो युवा ।
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रमः ।।

"आश्रमः कृताधियामि" त्यस्य वसुबन्धुसाचिव्योपक्षेपपरत्वात् साभिप्रायत्वम्"

अतः ईश्वरकृष्ण कालिदास का भी समुद्रगुप्त द्वितीय के समकालिक स्वीकार करना उचित है क्योंकि सांख्यकारिका के खण्डनार्थ ही "परमार्थसन्तति" की रचना हुई थी । प्रौढतम रचना "रघुवंशम्" में कवि की वाणी मुखर होकर बोल उठी है ।[1]

"इस पद की अर्थतः ध्वनि उसे समुद्रगुप्त के समकालिक अथवा निकटवर्ती ही स्थितिकाल सिद्ध कराती है । डॉ० डी०वी० केतकर ने भी प्रमाण ज्योतिष के आधार पर कवि का स्थितिकाल २८० ईसवी शताब्दी सिद्ध की है । अपने विचारों का उद्घाटन करते हुए केतकर[2] का कथन है कि उपर्युक्त श्लोकों में कवि ने दक्षिणायन का आरम्भ तारे के समीप वर्णित की है । सूर्यसिद्धान्त एवं वराहमिहिर की पञ्चसिद्धान्तिका में अगस्त्य की दूरी ९० अंश पर उल्लिखित है । "वेदाङ्ग ज्योतिष के आधारानुसार दक्षिणायन आश्लेषानक्षत्र पर अश्विनी से ११३.३ अक्षांश की दूरी आरम्भ होती है । निखिलकविचक्र-चूडामणि कालिदास के काल तक संभवतः यह २६ अंश पीछे सरक गया था तथा पुनर्वसु पर था ।[3] वराहमिहिर जिनका स्थितिकाल ५२० ईसवी शताब्दी है के समय पर यह ७६.७ अंशपर था अंश पर जाने में ७२ वर्ष लगते हैं । अतः कालिदास वराहमिहिर से २४० वर्ष पूर्व अतः

१- आसमुद्रक्षितीशानाम् रघु० १-५
२- डी० वी० केतकर - " दी मेघदूत"
३- रघु० १६-४४

२८० ईसवी शताब्दी में स्थित होंगे ।

इस सिद्धान्त के द्वारा गुप्तवंश में कवि की स्थिति सुदृढ़ अवश्य होती है, किन्तु क्या "ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी" का सिद्धान्त जो भारतीय मनीषीगण संमत है, उससे विरुद्ध नहीं होती ? डा० माईणकर महोदय स्वयं अपने ही वक्तव्य का समर्थन नहीं कर पाते । जबतक ईसापूर्व प्रथम शताब्दी का सिद्धान्त पूर्णतया असिद्ध नहीं हो जाता , इस मत को स्वीकार करना अनुचित है । महामहोपाध्याय डा० वी०वी० मिराशी का डा० वी० केतकर के इस ज्योतिष गणनाधार पर काल विषयक विवेचन में आपत्ति का उपस्थापन करते हुए कहा कि इस प्रकार का वर्णन जनश्रुति के आधार पर किया है न कि ज्योतिष सम्बन्धी काल गणना के आधार पर । स्वयं डा० माईणकर अपने ग्रन्थ में रघुवंश का रचनाकाल ३६० ई०शताब्दी स्वीकार करते हैं ।[१] अतः ८० वर्ष के अन्तराल को सिद्ध करने के लिए भी किसी सुदृढ़ प्रमाण की आवश्यकता है ।

महाकवि कालिदास ने अपने आश्रयदाता का अप्रत्यक्ष संकेत अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है । उन्हें गुप्तवंश का राजाश्रय प्राप्त था तथा ग्रन्थों के नाम भी गुप्त नृपों से सम्बन्धित हैं यथा कुमारसम्भवम् में कुमारगुप्त, विक्रमोर्वशीयम् में विक्रमादित्य तथा "तत्र स्कन्दं नियत वसति" में स्कन्दगुप्त का संकेत है । के० एस० रामास्वामी के विचारानुसार "गुप्" धातु के प्रति कवि का विशेष स्नेह उन्हें गुप्तकाल में ही सिद्ध करता है । किन्तु कवि को नृपाधिराज समुद्रगुप्त का आश्रय प्राप्त था यह डा० माईणकर की मौलिक कल्पना है । प्रयाग में हरिषेण कृति प्रशस्ति में प्राप्त समुद्रगुप्त के दिग्विजय

१- This would suggest that Raghuvanism was composed sometimes after 360A.D. the date of Allahabad pillar Inscription .
- Dr. T.G. Maintar - Pg. 107.

की संगति रघुवंशम् में प्राप्त रघु के दिग्विजय से उचित बैठती है । एतदतिरिक्त विक्रमोर्वशीयम् में प्राप्त पंक्ति समुद्रगुप्त को ही इंगित करता है[1] --

"वसुधाधरकंदराभिसर्पीप्रतिशब्दोऽपि हरेर्भिनत्ति नागान्"

समुद्रगुप्त ने ब्राह्मणों को एक लाख गौएँ दानस्वरूप दी थी तथा अनेक नागराजों पर विजय प्राप्त की थी । मालविकाग्निमित्रम् में वर्णित अश्वमेध समुद्रगुप्त कृत अश्वमेध को ही लक्ष्य करता है । "विक्रमोर्वशीयम्" में भी इसी प्रकार की पंक्ति प्राप्त होती है[2] --

"एष खण्डमोक्षसश्रीक उदितो राजा द्विजातीनाम् "

"विक्रमोर्वशीयम्" के भरतवाक्य में सरस्वती तथा लक्ष्मी का साहचर्य समुद्रगुप्त को ही संकेतित करता है[3] -

"परस्परविरोधिन्योरेकसंश्रयदुर्लभम् ।
संगतं श्रीसरस्वत्योर्भूतयेऽस्तु सदा सताम् ।।"

समुद्रगुप्त को कविराज की उपाधि प्राप्त थी तथा वह वीणा-वादन में निपुण था -- यह इतिहास से ज्ञात होता है । इसके विपरीत चन्द्रगुप्त स्वयं विद्वान् न होकर मात्र विद्वानों का आश्रयदाता ही था । अतः उपर्युक्त भरतवाक्य समुद्रगुप्त के प्रति संकेत करता है । "रघुवंश" में रघु ही प्रधान राजा है जिसके चित्रण का आधार है समुद्रगुप्त ही है । चन्द्रगुप्त द्वितीय गुप्तवंश का तृतीय नृप था जिसे रघुवंश के तृतीय नृप अज से उपमित किया गया है । रघु को कवि भास्वान्, सूर्य, सविता प्रभृति विशेषणों से अलंकृत कर दिग्विजयों के आधार पर हिन्दू नेपोलियन की उपाधि प्रदान की है। महाराजाधिराज दिलीप तथा अज को चन्द्रमा की उपमा प्रदत्त है । रघुवंश वैष्णव काव्य है जहाँ

1 विक्रम० 1-16
2 विक्रम० तृतीयोऽङ्क पृ० 196
3 विक्रम० 5-24

सर्वत्र संभवतः शण्व-कालिदास ने वैष्णव नैतिकादर्शों को चित्रित करने का प्रयास किया है । मेघदूतम् में मघ को " मघोनः प्रकृतिपुरुषः" तथा यक्ष को "अनुचरो राजराजस्य" कहा गया है अतः "मघवन्" तथा "राजराज" में श्लेष द्वारा कवि की महत्वाकांक्षा प्रगट हो रही है । कविगुप्तवंशीय नरेश का आश्रय कवि था तथा "उज्जयिनी" उसकी निवासभूमि थी । इसके विपरीत गुप्तवंश की राजधानी "पाटलीपुत्र" थी । अतः कवि "पाटलिपुत्र" में रहकर प्रकृतिपुरुष की इच्छा करता है मेघ के लिए प्रयुक्त "नयन सुभगं","श्यामं वपु", "स्निग्धवेणी-सवर्णे" इत्यादि के द्वारा कालिदास ने अपने श्यामल वर्ण का वर्णन अतीव निपुणता से किया, यह कल्पना सुतरां सिद्ध है । "अन्तः शुद्धस्त्वमसि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः" द्वारा बलराम, मेघ तथा स्वयं अपने वर्ण का वर्णन किया है । सरस्वती पर जाकर बलराम ने अपने अन्तःकरण को शुद्ध किया था, उसी प्रकार मेघ को भी उपदेश है । कवि के पक्ष में विभिन्न अनुचित कर्मों के प्रति सरस्वती जलपान द्वारा शुद्धि की कल्पना है ।[1]

नृपेश समुद्रगुप्त को कालिदास का आश्रयदाता सिद्ध करना उचित नहीं । परम्परागत रीति से कालिदास का आश्रयदाता केनचित् विक्रमादित्य स्वीकार किया गया है । "विक्रमोर्वशीयम्" में प्रयुक्त " अनुत्सेकः खलु विक्रमालंकारः" तथा "विक्रममहिम्ना वर्धते भवान्" इन दो वाक्यों द्वारा कालिदास स्वयं को विक्रमादित्य के आश्रयत्व में स्वीकार करते हैं ।[2] गुप्तवंश में चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ही विक्रमादित्य की उपाधि ग्रहण की थी तथा कालिदास का विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त द्वितीय से समकालीनत्व सिद्ध करने में अनेक सुदृढ़ प्रमाण प्राप्त हैं जिनका विवेचन यहाँ आवश्यक नहीं है । इसी प्रकार समुद्रगुप्त

१- पू० मे० १-८, २२, २६
२ विक्रम० प्रथमोऽङ्क पृ० १६२

को कविराज स्वीकार कर चंद्रगुप्त द्वितीय को विद्वान् न स्वीकार कर मात्र विद्वज्जनों का आश्रयदाता स्वीकार करना -- यह परस्पर विरोधी प्रतीत होता है । भारत के इतिहास के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विशाला नगरी उज्जयिनी के विद्वान्-सभा में काव्य-निर्माण की परीक्षा स्वयं ली थी । एतद्विषयक श्लोक "राजशेखर" की"काव्य-मीमांसा" में प्राप्त होता है । चन्द्रगुप्त द्वितीय की विक्रमादित्य उपाधि अनेक ग्रन्थों के आधार पर सिद्ध है । जिसका विवेचन यहाँ अभीष्ट नहीं है । रघुवंश में रघु की उपमा समुद्रगुप्त से तथा सूर्य की उपमाएँ उसके लिए प्रयुक्त है तथा नृपेश दिलीप एवं अज अर्थात् चन्द्रगुप्त प्रथम और द्वितीय को चन्द्र की विभिन्न उपमाओं से अलंकृत किया गया है यह कथन भी समीचीन नहीं है । समुद्रगुप्त (रघु) के लिए केवल सूर्य ही नहीं प्रत्युत राशि की उपमा भी प्राप्त है[1]।

"पुपोष वृद्धिं हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः ।"

इसके विपरीत अज को रवि की उपमा दी गई है[2] --

"तस्मादपावर्तत कुण्डिनेशः पर्वात्यये सोम इवोष्णरश्मेः ॥"

अतः उपमाओं के आधार पर इस प्रकार का सिद्धान्त सिद्ध करना उचित नहीं है ।

इसी प्रकार कालिदास के ग्रन्थों द्वारा उनके वर्ण का अनुमान करना भी उचित नहीं है । आषाढमास के मेघ को देखकर विभिन्न विशेषणों के आधार पर कवि का श्यामल वर्ण ,स्वीकार नहीं किया जा सकता है । कवि का सौन्दर्य वर्णन इतना सजीव है मानों मेघ सम्मुख ही स्थित हो । इतना स्पष्ट चित्रण करने वाले वाग्देवतावतार कालिदास के सौन्दर्य विषयक ज्ञान के प्रति उत्सुकता अवश्य होती है , किन्तु कवि ने इस विषय पर परोक्ष-अपरोक्ष किसी रूप में संकेत भी प्रदान किया है । सुप्रसिद्ध आंग्ल

१ रघु० ३-२२ २ रघु० ६-३३

विद्वान् शेक्सपियर पर प्रकट की गई आर्नल्ड मैथ्यू की कुछ पंक्तियाँ स्वतः स्मरण हो आती हैं जिसकी संगति कविकुलगुरु पर भी सटीक बैठती हैं । सरस्वती के जलपान द्वारा मेघ की शुद्धि का उल्लेख कवि करता है । यहाँ कालिदास, मेघ तथा बलराम इन त्रयों पर जो अर्थ संकेतित है, वह उचित नहीं लगता । क्योंकि वराहमिहिर कृत वृहत्संहिता में बलराम को गौरवर्ण का बताया है । अतः श्यामल मेघ तथा गौर बलराम ही परस्पर विरोधी हैं, पुनः कवि से उनका समन्वय कैसे सम्भव होगा ? अतः कालिदास के वर्ण पर इन श्लोकों के आधार पर संकेत स्वीकार करना उचित नहीं है ।

ईश्वरकृष्ण, कालिदास तथा विन्ध्यवास में ऐक्यभाव की विचारणा --

मेघदूतम् के आधार पर विद्वान् डॉ० माईणकर के मतानुसार विन्ध्यवास (विन्ध्यवासी, विन्ध्यवासिन्) कालिदास तथा ईश्वरकृष्ण में ऐक्यता स्वीकार करनी चाहिए । यद्यपि इस तर्क पर अधिक विवेचन इनके ग्रन्थ में भी प्राप्त नहीं होता है । चीनी परम्परा के मतानुसार यह ज्ञात होता है कि सुविख्यात सांख्याचार्य वार्षगण्य की षष्ठितन्त्र के आधार पर विन्ध्यवास ने सांख्य-योग दर्शन पर आधारित किसी ग्रन्थ की रचना की तथा जिसका अस्तित्व अद्यापि प्राप्त नहीं है । तदनन्तर योगदर्शन अंश को छोड़कर सांख्य-दर्शन की स्थापना के लिए सांख्यकारिका की रचना की । परजिटर महोदय का कथन है कि मार्कण्डेयपुराण के पञ्चाशत्सप्त सर्ग में उल्लिखित सरिताओं तथा पर्वतों का यदि आलोचनात्मक अध्ययन किया जाए तो ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में विन्ध्य प्रदेश के अन्तर्गत विन्ध्याचल प्रदेश के पूर्वीय क्षेत्र तथा नर्मदा पर्यन्त सम्प्रति आधुनिक

भोपाल से विहार पर्यन्त भूमि और विन्ध्य के पश्चिमी क्षेत्र तथा आरावली पर्वत तक का प्रदेश जिसकी प्राचीन संज्ञा परिपत्र है अन्तर्हित हो जाती है । आधुनिक काल में विन्ध्य का अर्थ नर्मदा के उत्तर सम्पूर्ण विन्ध्याचलप्रदेश ही समझा जाता है । इन भौगोलिक तथ्यों के सम्मुख रख यदि सुप्रसिद्ध करुणगीतिका खण्डकाव्य "मेघदूतम्" का अध्ययन किया जाए तो ज्ञात होता है कि यक्ष द्वारा मेघ को जिन मार्गों के विषय में बताया गया है, उससे यही ज्ञान प्राप्त होता है कि कवि को विन्ध्यप्रदेश का अत्यन्त स्पष्ट एवं गहन ज्ञान प्राप्त था । सुप्रसिद्ध दार्शनिक विन्ध्य-वास का जन्मस्थल संभवतः विन्ध्यप्रदेश है तथा विन्ध्यप्रदेश का स्पष्ट उल्लेख करनेवाले कालिदास को भी विन्ध्यवास की संज्ञा से अलंकृत किया जा सकता है । अतः निष्कर्षस्वरूप विन्ध्यवासी ईश्वरकृष्ण तथा कालिदास में अभिन्नता स्वीकार करनी चाहिये । यह सिद्धान्त भी समीचीन प्रतीत नहीं होता है । सांख्यदर्शन के इतिहास के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण तथा विन्ध्यवासी एक ही व्यक्ति नहीं हैं । विन्ध्यवासी के क्वचिद् "व्याडि" भी कहा गया है । कुछ दार्शनिकों के विचारानुसार सांख्यकारिकाकार के प्रणेता विन्ध्यवास ईश्वरकृष्ण हैं । घनश्याम सांख्यकारिकाकार की संज्ञा ईश्वरकृष्ण-भर्तृमीद देते हैं । स्वप्नेश्वर केवल ईश्वरकृष्ण तथा अन्य विद्वान् विन्ध्यवासी अथवा ईश्वरकृष्ण को सांख्यकारिका के प्रणेता मानते हैं । इस प्रकार अनेक संज्ञाएँ प्राप्त होने के कारण भी कालिदास-ईश्वरकृष्ण की एकता सिद्ध करना कठिन है क्योंकि एक ही व्यक्ति की असंख्य संज्ञाएँ किसी सुदृढ़ प्रमाण के अभाव में स्वीकार करना उचित नहीं तथा विभिन्न विचार ऐक्य के स्थान पर वैभिन्य को ही प्रस्तुत करते हैं । यदि "कालिदास" की रचना "मेघदूतम्" में विन्ध्यप्रदेश के प्रति आकर्षण प्राप्त होता भी है तथापि केवल

उस आधार पर उन्हें विन्ध्यवासी की संज्ञा प्रदान करना तदनन्तर सुप्रसिद्ध सांख्यदार्शनिक के साथ ऐक्यभाव सिद्ध करना हास्यास्पद प्रतीत होता है । इसके अतिरिक्त किसी सुदृढ प्रमाण के अभाव में इस प्रकार के सिद्धान्त को सिद्ध स्वीकार किया भी नहीं जा सकता है । अन्यत्र क्वचिदपि ईश्वरकृष्ण, भर्तृमीढ, विन्ध्यवासी तथा ईश्वरकृष्ण की संज्ञा कविकुल-गुरु को प्राप्त हुई हो ऐसा उल्लेख भी प्राप्त नहीं होता । घनश्याम अथवा स्वप्नेश्वर ने भी इस प्रकार का संकेत प्रस्तुत नहीं किया है । अतः इन सभी व्यक्तियों का कविकुल गुरु से ऐक्यभाव सिद्ध नहीं होता है ।

सांख्यकारिका तथा कवि की रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन --

डॉ० माईणकर के मतानुसार सांख्यदर्शन का यदि मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया जाए तो यह ज्ञात होता है कि सांख्यकारिका के पूर्वार्ध में प्राप्त कारिकाओं में सांख्य-सम्मत मुख्य प्रतिपाद्य विषयों -- प्रकृति ,पुरुष, गुणवाद, प्रमाण-चर्चा तथा कार्यकारण-वाद आदि विचारों का उपस्थापन किया गया है किन्तु उत्तरार्ध में कवि ने अपने कवित्व रूप को अधिक चित्रित किया है अर्थात् ईश्वरकृष्ण पाठक गणों के सम्मुख दार्शनिक की अपेक्षा कवि रूप में अधिक आते हैं । सांख्यकारिका के उत्तरार्ध में दार्शनिकता से अधिक काव्य-सौन्दर्य को प्रश्रय मिला है तथा वहाँ विचारों की प्रौढ़ता प्राप्त नहीं होती है । कारिका के प्रथमार्ध में शैली संक्षिप्त, सारयुक्त तथा आलोचनात्मक है जिस प्रकार की शैली दर्शन साहित्य में अपेक्षित है । किन्तु उत्तरार्ध में सुप्रसिद्ध दार्शनिक ईश्वरकृष्ण उपमालंकार तथा उद्धरणों का प्रयोग बहुतायत से करते हैं, अन्य अलंकारों के भी क्वचित् दर्शन प्राप्त हैं । उदाहरणस्वरूप त्रिगुणात्मिका प्रकृति के प्रसंग में उसके कार्यों का वर्णन करते

हुए ईश्वरकृष्ण उपमालंकार का प्रयोग करते हुए कहते हैं[१]--

"रंगस्य दर्शयित्वा निवर्तते यथा नृत्यात्"

यहाँ नित्य, त्रिगुणात्मक, असीम-अनन्त, निरपेक्ष स्वतन्त्र प्रकृति की उपमा नर्तकी से दी गई है । उसी प्रकार अन्यत्र गुणत्रय समन्वित प्रकृति की उपमा उस गुणयुक्त युवती से दी गई है जिसका मुख्य उद्देश्य अपने प्रियतम को प्रसन्न करना है । जिस प्रकार कुलांगना अपनी सेवाओं तथा प्रेमल व्यवहारों द्वारा अपने प्रति उदासीन तथा निसंग पुरुष को आकर्षित करना चाहती है, उसी प्रकार सांख्य-सम्मत प्रकृति भी तद्दर्शी उदासीन पुरुष को अपने मोहपाश में बद्ध करना चाहती है । श्रीमदीश्वरकृष्ण स्पष्टतः कहते हैं --

नानाविधैरुपायैरूपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः ।

गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति ॥[२]

वस्तुतः यहाँ प्रयुक्त "गुणवती" पद भी साभिप्राय युक्त है । इस शब्द को ध्यान में रखते हुए यदि कविकुलगुरु की करुणगीतिका का अध्ययन किया जाए तो ज्ञात होता है कि यक्ष द्वारा मेघ को अपनी विरहिणी प्रिया के अद्वितीय सौन्दर्य वर्णन के सन्दर्भ में "गुणवती" पद का प्रयोग करता है ।[३] अन्यत्र सांख्यकारिकाकार गुणवती प्रकृति को "सुकुमारी" विशेषण द्वारा विभूषित करते हैं --

"प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिः "[४]

१- सां० का० ५९

२- सां० का० ६० ।

३- आलिङ्ग्यन्ते गुणवति मया उ०मे० ५०

४- सां०का० ६१

यहाँ प्रयुक्त सुकुमार पद हठात् ही "विक्रमोर्वशीयम्" की नायिका उर्वशी का स्मरण करा देता है जहाँ महाकवि ने उर्वशी के अप्रतिम सौन्दर्य-लावण्य, माधुर्य-कोमलता को प्रगट करने के लिए इस पद का प्रयोग करते हैं --

"उर्वशी सुकुमारं प्रहरणं महेन्द्रस्य"[1]

अन्यत्र ईश्वरकृष्ण ने नाटक एवं रंगमंच का समन्वय तथा शान्त जीवन का विचार अतीव बुद्धिमत्ता से करता है[2]--

"तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात्सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।

प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवत् स्वच्छः ॥"

स्वस्थ, सुस्थ प्रभृति शब्दों के स्थान पर "स्वच्छः" पद का प्रयोग भी स्वयं में अनुपमेय है । इस पद प्रयोग द्वारा कवि ने अपने दार्शनिक विचार तथा काव्यात्मक दृष्टि दोनों का समुचित समन्वय कर दिखाया है । अन्यत्र कुलांगना की लज्जा-संकोच रूप गुण को भी बुद्धिमत्तापूर्वक अतीव सुन्दर रीति से प्रकृति के साथ उपमा रूप में प्रस्तुत कर अपनी नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का परिचय दिया है [3]--

"प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिः ।

या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥"

जिस प्रकार कुलांगना अपना उपयोग पति से कराने के लिए इच्छुक रहती है, उसी प्रकार प्रकृति को भी यह उत्सुकता रहती है कि प्रत्येक व्यक्ति मुक्त हो जाए इसका

१- विक्रम० प्रथमोऽङ्कः पृ० १५५
२- सां० का० ६५
३- सां० का० ६१

कारण है कि प्रकृति भोग्या है अतः यावत् पर्यन्त पुरुष द्वारा उसका भोग न हो जाए वह पुरुष को त्रिगुणात्मक रूपों द्वारा आकर्षित करती है । प्रकृति का भोग है उसका साक्षात्कार । जिस प्रकार कुलांगना युक्त हो जाने पर विरत हो जाती है उसी प्रकार प्रकृति अपना साक्षात्कार करा लेने पर उदासीन हो जाती है तथा पुरुष साक्षात्कार करके निस्संग हो जाता है । क्योंकि प्रकृति अत्यन्त लज्जावती कुलांगना के समान है, अतः जिस प्रकार कुलांगना परपुरुष द्वारा अस्तव्यस्त वस्त्रों से दर्शित होने के पश्चात् पुनः उस पुरुष के सम्मुख प्रस्तुत होना नहीं चाहती उसी प्रकार प्रकृति का एक बार जिस पुरुष को साक्षात्कार हो जाता है, उस पुरुष विशेष के प्रति प्रकृति पुनः अपना स्वरूप प्रदर्शन नहीं करती । अतः प्रकृति की उपमा उस सुकुमारी, सौन्दर्यवती तथा लज्जावती कुलांगना से प्रस्तुत करते हुए दार्शनिक सांख्यकारिका प्रणेता ईश्वरकृष्ण का कथन है[1]--

"या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ।"

अन्यत्र कारिका में प्रयुक्त "निवृत्तप्रसवाम्" पद के द्वारा ईश्वरकृष्ण उस वयोवृद्ध दंपति के सुखमय जीवन को संकेतित करते हैं, जहाँ सम्मिलन की व्यर्थता विदित है । इस भाव से अनुप्राणित सांख्यकारिकाकार भी पुरुष-प्रकृति संयोग को अप्रयोजन को बताते हुए कहते हैं[2]--

" सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य"

इस कारिकार्ध द्वारा अनिर्वचनीय आनन्द, परस्पर स्नेह तथा सद्भावना से युक्त व्यवहार तथा शारीरिक अनावश्यकता की अनुभूति होती है । इन भावों तथा

१- सां० का० ६१
२- सां० का० ६६

वाणियों के द्वारा यह ज्ञात होता है कि ईश्वरकृष्ण दार्शनिक होने के साथ ही साथ कवि भी थे तथा रंगमंच नृत्यादि शब्दों से सुपरिचित स्वच्छ, प्रेक्षक प्रभृति सुन्दर शब्दों द्वारा काव्यात्मक सौन्दर्य को द्विगुणित करने में समर्थ थे । यह भी ध्यातव्य है कि ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका के उत्तरार्ध में उपमालंकार तथा उदाहरणों को भी यथोचित प्रयुक्त कर अपने कवित्व गुण को प्रदर्शित किया है । कवि प्रकृति पुरुष के माध्यम से भारतीय परम्परा के आदर्श परिवार को भी संकेतित करता है । जिस प्रकार हिन्दू संस्कृति में विवाहोपरान्त प्रथम चरण में परस्पर शारीरिक आकर्षण तथा अन्त में मुक्ति उल्लिखित है, उसी प्रकार प्रकृति पुरुष को अपने विभिन्न रूपों द्वारा आकर्षित करती है तथा पुरुष द्वारा प्रकृति के साक्षात्कारोपरान्त ही मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

इस प्रकार इन विचारों, पंक्तियों तथा कला के सूक्ष्म स्पर्श तथा प्रभावों के आधार पर कवि तथा दार्शनिक की एकता स्वीकार करनी उचित है तथा रत्नेश्वर की उक्ति स्पष्ट ही है । गुणवती, सुकुमार पद के समान सांख्यकारिका की प्रथम कारिका में प्राप्त "एकान्त" पद की तुलना "मेघदूतम्" से की जा सकती है ।[1] इसी प्रकार सुप्रसिद्ध नाटक "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" के षष्ठोऽङ्क में प्राप्त "अविशुद्ध इदानीमाजीवः" तथा "श्रोत्रियः"[2] का समन्वय सांख्यकारिका में प्राप्त आनुश्रविक के प्रसंग में अविशुद्ध के प्रयोग के साथ की जा सकती है ।[3] रंग, नृत्य, नर्तकी, प्रेक्षक शब्दों के अध्ययन से

१- दुःखमेकान्ततो वा उ० मे० ४९ तथा सां०का० १

२- अविशुद्ध इदामीजावः अभि० षष्ठोऽङ्कः पृ० ९८
.... मृदुरेव श्रोत्रियः अभि० ६-१

३- दृष्टावदानुश्रविकः सां० का० २

पाठकगणों को निश्चित रूप से "मालविकाग्निमित्रम्" की स्मृति हो आती है । इन शब्दों का दार्शनिक अर्थ समन्वय भी सांख्यकारिका के दृष्टिकोण से किया जा सकता है -- नृत्यांगना मालविका प्रकृति रूप है तथा प्रेक्षक अग्निमित्र रूप पुरुष के सम्मुख अपना नृत्य प्रस्तुत करती है । इसी प्रकार "निवृत्तिप्रसवाम्" तथा "सप्तविनिवृत्ताम्" की अर्थसाम्यता "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" से की जा सकती है ।[1] वहाँ स्पष्टतः इन शब्दों का प्रयोग अवश्य प्राप्त नहीं होता किन्तु अर्थसाम्यता का व्याख्यान किया जा सकता है । दुष्यन्त तथा शकुन्तला नाटक के अन्त में मूल-आकर्षणों को भूलकर वास्तविकता पर जीवन व्यतीत करते हैं । "सप्तरूप" का अर्थ "वैयक्तिक सौन्दर्य है। इन उदाहरणों के आधार पर ईश्वरकृष्ण कालिदास की ऐक्यता विचारणीय है ।

किन्तु क्या मात्र अल्प उपमाओं तथा उदाहरणों के आधार पर सांख्यकारिकाकार तथा सुप्रसिद्ध कवि एवं नाटककार कालिदास की ऐक्यता स्वीकार करना उचित है ? अथवा कुछ उपमाएँ इस नवीन सिद्धान्त की स्थापना के लिए दृढ़ प्रमाणरूप सिद्ध हो सकता है ? भारतीय दर्शन परम्परानुसार इस प्रकार की उपमाएँ बादरायण, गौतम, शंकराचार्य प्रभृति दार्शनिकों की रचनाओं में प्राप्त होती है । अतः सांख्यकारिका में इस प्रकार की उपमाएँ दर्शनसम्मत है । अतः इस आधार पर ईश्वरकृष्ण तथा कालिदास में ऐक्यभाव विचारणा उचित नहीं । तदतिरिक्त सांख्यकारिका सर्वसम्मति से सांख्यदर्शन का आधारभूत मूल ग्रन्थ है अतः उसमें कवित्व भाव की संभावना कल्पित है । इस प्रकार गुणवती पद का अर्थ गुणयुक्त तथा सुकुमार का अर्थ लज्जायुक्त तथा कोमल दोनों ही किया जा सकता है । अतः उसमें सारगर्भित अर्थ की प्रतीति नहीं होती है । मालविका के

१- सां० का० ५९ ,६५

लिए प्रकृति तथा अग्निमित्र को पुरुष की उपाधि भी उचित नहीं ।निवृत्तप्रसवाम्" तथा " स्तरूपविनिवृत्ताम्" का अर्थ सामञ्जस्य शकुन्तला के सन्दर्भ में कदापि स्पष्ट नहीं है । संभवतः स्वमत के उपस्थापनार्थ डा० माईणकर को अत्यधिक लीन होने के कारण सर्वत्र सांख्य दर्शन ही दृष्टिगत होने लगा । यदि स्वच्छः" पद प्रयोग द्वारा ईश्वरकृष्ण की दर्शन तथा काव्य दोनों का समुचित ज्ञान तथा अरस्तू का सिद्धान्त संकेतित है तदा यह प्रश्न उठता है कि क्या कवि वस्तुतः इस सिद्धान्त से अवगत थे ? यदि उन्हें ग्रीक दर्शन का ज्ञान प्राप्त था तो उन्होंने अन्य समस्त ग्रन्थों मे इस ज्ञान का संकेत तक न दिया यह उचित प्रतीत नहीं होता । इसके अतिरिक्त सांख्यकारिका जिसे कवि की प्रथम रचना स्वीकार की गई है वहाँ विचारों की अत्यधिक प्रौढ़तर विचारों को प्रस्तुत किया गया है और भारतीय आदर्शों का स्पष्ट चित्रण मिलता है, अतः उसके पश्चात् की रचनाओं में भी प्रौढ विचारों की ही अपेक्षा की जाती है । किन्तु"विक्रमोर्वशीयम्","मालविकाग्निमित्रम्" तथा "ऋतुसंहार" में युवा कवि का हृदय शृंगार-रस के हिलारे ले रहा है तथा भौतिक सुख को ही प्रश्रय मिलता है, अध्यात्म को वहाँ कोई स्थान प्राप्त नहीं । सुप्रसिद्ध खण्डकाव्य सामान्य दृष्टि से भोजकाव्य ही प्रतीत होता है जहाँ काम की धारा अविरल रूप से बही है । अतः यह संभावना उचित प्रतीत नहीं होती कि प्रथम रचना में ही विचारों की प्रौढ़ता, बौद्धिकता तथा दर्शन तत्वों का व्याख्याकार कवि अपनी अन्यतर रचनाओं में विषय-वासनाओं का सजीव चित्रण करेगा, क्योंकि प्रथम रचना की अपेक्षा अधिक उच्चतर भावों से युक्त रचना ही उसकी शैली की उन्नति का द्योतक होगी जैसी प्रौढ़तम रचना "रघुवंशम्" महाकाव्य अथवा विश्वप्रसिद्ध नाटक "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" में प्राप्त होती है ।

गौडपादभाष्य एवं कालिदास सांख्यकारिका पर अनेक भाष्यों की रचना हुई है जिसमें श्री वाचस्पतिमिश्र का भाष्य सर्वप्रमुख है । अन्य भाष्यकारों में विज्ञानभिक्षु ,माठर वृत्ति, गौडपाद प्रभृति प्रमुख हैं । गुणत्रय का विवेचन करनेवाली कारिका के भाष्य में गौडपाद का कथन इस प्रकार है[१]--

"यथा - सुरूपा सुशीला स्त्री सर्वसुखहेतुः,सपत्नीनां सैव दुःखहेतुः, सैव रागिणां मोहं जनयति, एवं सत्वं रजस्तमसोः वृत्तिहेतुः । यथा राजा सद्योद्युक्तः प्रजापालने दुष्टनिग्रहे, शिष्टानां सुखमुत्पादयति दुष्टानां दुःखं मोहं एवं राजः सत्व-तमसोः वृत्तिं जनयति।यथा मेघाः खमावृत्य जगतः सुखमुत्पादयन्ति, ते वृष्ट्या कर्षकाणां कर्षणोद्योगं जनयन्ति, विरहिणां मोहम् ।"

यहाँ यथा द्वारा प्रतिपाद्य समस्त पदों का यथोचित वर्णन डॉ० माईणकर के विचारानुसार कालिदास की रचनाओं में प्राप्त होता है । यद्यपि नारी (प्रकृति) द्वारा विभिन्न पुरुषों को आकर्षित करना रूप उदाहरण दर्शन तथा काव्य दोनों में ही समान रूप से प्राप्त है किन्तु नृप तथा मेघ का उदाहरण वस्तुतः स्वयं में अनुपमेय है तथा कवि की रचनाओं से इनकी साम्यता की संगति बैठती है । क्योंकि कविकुलगुरु के नायक प्रायः नृप हैं यथा दुष्यन्त, पुरुरवा, अग्निमित्र आदि । इसी प्रकार "मेघदूतम्" में मेघ के दूत बना भेजने की कल्पना दीख पड़ती है तथा नायिकाओं के वर्णन तथा उपमाओं की प्राप्ति कवि की रचना में बहुतायत से प्राप्त है । केवल विचारों में ही नहीं प्रत्युत शब्द साम्यता की भी प्राप्ति होती है । अतः गौडपाद भाष्य तथा मेघ-दूतम् की तुलना अभीष्ट है --

---

१- गौडपादभाष्य,पृ० २५-२६

(क) यथा मेघाः खमावृत्य जगतः सुखमुत्पादयति, ते वृष्ट्या कर्षकाणां कर्षणोद्योगं जनयन्ति, विरहिणां मोहम् । (गौडपादभाष्य) पृ० २५)

(ख) "त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः ।" पू० मे० १६

(ग) "सद्यः सीरोत्कषणसुरभिः क्षेत्रमारुह्य मालम् ।" पू० मे० १६

एतदतिरिक्त "विरहिणां मोहम्" अंश की तुलना पूर्ण श्लोक द्वारा भी की जा सकती है, विशेषतः इन प्रसंगों में प्राप्त है --

(क) "कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ।" पू० मे० ५

(ख)" इत्थं चेतश्चटुलनयने दुर्लभप्रार्थनं मे,
गाढोष्माभिः कृतमशरणः त्वद्वियोगव्यथाभिः ।।" उ० मे० ५१

वस्तुतः सांख्यकारिका में प्राप्त गुणवाद का विशद विवेचन कवि की रचनाओं में प्राप्त होता है । कवि मालविकाग्निमित्रम् में स्पष्टतः कहते हैं [1]--

"त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते ।"

इससे यही ज्ञात होता है कि कवि ने कलात्मक रूप से कारिकाओं के सिद्धान्त को अभिव्यक्त किया है । पुनः प्रकृति के संदर्भ में गौडपादभाष्य इस प्रकार है --

"यथा नर्तकी शृंगारादिरसैरितिहासादिभावैः निबद्धगीतवादित्रवृत्तानिरंगस्य दर्शयित्वा कृतकार्या निवर्तते ।"[2]

इस संदर्भ की संगति "मालविकाग्निमित्रम्" के द्वितीयोऽङ्क में जहाँ मालविका अपना नृत्य प्रस्तुत करती है वहाँ प्राप्त "इतिहासादिभावैः" से बैठती है ।[3]

१- मालविका० १-४
२- गौडपादभाष्य पृ० ९२
३- मालविका० द्वितीयोऽङ्कः पृ० २८२-२८३

अन्यत्र गौडपादभाष्य की तुलना रघुवंशम् से की जा सकती है । "लिङ्ग शरीर" से संबन्धित कारिका पर रचित भाष्य इस प्रकार प्राप्त है --

"आदिग्रहणात् यथा शैत्यं विना नापो भवन्ति शैत्यं वाऽद्भिर्विना अग्निरुष्णं विना, वायुः स्पर्शं विना, आकाशमवकाशं विना, पृथ्वी गंधं विना, तद्वत् ।"[1]

यहाँ गौडपाद ने वायु तथा पृथ्वी के गुणों -- स्पर्श तथा गंध का ही उल्लेख किया है । इस सन्दर्भ में शैत्य तथा "आप्" अविनाभाव स्वतः "रघुवंशम्" का स्मरण करा देता है ।[2]

"उष्णत्वमग्न्यातपसंप्रयोगात् शैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य ।"

ध्यातव्य है कि घनश्याम ने भी इस पंक्ति को कालिदास ईश्वरकृष्ण ऐक्य सिद्ध करने में प्रयुक्त किया है ।

अन्य स्थलों पर क्वचित् अर्थ साम्यता के साथ-साथ आश्चर्यजनक रूप से शब्द सामंजस्य प्राप्त होता है । ईश्वरकृष्ण ने प्रधान प्रकृति की विकृति में "परिणामतः सलिलवत्" उपमा प्रदान की है । गौड़पाद ने इसे अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है--

"यथाऽऽकाशादेकरसं सलिलं पतितं नानारूपात्संश्लेषात् भिद्यते तद्रसान्तरैरेवं प्रधानम् ।"[3]

महाकाव्य रघुवंशम् में भी विष्णु की स्तुति के अवसर पर कवि ने देवताओं के मुख से इन्हीं शब्दों को कहलाया है --

"रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते
देशे-देशे गुणेष्वेवं अवस्थास्त्वमविक्रियः ॥"[4]

१- गौ० भा० पृ० ६५
२- रघु० -५४
३- गौ० भा० पृ० ३२
४- रघु० १०-१७

यहाँ मात्र विचारों में ही प्रत्युत शब्दों में भी अद्भुत् ऐक्यता प्राप्त होती है । यहाँ यह संभावना तो उचित प्रतीत नहीं होती कि कविकुलगुरु ने गौडपादभाष्य को आधारशिला बना इस श्लोक की रचना की होगी । अतः संभवतः गौड़पाद ने ही कवि की रचनाओं तथा विशेषतः उपर्युक्त श्लोक के द्वारा कल्पना प्राप्त कर भाष्य की रचना की होगी और गौडपाद ने सांख्यकारिका के भाष्य की रचना वेला में उसी विद्वान् द्वारा रचित अन्य रचनाओं का सन्दर्भ, सहायतार्थ लेने में क्वचिदपि संकोच नहीं किया । यहाँ एक प्रश्न विचारणीय है कि क्या कालिदास ने कारिकाओं को अपने विचारों में रखते हुए अन्य रचनाओं का निर्माण किया तथा समयानुकूल यथोचित अवसर पर उन्हें काव्यात्मक रूप से प्रस्तुत किया है ।

"त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते" द्वारा कवि संभवतः लोकचरित के प्रसंग में त्रैगुण्य (कारिकाओं) का यही दृष्टिकोण ही संकेतित करते हैं ।

किन्तु क्या गौड़पाद ने इन विचारों को कालिदास से ही उधार लिया है ? संभवतः गौडपादभाष्यकार के इन विचारों का आधार न्यायशास्त्र होगा, क्योंकि भाष्यकार ने अग्नि तथा आप् के गुणों का उल्लेख किया है जो न्यायशास्त्र के मूल सिद्धान्त है ।[1] इसी प्रकार "परिणामतः सलिलवत्" के भाष्य की कल्पना निरुक्त से ली गई प्रतीत होती है, जहाँ यक्ष ने अपना वक्तव्य प्रगट किया है --

" सर्वे रसा अनुप्राप्ता प्राणियाम्"

इस प्रकार कालिदास की ही रचनाओं का प्रतिबिम्ब गौडपादभाष्य है यह कथन उचित नहीं । अस्तु, यदि यह स्वीकार कर भी ले तद्यपि यह किस प्रकार सिद्ध होता है

१- शीतस्पर्शवत्य आपः - त० सं० पृ० ५
उष्णस्पर्शवत्तेजः - त०सं० पृ० ६

कि कारिकाकार कालिदास ही थे अथवा ईश्वरकृष्ण-कालिदास में ऐक्य था ।

कवि की रचनाओं में सांख्य का स्वरूप --

निखिलकविचक्रचूड़ामणि कालिदास की रचनाओं में सांख्य दर्शन का अत्यधिक प्रभाव दृष्टिगत होता है । प्रकृति, गुणवाद, पुरुष, सत्कार्यवाद तथा प्रमाणत्रय प्रभृति मुख्य सिद्धान्तों का विशद विवेचन प्राप्त होता ही है, लिंग-शरीर की कल्पना भी प्राप्त होती है ।"अभिज्ञानशाकुन्तलम्" के पञ्चमोङ्क में हंसपदिका के संगीत का श्रवण कर दुष्यन्त द्वारा कथित श्लोक अनेक दर्शनों से अनुप्राणित हो रहा है [1] --

"रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्, पर्युत्सुकी भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्, भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ।।"

इस श्लोक में दुष्यन्त के वेदना तत्व का उल्लेख है । यह वेदना का तत्व इसीलिए उत्पन्न होता है कि हमारे पूर्वजन्मों के अनुभव तथा संस्कार सौन्दर्यानुभूति के साथ-साथ हमारे उपचेतन में आ जाते हैं कवि इसे "तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्" से व्यक्त करता है । प्रत्येक अनुभव अपने सजातीय अनुभव की स्पष्ट भावना से समन्वित होता है, वह स्वयं में स्वतन्त्र नहीं क्योंकि उसके साथ पूर्व की परम्परा जुड़ी रहती है । अतः किसी भी अनुभव की प्रतीति स्मृतिमूलक होने के कारण थोड़ी टीस, कसक या कलक लिए होती है । कवि उसे स्पष्ट करते हुए कहता है "भावस्थिराणि" ।

सांख्यदर्शनानुसार सूक्ष्मशरीर अथवा लिंगशरीर की कल्पना प्राप्त है । शुद्ध आत्मा व्यापक तथा निष्क्रिय होने के कारण उसका परलोकगमन तथा आगमन सम्भव नहीं तथा

१- अभि० ५-२

स्थूल शरीर यहीं भस्मसात् हो जाता है । अतः परलोक गमनादि की उपपत्ति लगाने के लिए मोक्ष तक स्थिर रहनेवाले अष्टादश अवयवात्मक लिंग-शरीर की कल्पना है । ईश्वरकृष्ण स्पष्टतः इसका वर्णन करते हैं ।

> पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।
> संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिंगम् ॥
> न विना भावैर्लिङ्गं न विना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः ।
> लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद्द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ॥[1]

दुष्यन्त उसी उत्कण्ठा का कारण इस जन्म में ढूँढ न पाने पर रहस्यमय स्वीकार कर पूर्वजन्म की घटनाओं से सम्बन्ध स्वीकार कर अपनी दुश्चिंताओं का निवारण करना है । "भाव" पद का अर्थ संस्कार, भावना, वासना, हृदय, प्रेम, भक्ति, मित्रता प्रभृति है । इसी भाव को अभिव्यक्त करते हुए कवि का कथन है --"भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि"। यह मित्रता इहलौकिक नहीं प्रत्युत जन्म जन्मान्तर से है । कालिदास इसी लिङ्ग-शरीर का संकेत इस श्लोक द्वारा देते हैं । कवि की समस्त रचनाओं में संभवतः यह सर्वोत्तम श्लोक है जिसमें कवि की कवित्व शक्ति, दार्शनिक ज्ञान तथा गूढ चिन्तन व्याप्त हो रहा है ।

किन्तु सांख्यकारिका में प्राप्त सांख्यदर्शन तथा कवि की रचनाओं में व्याख्यायित सांख्य दर्शन में क्वचित् स्थलों पर गहन मतभेद है । कवि की रचनाओं का मनोयोग-पूर्वक अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि उनका सहज आकर्षण योगदर्शन तथा शिव की उपासना में है । इसके विपरीत सांख्य दर्शन में ईश्वर की सत्ता स्वीकृत नहीं है । अन्य शब्दों में कालिदास आस्तिक तथा ईश्वरवादी है किन्तु सांख्य निरीश्वरवादी । किन्तु

१- सां० का० ४१-४१

उपनिषद्, महाभारत, पुराण एवं सांख्यसूत्र के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि सांख्य दर्शन में शिव तथा योग दोनों का विवेचन प्राप्त होता है ।[1] सांख्यकारिका के अध्ययन से भी यह ज्ञात होता है कि ईश्वरकृष्ण ने अत्यन्त संक्षिप्त एवं सारगर्भित शब्दों में सांख्य सांख्यसंमत सिद्धान्तों का विवेचन अपनी रचना "सांख्यकारिका" में किया है । अतः इन द्वितत्त्वों को कोई स्थान प्रदान नहीं किया है किन्तु अपनी अन्य रचनाओं (कालिदास की समस्त रचनाएँ) में उनका विशद वर्णन किया है । इस प्रकार समस्या का समाधान डॉ० माईणकर सरलतापूर्वक करते हैं । उनके विचारानुसार ईश्वरकृष्ण कालिदास ने जीवन के पूर्वार्ध में सांख्यकारिका की रचना द्वारा अपने दार्शनिक विचार को अभिव्यक्त किया तथा उत्तरार्ध में शिव की उपासना तथा योग द्वारा समाधि तदनन्तर मुक्ति की कामना को अपनी रचनाओं में स्थान दिया अर्थात् सर्वप्रथम दर्शन तत्त्व को अपनी सरल वैदर्भी शैली में पिरोया तथा उसके पश्चात् अपनी उत्कृष्ट काव्यात्मक प्रतिभा का प्रदर्शन किया । इस प्रकार की परम्परा भारतीय दर्शन में सर्वदा प्राप्त भी होती है उदाहरणस्वरूप पार्श्व, नागार्जुन, अश्वघोष प्रभृति ने ब्राह्मण धर्म को त्यागकर बौद्ध अथवा शैवधर्म को स्वीकार कर लिया था । इन्हीं उदाहरणों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि ईश्वरकृष्ण ने भी सांख्य-दर्शन की व्याख्या कर काव्यों की रचना की । जीवन के प्रथम चरण में दार्शनिक चिन्तन, प्रौढ़ावस्था में भक्ति तथा वृद्धावस्था में मुक्ति की कल्पना भारतीय संस्कृति के अनुकूल है । अतः सांख्यकारिका, चतुर्काव्यों (दो महाकाव्य तथा दो खण्डकाव्य) तथा नाटकत्रय की रचना कवि के ज्ञान के विकास तथा जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण को प्रदर्शित करती है। यही कारण है कि जीवन के प्रथम चरण

१- मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् - श्वेताश्वतर
Franklin Edgerton " A Study of the epic Mahabharata and other early materials has convinced me that there is not a single passage in which disbelief in Brahma or God is attributed to the Samkhya.(American Journal of Philosophy XIV P. 8)

में कवि अपने प्रौढतम विचारों को प्रकट करता है --

"तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रयाः प्रकृतिः ॥
एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥"[१]

भक्ति का विशद विवेचन काव्यों में यथोचित अवसर पर प्रयुक्त हो ही रहा है तथा जीवन की महान् वेला में मुक्ति की कामना कवि करता है --

"ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः"[२]

तत्कालीन वातावरण में संभवतः शिव की उपासना अधिक होती थी अथवा उनका उज्जयिनी निवास या हिमालय के प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति नैसर्गिक आकर्षण ने उनकी रचनाओं में शिव को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है । यदि कालिदास ईश्वरकृष्ण में ऐक्यता स्वीकार कर ली जाय तब कालिदास विषयक विवेचन की गुत्थी भी सरलतापूर्वक सुलझ जाती है । सुप्रसिद्ध कवि एवं नाटककार कालिदास ने गुप्तवंश को अपने जन्म से सुशोभित किया था यह सामान्यतः विद्वानों को मान्य ही है । उपर्युक्त सिद्धान्त इस विषय को ही सशक्त बनाता है । श्रीमदीश्वरकृष्ण-कालिदास वसुबन्धु के समकालीन थे जिनका स्थितिकाल सर्वसम्मत से २८०-३६० ईसवी है अतः ईश्वरकृष्ण कालिदास का भी यही स्थिति काल होगा । डॉ० केतकर भी ज्योतिष द्वारा इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं ।

१- सां० का० ६२,६४

२- अभि० ७-३४

किन्तु यह सिद्धान्त भी स्वंय में पूर्ण प्रतीत नहीं होता है । कविकुलगुरु ने सांख्यसम्मत समस्त विचारों को अपनी रचनाओं में स्थान प्रदान अवश्य किया है किन्तु साथ ही साथ योग-दर्शन तथा वेदान्त दर्शन का भी विशद वर्णन किया है । क्वचित् न्याय-वैशेषिक सिद्धान्तों की भी स्पष्ट झलक मिलती है तथा मीमांसा दर्शन का प्राचुर्य है । अतः सांख्यसम्मत सिद्धान्तों के आधार पर उनका ऐक्य सिद्ध करना उचित नहीं है । "मालविकाग्निमित्रम्" युवा कालिदास की सर्वप्रथम सर्वसम्मति से स्वीकृत है वहाँ भी शिव के प्रति कवि का झुकाव प्राप्त होता है । ऋतुसंहार में वैयक्तिक सुखद क्षणों का संकलन है अतः उसे मालविकाग्निमित्रम्" के पश्चात् स्थान है किन्तु डॉ० माइणकर के विचार कुछ भिन्न हैं । कवि की रचनाओं से यह प्रतीत नहीं होता कि सर्वप्रथम उन्होंने सांख्य दर्शन को प्राथम्य प्रदान किया, तदनन्तर शिव की उपासना की । "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" में शिवोपासना अथवा स्तुति द्वारा नाटक प्रारम्भ होता है तथा अन्त में सांख्यसम्मत मुक्ति की कल्पना मिलती है । अतः श्रीमदीश्वरकृष्ण द्वारा सर्वप्रथम सांख्यकारिका की रचना तदनन्तर शिव की उपासना यह उक्ति उचित प्रतीत नहीं होती । अतः यही कहना उचित है कि हमारे सम्मुख कालिदास कवि के रूप में आते हैं । वे न सांख्यदार्शनिक थे और न हि अद्वैत वेदान्ती या शैव । उन्हें समस्त दर्शनों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त था तथा समुचित स्थलों पर उन्होंने लेखनी चलाई । क्योंकि शिव के साथ ही साथ ब्रह्मा एवं विष्णु की स्तुति भी प्राप्त होती है अतः उन्हें शैव भी नहीं कहा जा सकता । यदि उज्जियिनी अथवा हिमालय की आधारशिला रख उन्हें शैव सिद्ध करने का प्रयास किया जाए तो इन विचारों के आधार पर कवि की प्रवृत्ति परिवर्तन का कारण स्पष्ट नहीं हो पाता । एतदतिरिक्त ईश्वरकृष्ण नास्तिक न भी हो किन्तु द्वैत

सिद्धान्त को स्वीकार करने वाले हैं । इसके विपरीत कविशिरोमणि अद्वैती तथा ईश्वरवादी हैं । महाभारत के आधार पर सेश्वर सांख्य की संभावना है किन्तु सांख्य-कारिका के गौडपादभाष्य के आधार पर लोकमान्य श्री बालगंगाधरतिलक ने उस कारिका को ढूँढ निकाला है जहाँ ईश्वर का खण्डन किया गया है । संभवतः किसी सांख्य दार्शनिक ने ईश्वरखण्डन देख उसे कारिका से हटा दिया था -

"कारणमीश्वरमेके ब्रुवते कालं परे स्वभावं वा ।
प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च ॥"

यहाँ ईश्वरकृष्ण ने जगत् कर्ता रूप ईश्वर का खण्डन कर दिया है । इसके विपरीत कवि कालिदास एक ही परमेश्वर को सृष्टि, स्थिति तथा संहारक सिद्ध करते हैं ।

"तिसृभिस्त्वमवस्थाभिर्महिमानमुदीरयन् ।
प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां गतः ॥"[1]

इसके अनन्तर ईश्वरकृष्ण ने द्वैतवाद को स्वीकार किया है किन्तु कविकुलगुरु स्पष्टतः ही प्रकृति-पुरुष को उसी परमेश्वर के दो रूप करते हैं[2] -

"त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम्
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः ॥"

अतः कालिदास ईश्वरकृष्ण के सांख्यदर्शन में भी अत्यधिक विषमता प्राप्त होने के कारण ऐक्यभाव सिद्धीकरण उचित प्रतीत नहीं होता ।

भवभूति का दृष्टिकोण - उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते"

1- कुमार० २-६
2- कुमार० २-१३

उक्ति से विभूषित संस्कृत साहित्य के महान् नाटककार भवभूति की रचनाओं के गहन अध्ययनोपरान्त यह ज्ञात होता है कि भवभूति को अपने समकालीन कवियों तथा नाटककारों द्वारा आदर प्राप्त नहीं हुआ इसके विपरीत आलोचनाओं का पात्र भाजन बनना पड़ा। इस तथ्य को संमुख रखते हुए यदि उनका शृंगार रस में निबद्ध "मालती-माधव" नाटक का अध्ययन करें तो ज्ञात होता है कि एक श्लोक आलोचकों को संकेतित करते हुए लिखा है। उस श्लोक के आधार पर यह प्रतीत होता है कि भवभूति ने, अपने उस निकट प्रतिद्वन्द्वी जिसने यश प्राप्त किया था तथा जिस पर भवभूति विजय प्राप्त करना चाहते थे, कटाक्ष किया है। यह तर्क अनुचित भी नहीं कि जिस विद्वान् के प्रति उनके हृदय में ईर्ष्याग्नि प्रज्वलित थी उसकी आलोचना की है। भवभूति का वह प्रतिद्वन्द्वी जिसके प्रति उसे स्पर्धा थी तथा जिसे यश एवं सफलता प्राप्त थी और भवभूति की तुलना उसी विद्वान् से साथ की गई वह संभवतः सांख्ययोग का प्रनि प्रकाण्ड पण्डित तथा वेदोपनिषदों का ज्ञानी था। इस तथ्य को पृष्ठभूमि में रख यदि भवभूति की रचना "मालती माधवम्" में प्राप्त निम्न श्लोक का अध्ययन किया जाए तो वह पर्याप्त स्थान रखता है --

"यद्वेदाध्ययनं तथोपनिषदां सांख्यस्य योगस्य च।
ज्ञानं तत्कथनेन किं न हि ततः कश्चिद्गुणो नाटके,
यत्प्रौढत्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवं
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्यवैदग्ध्ययोः ॥"[1]

इस श्लोक में प्राप्त "ज्ञानं तत्कथनेन किं" द्वारा वेदाध्ययन उपनिषद् तथा सांख्य-योग की संगति बैठती है जिसका तादात्म्य डॉ० मिराशी के वक्तव्य से डॉ०

१- मा० मा० १-७

माईणकर करने का प्रयास कर रहे हैं । इस श्लोक में अप्रयुक्त "न्याय-वैशेषिक" भी स्वयं में सारगर्भित है प्रमादवशात् भवभूति ने इस प्रकार का प्रयोग नहीं किया होगा । भवभूति का वह स्पर्धी जिसे वेदाध्ययन, उपनिषद् तथा सांख्य-योग का इतना गहन ज्ञान था वह न्याय-वैशेषिक दर्शन का अधिक ज्ञान नहीं रखता था । भवभूति की प्रतिभा को मलिन करनेवाला तथा अपनी काव्य प्रतिभा द्वारा जगत् में सम्मानित वह विद्वान् निस्सन्देह संस्कृतनाटकसाहित्य चूडामणि कालिदास ही होगा । किन्तु कालिदास ही क्यों अभीष्ट है ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि कालिदास ने "सांख्य-योग" का उल्लेख अपने रचनाओं में भूयशः किया है किन्तु न्याय-वैशेषिक दर्शन का संकेत मात्र दिया है । अतः यदि घनश्याम जिन्होंने कवि की रचनाओं को ईश्वर-कृष्णमिश्र द्वारा रचित स्वीकार किया है और ईश्वरकृष्ण कालिदास में ऐक्य स्वीकार किया है, इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लें तो भवभूति का यह आक्षेप कालिदास पर स्पष्टतः संकेतित होता है । भवभूति ने मीमांसा दर्शन को अपनी रचनाओं में विशेष स्थान प्रदान किया है और कालिदास "सांख्य-योग" पर विशेष आकर्षण व्यक्त करते हैं सांख्य दर्शनानुसार ही कवि भी मीमांसा सम्मत मुक्ति को अस्वीकार करते हैं । अतः भवभूति ने अपने प्रतिद्वन्द्वी ईश्वरकृष्ण कालिदास" पर उपर्युक्त कटाक्ष लिखा है । भवभूति का एकीकरण डॉ० माईणकर सुप्रसिद्ध मीमांसक उम्बेक से करते हैं । अस्तु वह प्रसंग यहाँ अनावश्यक होने के कारण विवेचन करना आवश्यक नहीं ।

किन्तु क्या भवभूति ने "मालतीमाधव" के इस श्लोक में कवि कालिदास पर ही आक्षेप किया है तथा डॉ० मिराशी उसका समर्थन करते हैं ? यह उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि डॉ० मिराशी ने कालिदास के लिए भारतीय दर्शन की विभिन्न शाखाओं का

उल्लेख किया है, फलतः न्याय-वैशेषिक स्वतः सम्बद्ध हो जाते हैं । इसी प्रकार उन्होंने सांख्य पद का प्रयोग न कर केवल "योगपद" को उद्धृत किया है, यद्यपि भवभूति सांख्य-योग दोनों दर्शनों का उल्लेख करते हैं । अतः डॉ० मिराशी भवभूति के इस मत की पुष्टि नहीं करते ,क्योंकि दोनों के विचारों में अर्थसाम्यता नहीं है । भवभूति स्वयं विद्वान् था अतः उसके द्वारा कविकुलगुरु पर कटाक्ष की कल्पना उचित प्रतीत नहीं होती एतद्व्यतिरिक्त कवि की रचनाओं में वेदांग भी प्राप्त है । इतना अवश्य है कि महान् नाटककार भवभूति ने इस श्लोक द्वारा किसी कवि पर कटाक्ष अवश्य किया है किन्तु वह व्यक्ति कविशिरोमणि नहीं हो सकता है । "प्रथयन्ति" पद भी वर्तमानकाल का द्योतक है अतः भवभूति किसी समकालीन कवि अथवा नाटककार पर ही आक्षेप कर रहे हैं, कविकुलश्रेष्ठ का काल तो उनसे पर्याप्त पूर्व सिद्ध हो चुका है ।

मेघदूत का अध्ययन --

सुप्रसिद्ध गीतिकाव्य "मेघदूतम्" में प्राप्त एक श्लोक में "दिङ्नाग" पद का प्रयोग है ।[1] संभवतः यह संकेत सुप्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक दार्शनिक "दिङ्नाग" के प्रति है जो वसुबन्धु का शिष्य था तथा जिसके विषय में तिब्बती ग्रन्थों से ज्ञात होता है । वसुबन्धु ने ईश्वरकृष्ण कालिदास के सांख्यसम्मत सिद्धांतों का खण्डन किया था उसी प्रकार दिङ्नाग ने भी अपने गुरु का अनुसरण कर कालिदास के ग्रन्थों में दोषारोपण किया । अतः कालिदास ने "मेघदूतम्" में श्लेष द्वारा दिङ्नाग पर

१- दिङ्नागानां पथि परिहरन्स्थूलहस्तावलेपान् -पू०मे० १४

आक्षेप किया । "हस्तावल" के नवीन अर्थ का अन्वेषण भी डा० माईणकर की रचना में प्राप्त है । संभवतः यह टीका सामान्य स्तर की होगी तथा दिङ्नाग को गर्व होगा अथवा शास्त्रार्थ वेला में दिङ्नाग अपने हाथों को इधर-उधर फेंकता होगा ।

"मेघदूतम्" में कवि ने श्लेष द्वारा आक्षेप किया गया है यह कल्पना भी उचित नहीं प्रतीत होती है । मेघदूतम् कवि की अपेक्षाकृत प्रौढ कृति है जब कवि उन्नति के पथ पर आरुढ था । वसुबन्धु जो स्वयं कविकुलगुरु का प्रतिद्वन्दी यदि था तो उसके शिष्य दिङ्नाग पर जो नवीन आयु और अत्यधिक नवीन दार्शनिक था, उस पर कवि के व्यंग्य की विचारणा उचित नहीं । कवि वसुबन्धु पर आक्षेप न कर युवा दिङ्नाग को अपने व्यंग्य का प्राप्त कदापि नहीं बना सकता ।

ईश्वरकृष्ण कालिदास पद की सार्थकता --

ईश्वरकृष्ण कालिदास में ऐक्यता स्वीकार करने पर उनकी संज्ञा ईश्वरकृष्ण कालिदास पद की सार्थकता भी सुस्पष्ट हो जाती है । " ईश्वरकृष्ण-कालिदास" संज्ञा द्वारा पाठक को स्पष्टतः ज्ञात होता है कि वे मात्र दार्शनिक तथा चिंतक नहीं प्रत्युत कवि एवं कलाकार भी थे । यह संज्ञा ही इन समस्त अर्थों को प्रस्तुत करने में समर्थ है और उनके व्यक्तित्व के दोनों पक्षों के अस्तित्व की सार्थकता बतलाती है । कवि की सर्वोच्चता के शिखर पर विद्यमान होने का मूल कारण दर्शन एवं काव्य का समन्वय है जिसके कारण वे समस्त कवियों से भिन्न हो जाते हैं । मैक्समूलर द्वारा स्थापित संस्कृत का पुनरुज्जीवनवाद (थियरी ऑव रिनायसेंस) का सिद्धान्त भी कवि का गुप्तकालीन होना सिद्ध करता है । षष्ठ शताब्दी में विक्रमादित्य के शासन के साथ

ही संस्कृत का पुनर्जागरण हुआ था तथा कालिदास इसी नवीन युग के प्रतिनिधि रूप आदि कलाकार हैं ।

यहाँ डॉ० माईणकर ने ईश्वरकृष्ण कालिदास ऐक्य की संभावना का निराकरण कर पूर्णतया ऐक्य सिद्ध कर रहे हैं किन्तु उन्होंने "मिश्र" अथवा "भर्तमीद" पद को सर्वथा छोड़ दिया है । जबकि मूल में सर्वत्र ईश्वरकृष्ण भर्तृमीढ़" अथवा "मिश्र" पद का प्रयोग है । एतदतिरिक्त "ईश्वरकृष्ण कालिदास" पद की महत्ता स्वीकार की गई है , वह भी उचित नहीं । सहस्रों वर्ष पर्यन्त काल से कवि पर आलोचनात्मक दृष्टिकोण से अध्ययन किया गया है, किन्तु दर्शन-तत्त्व के आधार पर कवि की महत्ता सिद्ध करने का प्रयास नहीं किया गया । यह भी कहना उचित नहीं कि कालिदास की कविता-कामिनी दार्शनिक अलंकारों से सुशोभित हो प्रशंसा की पात्रा रही हो । कालिदास की महत्ता को राजशेखर ने शृंगार एवं ललितोद्गार के आधार पर सिद्ध की है तथा डॉ० देवस्थली" "विलास" तथा कविता कामिनी" को मूलकारण स्वीकार करते हैं ।[1]

निष्कर्ष -

अतः सुदृढ़ प्रमाणों के अभाव में कवि शिरोमणि तथा सुप्रसिद्ध नाटककार कालिदास और सांख्यकारिकाकार श्रीमदीश्वरकृष्ण में ऐक्यभाव की कल्पना उचित नहीं । निस्सन्देह डॉ० माईणकर ने अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया तथा अनेक प्रमाणों को प्रस्तुत किया है । उनका यह प्रयत्न सराहनीय है किन्तु इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता है ।

१- "Kalidasa's greatness, as Rajs'ekhara has said is due to S'rngara and lalitodgara, in which he stands unsurpassed so far ; or because he is the Vilasa of the Kavita-Kamini (as no other critic has expressed" - Dr. D.V. Devasthali " Kalidasa. Isvarkrisna Identity not tenable"Pg.162.

++++++++++++

पञ्चम अध्याय

++++++++++++

उ प सं हा र

दर्शन तत्त्व के आधार पर कवि का काल-निर्णय, कालिदास के काव्यशास्त्रीय उपादानों का दार्शनिक अध्ययन, पूर्ववर्ती अध्यायों की विषय वस्तु का सार ।

उ प सं हा र

महाकवि कालिदास के काव्यों में दर्शन तत्व के समस्त शाखाओं के विवेचन के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि कालिदास के कालविषयक समस्या का समाधान भी दर्शन तत्व के आधार पर किया जा सकता है । कविशिरोमणि कालिदास ने अपने ग्रन्थों में अपने विषय में किसी भी बात का उल्लेख नहीं किया है । अतः उनके स्थिति-काल का निर्णय भी विद्वानों के लिए विवाद का विषय बना हुआ है । अतिपुष्ट एवं असंदिग्ध प्रमाणों के अभाव में कालिदास के समय के विषय में जो मत प्रस्तुत किए गए हैं , वे पूर्णरूपेण निर्णायक नहीं है । प्रस्तुत किए गए मत अधिकांशतः अनुमान कल्पना तथा जनश्रुतियों पर आधृत्त है । अतः विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किए गए विभिन्न मतों में से प्रमुख मतों पर विचार करना आवश्यक है । कालिदास के काल से सम्बद्ध जो मत प्रस्तुत किए ग ए हैं , उनमें तीन मत मुख्यतः प्रचलित हैं --

१- ईसा की छठी शताब्दी का मत

२- ईसा की पंचम शताब्दी का मत

३- ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का मत ।

अत तीन मतों पर पूर्णतया विचार करने के पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि कालिदास के काल की पूर्ववर्ती सीमा एवं अपरवर्ती सीमा का सर्वप्रथम निर्धारण कर लिया जाए ।

कालिदास के समय की दो स्पष्ट सीमाओं को विद्वानों ने एकमत से स्वीकारा है । महाकवि कालिदास अपने प्रथम नाटक ग्रन्थ मालविकाग्निमित्रम् में शुंगवंशीय राजा अग्निमित्र को नाटक का नायक बनाया है । यह मौर्यवंश का उच्छेद कर साम्राज्य को छीन लेनेवाले सेनापति पुष्यमित्र का पुत्र था । उसका समय लगभग १५० ई० पू० के पूर्व कदापि नहीं माना जा सकता , यह पूर्वसीमा है ।

कालिदास के काल की अपरसीमा का निर्धारण दो आधारों के माध्यम से किया जाता है । प्रथम आधार संस्कृत साहित्य के सुप्रसिद्ध गद्यकार बाणभट्ट के द्वारा रचित हर्षचरित है । दूसरा आधार दक्षिण भारत के महोले या ऐहोल नामक ग्राम में प्राप्त रविकीर्ति के शिलालेख पर खुदी हुई प्रशस्ति है । बाणभट्ट कृत हर्षचरित की भूमिका में कालिदास के नाम का स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध होता है ।[1] हर्ष का राज्यकाल सातवीं शताब्दी (६०६-६४७) था , अतः कालिदास का काल ६०६ ई० के पूर्व होना चाहिए । पुलकेशी द्वितीय के आश्रित कवि रविकीर्ति के दक्षिण भारत के "महोले" या "ऐहोल" नामक ग्राम में प्राप्त शिलालेख में कालिदास के नाम का उल्लेख है । इस शिलालेख में रविकीर्ति स्वयं को कालिदास एवं भारवि का समकक्ष बताते हैं । यह भी स्पष्टतः प्रमाणित करता है कि कालिदास का स्थितिकाल ६३४ ई० के पूर्व ही होगा , यह कालिदास के

१- निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु"

काल की अपर सीमा है ।

वाग्देवतावतार कालिदास की रचनाओं में प्राप्त दार्शनिक सिद्धान्तों के असंख्य उल्लेख कवि काल में प्रचलित आध्यात्मिक विचारधाराओं पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं । कालिदास द्वारा उपस्थित की गई सामग्रियों को एकत्रित करने पर तत्कालीन दर्शन का सुपाठ्य विवरण निर्मित करना सम्भव है । कवि ने सांख्य-योग मीमांसा वेदान्तप्रभृति आस्तिक दर्शनों तथा क्वचित् नास्तिक दर्शनों को भी अपनी सरल वैदर्भी शैली में नगवत् पिरोकर अपनी सुरुचिपूर्ण प्रज्ञा का परिचय देकर अपने स्थितिकाल के प्रति भी परोक्ष संकेत दिए हैं ।

कविशिरोमणि ने अपनी स्थिति द्वारा जिस काल को अलंकृत किया उस वेला में भारतीय दर्शन की समस्त शाखाएं पूर्णरूप से विकसित न हो पाई थीं । समस्त भारतीय दर्शन के बीज वेदों में ही निहित हैं तथा स्वयं ऋग्वेद में अनेक प्रकार की विचारधाराएं प्राप्त होती हैं । ऋग्वेद के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि बहुदेवत्ववाद की भी सत्ता मानी गई है तथा उसी की आधार शिला से एकेश्वरवाद की शाखाएं भी प्रस्फुटित हुई हैं । वेद[1] के दो भाग है -- मन्त्र एवं ब्राह्मण । किसी देवता विशेष की स्तुति में प्रयुक्त होनेवाले अर्थ स्मारक वाक्य को मन्त्र कहते हैं तथा यज्ञानुष्ठान का विस्तारपूर्वक वर्णन करने ग्रन्थ को ब्राह्मण कहते हैं ।

कालिदास का काल संभवतः उसकाल में हुआ था जब वैदिक काल के मन्त्र और ब्राह्मण की कर्मकाण्ड विरोधी ज्ञानधारा की प्रबलता के कारण और कर्मकाण्ड की हीनता

१- "मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः"

प्रतिपादन करने के कारण औपनिषदिक साहित्य का विकास हो गया था । वैदिक संहिताओं में बिखरे हुए स्फुलिंगों का चयन करके उपनिषदों ने जो ज्ञानानल प्रज्वलित किया, उसमें कर्मकाण्ड जलकर भस्म हो गया । उपनिषदों में प्रतिपादित पुरुष ब्रह्म और आत्मा अपने वैदिक स्वरूपों को खोकर नवीन रूप में प्रकट हुए थे । वेद के कर्मकाण्ड में ज्ञानमार्ग खो रहा था, उसी काल में उपनिषद् तत्पश्चात् सूत्र साहित्य का उदय हुआ तथा कालिदास उन्हीं सूत्रों के निकटवर्ती थे ।

महाकवि के काल निर्णय में कुमारसम्भव का वह श्लोक[1] जिसमें सांख्य सिद्धान्तों का स्पष्ट चित्रण है वह सहायक है । ब्रह्मा की स्तुति के प्रसंग में देवताओं का कथन है कि "आप ही धर्म अर्थ, काम, मोक्ष के लिए मनुष्य को उकसानेवाले मूल प्रकृति हैं तथा आप ही उस प्रकृति का दर्शन करने वाले उदासीन पुरुष भी माने जाते हैं ।"

सांख्य सिद्धान्तों का विवरण कई स्रोतों से उपलब्ध होता है । इनमें तीन प्रमुख हैं --

१- चरक २- महाभारत एवं ३- सांख्यकारिका

चरक ने आसुरि के शिष्य पंचशिख के सिद्धान्तों को स्वीकार किया था तथा अव्यक्त, महत्, अहंकार, पंचसूक्ष्मभूत, मन एवं पंचस्थूलभूत इन चतुर्विंश पदार्थों को स्वीकार किया है । कालिदास इस मत के पोषक नहीं हो सकते क्योंकि इन

१- त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम् ।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः ॥ कुमार० २-१३

चतुर्विंश तत्वों में सांख्य दर्शन के प्रधान तत्व निष्क्रिय , निसंग , चेतन पुरुष की गणना नहीं है , यद्यपि चरक के टीकाकार चक्रपाणि ने पुरुष तत्व का किसी प्रकार समन्वय किया है तथापि कविशिरोमणि इस श्रेणी में नहीं आते क्योंकि चरक की सूची में पंचतन्मात्राओं का वर्णन उपलब्ध नहीं होता । इसके विपरीत पंचतन्मात्राओं के अनेक वर्णन कविश्रेष्ठ ने किया है । दिलीप के प्रसंग में कवि ने "परार्थैकफला गुणाः" पद का पयोग किया है । रघु के प्रसंग में भी पंचभूत के गुणों की वृद्धि का प्रसंग आता है ।

पंचशिख का परिचय ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका से प्राप्त होता है , वहां उन्हें आसुरि का शिष्य बतलाया गया है । महाभारत में पंचशिख का सांख्य प्राचीनतम सांख्य का प्रारुप है । अतः पंचशिख के सांख्य का काल उपनिषद तथा सांख्यकारिका के मध्य कहीं होगा , क्योंकि सांख्य सिद्धान्तों के उथल पुथल का काल यही होगा । कालिदास इतने प्राचीन नहीं हो सकते ,क्योंकि उनका सांख्य दर्शन पर्याप्त भिन्न है ।

द्वितीय वर्गीकरण में सांख्यकारिका के रचनाकार ईश्वरकृष्ण आदि हैं । जिन्होंने पुरुष तत्व की पृथक् सत्ता स्वीकार कर पंचविंश तत्व को स्वीकार किया है । सम्प्रति ईश्वरकृष्ण का काल यद्यापि सुनिश्चित नहीं है । सुप्रसिद्ध चीनी विद्वान् डा० तकाकुसु ने ४५० ई० में स्मिथ ने २४० ई० में , डा० विद्याभूषण ने ४०० वर्ष तथा डा० दासगुप्ता ने १०० ई० स्वीकार किया है । डा० माइणकर ने उन्हें कालिदास तथा कालिदास में एकत्व सिद्धकर कर गुप्त कालीन स्वीकार किया है । अस्तु ईश्वरकृष्ण तथा कालिदास के सांख्य में भी पर्याप्त भिन्नता प्राप्त होने के कारण कालिदास को पूर्वकालिद सिद्ध करना उचित है यदि कालिदास ने ईश्वरकृष्ण कृत सांख्यकारिका का अध्ययन किया होता ,

तो वे उससे भिन्न कदापि न लिखते क्योंकि कवि ने तत्कालीन दर्शन का स्पष्ट चित्र अपनी रचनाओं में अंकित किया है । कुछ विद्वानों से ईश्वरकृष्ण को ई० पू० प्रथम शताब्दी में ही स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है । संभवतः ईश्वरकृष्ण तथा कालिदास निकटवर्ती हो सकते हैं , किन्तु इतना सत्य है कि कालिदास ने उनसे पूर्व ही भारतभूमि को अलंकृत किया था । दोनों विद्वज्जनों के पुरुषतत्त्व के स्वरूप में भिन्नता प्राप्त होती है । ईश्वरकृष्ण ने पुरुष की सत्ता में प्रौढ़ प्रमाणों के उपन्यास के पश्चात् पुरुष बहुत्व सिद्ध किया है । इसके विपरीत कालिदास ने "त्वाम्" तथा "पुरुष" दोनों पदों का एकवचन में प्रयोग कर पुरुष के एकत्व को सिद्ध किया है । अतः कालिदास ईश्वरकृष्ण से प्रभावित होते तो पुरुषएकत्व कदापि सिद्ध न करते । इसके विपरीत वे परमपुरुष में ही पुरुषतत्व का समन्वय कर रहे हैं । यह कल्पना कठोपनिषद् अथवा प्राचीन सांख्य से अधिक समीप है , अतः कालिदास के सम्मुख उपनिषद् के सांख्य दर्शन ही रहे होंगे ।

पुरुष बहुत्व के अतिरिक्त ईश्वर तत्व के विवेचन द्वारा ही कालिदास का सांख्य ईश्वरकृष्ण से भिन्न हो गया है । प्राचीन सांख्य दर्शन ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है । मनीषीगणों का कथन है कि सेश्वर सांख्य ईश्वर को जगन्नियन्ता , सर्वेश्वर तथा सर्वव्यापक स्वीकार करता है । ईश्वर की कृपा से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है , जिससे पुरुष सर्वदा के लिए मुक्त होकर परमानन्द का अनुभव करता है । उपनिषदों में सांख्य को सेश्वर रूप में वर्णित किया है क्योंकि उपनिषदों में प्रकृति एवं पुरुष के ऊपर ब्रह्मा की सत्ता स्वीकार की गई है । महाभारत तथा पुराणों में भी सेश्वर सांख्य का निरुपण हुआ है । महाभारत में निरीश्वर सांख्य की आलोचना भी प्राप्त होती है ।

कपिल से लेकर वार्षगण्य तक के समस्त आचार्य ईश्वरवादी थे किन्तु निरीश्वरवाद की परम्परा ईश्वरकृष्ण से ही प्रारम्भ होती है । कुछ समीक्षकों का कथन है कि ईश्वरकृष्ण ने बौद्ध विद्वानों के निरीश्वरवाद से प्रभावित होकर निरीश्वरवाद को प्रश्रय दिया । अतः यदि कालिदास ने ईश्वरकृष्ण का अध्ययन किया होता तो वे अवश्य सांख्य के निरीश्वरवाद को संकेतित करते । किन्तु कालिदास ने जिस सांख्य शास्त्र को अपने ग्रन्थों में स्थान दिया है , वह पूर्णतया उपनिषद् प्रतिपादित सांख्य है जहां प्रकृति एवं पुरुष के ऊपर परब्रह्म की स्थापना की गई है । विक्रमोर्वशीयम् के नान्दी श्लोक में औपनिषदिक ब्रह्म के साथ ही साथ उसे योग द्वारा प्रतिपाद्य भी स्वीकार किया है । विष्णु की स्तुति में उन्हें स्रष्टा , पालनकर्त्ता तथा संहारकर्त्ता कहा गया है । कवि ने एक ही ब्रह्म को त्रिदेव रूप में व्यक्त कर दिया है , यहां पुराणों से सामंजस्य प्रतीत होता है । कवि ने भी ईश्वर को सर्वनियन्ता , सर्वेश्वर तथा सर्वव्यापक स्वीकार किया है । योगीगण सदैव प्राणायाम आदि से मन को वश में कर मुक्ति पाने के लिए अपने हृदयों में स्थित ज्योतिरूप आपका अन्वेषण करते हैं तथा उन्हीं की कृपा से मुक्ति की प्राप्ति होती है । कवि का ईश्वर अथवा ब्रह्म सर्वज्ञ , स्वतः चैतन्य , गुणत्रययुक्त , त्रिदेव , इच्छारहितत्व , पूर्णकाम , विश्वव्यापी विश्वातीत , ईश्वरभक्ति , जगत् की विविधता रूप तथा प्रकृति पुरुष विशिष्ट गुणों से युक्त है तथा उसके सगुण-निर्गुण रूप है , सृष्टि के प्रति उपादान एव निमित्त दोनों कारणों के रूप में व्याख्यान प्राप्त है । अतः ईश्वरतत्व को स्वीकार करनेवाले कालिदास को ईश्वरकृष्ण से पूर्ववर्ती मानना ही उचित है । भारतीय मनीषीगणों ने भी कवि को ई० पू० प्रथम शताब्दी माना है , अतः इस तथ्य की भी पुष्टि हो जाती है । सुप्रसिद्ध सांख्याचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्य को

निरीश्वर नहीं माना है उनके कथन के अनुसार ईश्वर के अस्तित्व का निषेध नहीं किया गया है प्रत्युत इसका अर्थ है कि ईश्वर के शुद्ध स्वरूप का प्रत्यक्ष अन्तःकरण द्वारा नहीं होता। कालिदास द्वारा ब्रह्मतत्व स्वीकार कर सांख्य को आस्तिक बना देने के कारण भी सांख्यकारिका से भिन्न हो गया है, क्योंकि ब्रह्मा के प्रसंग में कवि का कथन है कि ब्रह्मा के अतिरिक्त किसी वस्तु की सत्ता नहीं जहां कर्ता, कारण, कार्य तथा ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान तीनों एक बन गए हैं, यहां एकतत्ववाद है, यहां वह सांख्य नहीं जहां प्रकृति-पुरुष की भिन्नता स्वीकार कर द्वैतत्व माना गया है। कवि में ब्रह्म ही प्रकृति है तथा गुणत्रय उसी के भेद हैं। प्रकृति के ऊपर ब्रह्म को स्थापित कर प्रकृति की स्वतन्त्रता कवि ने समाप्तकर दी है।

मात्र ईश्वरप्रसंग में ही कालिदास ईश्वरकृष्ण में अन्तर प्राप्त नहीं होता मुक्ति के प्रसंग में भी दोनों में परस्पर भिन्नता है। सांख्य में तत्वज्ञान द्वारा मुक्ति का उल्लेख प्राप्त होता है, वहां अष्टांग योग की आवश्यकता नहीं समझी गई किन्तु योग-दर्शन में विवेकख्याति के लिए योगांगो पर पर्याप्त बल दिया गया है। पतंजलि ने "अथ योगानुशासन" द्वारा ही योगसूत्र का प्रारम्भ किया है। कालिदास ने योगांगों का विशद वर्णन अपनी रचनाओं में किया है। इसमें आन्तरिक ध्यान, धारणा एवं समधि का उल्लेख रघुवंश एवं कुमारसम्भव में मिलता है। समाधि अन्तिम अवस्था है जिसमें मन एवं इन्द्रियों की क्रियाएं पूर्णतः समाप्त हो जती है। इन पर गहन आलोचनात्मक अध्ययन के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि कविश्रेष्ठ की रचना पातंजलयोग से अधिक साम्यता रखती है तथा ईश्वरकृष्ण के सिद्धांतों से पर्याप्त भिन्नता प्राप्त होती है। अतः ईश्वरकृष्ण को यदि ई० पू० प्रथम शताब्दी भी माना जाए, तो पतंजलि

जिन्हें ई० पू० द्वितीय शताब्दी में सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया है तो कालिदास को प्रथम शताब्दी ई० पू० के उत्तर काल में दोनों के मध्य स्वीकार करना होगा ।

तृतीय संस्करण में पुरुष तथा परम पुरुष को भी मिलाकर षड्विंश तत्वों को स्वीकार करने वाले पातंजल सांख्य अथवा योग को भी सांख्य में समाविष्ट करनेवाले पतंजलि हैं । ये शुंगवंशीय नृप पुष्यमित्र के समकालीन थे जिसका काल ई० पू० द्वितीय शताब्दी था , अतः पतंजलि के योगसूत्र के कुछ विशिष्ट पद भी कवि कालिदास ने प्रयोग किए हैं जिससे ज्ञात होता है कि तत्कालीन स्थितिकाल में योगदर्शन का अधिक प्रभाव था । कवि ने कुमारसम्भव में शिव के जिन मुद्राओं का चित्रण किया है, उसकी प्रतिकृति तपस्या में लीन बुद्ध से मिलती है । योग के विभिन्न अंग, तपस् का महत्त्व, ईश्वर विषयक विचार भी रचनाओं में मुखरित हो उठे हैं । योगसम्मत सिद्धि का विवेचन भी प्राप्त होता है । कर्मवाद एवं जन्मान्तर योगदर्शन के दृढ़ स्तम्भों को कवि की रचनाओं में यथोचित स्थान प्राप्त है । सृष्टि प्रक्रिया, प्रमाण-चर्चा, चित्तवृत्ति, तत्त्व-ज्ञान समस्त योगविषयक होने के कारण कवि को पतंजलि के समीप बना देती है ,अतः ऐसा प्रतीत होता है कि कवि के सम्मुख "सांख्य-योग" नाम से अभिहित एक ही दर्शन प्रचलित था, जिसमें पतंजलि ने "सेश्वर सांख्य" नाम से अभिहित एक हीदर्शन प्रचलित था जिसमें से पतंजलि ने सेश्वर सांख्य के रूप में योगदर्शन को अलग किया था । गीता में बारम्बार दोनों की ऐक्यता बताई गई है तथा फल की दृष्टि से भी दोनों में सामंजस्य है । कालिदास ने भी सांख्य-योग के ऐक्य के आधार पर ही अपनी समस्त रचनाओं में सांख्य-योग का विवेचन किया है । यद्यपि पतंजलि के पश्चाद्वर्ती कवि का काल सिद्ध होता है किन्तु उन्होंने दोनों दर्शन का एकत्व स्वीकार किया है । संभवतः उनके सम्मुख

मात्र योगसूत्र होंगे तथा उनका अधिक प्रचार तत्काल न हो पाया होगा, क्योंकि प्रायः सूत्र संक्षिप्त एवं सारगर्भित रहने के कारण स्पष्ट नहीं होते थे तथा व्यासभाष्य का काल सम्भवतः कालिदास के निकटवर्ती ही होगा, जिसका अध्ययन कवि ने न किया हो । कालिदास ने पतंजलि के योगसूत्र का अध्ययन अवश्य किया था क्योंकि अनेक पदों में भी साम्य दृष्टिगत होती है किन्तु ईश्वरकृष्ण से विचारों में विभिन्नता दृष्टिगत होने के कारण उन्हें दोनों के मध्य स्वीकार करना उचित है । अतः स्वतः ही उन्हें ई०पू० प्रथम शताब्दी के उंतरार्ध में स्वीकार करना चाहिए जिसकी संगति भारतीय मनी-षीगणों से भी बैठ जाती है ।

कवि को ई० पू० प्रथम शताब्दी में सिद्ध करने का पुष्ट प्रमाण उनके वेदान्त तत्त्वों के अध्ययन से भी प्राप्त होता है । कालिदास का वेदान्त तत्त्व उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा भगवद्गीता से सामञ्जस्य रखता है । डॉ० दासगुप्ता ने श्रीमद्भगवद्गीता का स्थितिकाल ई०पू० प्रथम या द्वितीय शताब्दी माना है । बादरायण व्यास द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र का स्थितिकाल भी ई०पू० द्वितीय शताब्दी ही माना गया है । उपनिषद् में प्राप्त ज्ञानराशि का केन्द्र बिन्दु ब्रह्म ही है । वेदान्त सामान्य रूप से वर्णित औपनिषदिक ज्ञान का नाम है । कालिदास की रचनाओं में प्राप्त वेदान्तदर्शन प्रायः उपनिषद् वेदान्त-सूत्र तथा गीता का सार है तथा उनका समन्वयात्मक प्रभाव उनकी रचनाओं में प्राप्त होता है । विक्रमोर्वशीयम् के नान्दी श्लोक में स्पष्टतः वेदान्त पद का प्रयोग मिलता है । विष्णुस्तुति तथा तैत्तरीयोपनिषद् में साम्यता प्राप्त है । ब्रह्मसूत्र में पठित सूत्रों की संगति भी कविश्रेष्ठ द्वारा रचित श्लोकों से की जा सकती है । प्रस्थानत्रयी में अंतिम गीता से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि गीता के अनेकशः विचारों को कवि

ने अपनी वैदर्भी शैली में पिरोया है । कालिदास का या ईश्वर औपनिषदिक ब्रह्म है । वेदांत में भी मुख्य रूप से प्रतिपाद्य ब्रह्म है तथा कवि ने भी उसे अपना प्रतिपाद्य विषय बनाया है ।

इस विवेचन से ज्ञात होता है कि कवि का समय गीता एवं ब्रह्मसूत्र के निकट-वर्ती होगा तथा भारतीय मनीषीगण कवि को ई०पू० प्रथम शताब्दी में स्वीकार करती ही है, अतः दर्शनतत्त्व के आधार पर भी ई०पू० प्रथम शताब्दी मानना उचित है । कालिदास का उदय संभवतः उस काल में हुआ था जब कर्मकाण्ड की दिलाई गई आशाएँ निराशा में परिवर्तित हो रही थीं और स्वर्गादि कर्मफलों की नियता से लोगों का विश्वास शिथिलहो रहा था, व्यक्तियों के मन में कर्म तथा उसके फलों की विभूति के विषय में अनेक सन्देह उत्पन्न होने लगे थे । कठोपनिषद् के यम-नचिकेता व्या-ख्यान द्वारा ज्ञात होता है कि तत्कालीन जनता का कर्मकाण्ड के प्रति आस्था शनैः शनैः समाप्त होती जा रही थी । यम द्वारा दिए गए उत्तरों में कर्मकाण्डी ब्राह्मणों का उचित स्वरूप दृष्टिगत होता है । नचिकेता की अध्यात्म पिपासा से हम कर्मकाण्ड पर अनास्था के कारण ज्ञान के प्रति उत्सुक तत्कालीन जनता की पिपासा देखते हैं । स्वर्ग का प्रलोभन देने वाले यम के स्वर में कर्मकाण्डी पुरोहितों के स्वर स्पष्टतः सुन पाते हैं । वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति अनास्था के उदय से औपनिषदिक ज्ञान की अवतारणा हुई, उसी वेला में कवि ने अपना जन्म लेकर वसुन्धरा को सुशोभित किया था, इसी समय पुराणों का भी उदय हुआ था, अतः कवि ने अपनी रचनाओं में पौराणिक देवताओं का भी उल्लेख किया है । यह काल भारतीय इतिहास की दृष्टि से ई०पू० की प्रथम या द्वितीय शताब्दी का होगा, जब मौर्यवंश के अन्तिम नृप की हत्या कर उनका सेनापति पुष्यमित्र

भारत की गद्दी पर बैठा था, वह ब्राह्मण वंशीय था अतः यज्ञ हिंसा आदि में उसकी प्रवृत्ति था, साथ ही साथ बौद्ध दर्शन भी अपना प्रभाव दिखा रहा था। अतः कालिदास की रचनाओं में सभी का समन्वय मिलता है । कालिदास ने कर्मकाण्ड का विशद उल्लेख किया है तथा विभिन्न यज्ञ ,यूप, वाले आदि का वर्णन उनकी रचनाओं में प्राप्त होता है तथापि ब्राह्मणों के उच्चतम ध्येय स्वर्गप्राप्ति के प्रति अनास्था दिखाई है, उनके विचारानुसार स्वर्ग अनित्य है जिसे उत्प्रेक्षा द्वारा मेघदूत में स्पष्ट किया गया है । शाकुन्तल में भी मरीचि के आश्रम में तपश्चर्या में लीन मुनिगणों का स्वर्ग के प्रति अनास्था, फलस्वरूप उच्चतम ध्येय ब्रह्ममय अथवा पुनर्जन्म से मुक्ति स्वीकार की है । भूयशः यह अभिव्यक्ति उनकी समस्त रचनाओं में हो रही है । इसके अतिरिक्त बौद्ध दर्शन के भी कुछ संकेत प्राप्त होते हैं । मालविकाग्निमित्रम् की परिव्राजिका कदाचित् बौद्ध भिक्षुणी थी क्योंकि हिन्दू तप साधना के नियम स्त्रियों में प्रव्रज्या को प्रोत्साहन नहीं देते । उसका कषायवस्त्र उसके अनुकूल है तथा वह शान्तं पापं का मन्त्रोच्चारण करती है । अनेक स्थलों पर निर्वाण पद का प्रयोग मिलता है अन्यत्र कवि ने चाक्षुष यज्ञ का उल्लेख किया है तथा मेघदूत में निर्जन चैत्य का वर्णन भी प्राप्त होता है । इससे प्रतीत होता है कि बौद्ध दर्शन की आभा भी मलिन थी । मौर्यवंश के अन्तिम नृप तथा शुङ्ग वंशीय नृपों ने ब्राह्मण धर्म को स्वीकार कर लिया था, अतः बौद्ध दर्शन का भी अल्प प्रभाव तत्कालीन समाज में थे । इस तथ्याधार पर भी कवि को ई०पू० प्रथम शताब्दी में स्वीकार करना उचित है जैन दर्शन का एकमात्र शब्द प्रायोपवेशन प्राप्त है

कालिदास ने मीमांसा प्रणेता जैमिनि का उल्लेख किया है, किन्तु उसे योग दार्शनिक के रूप में स्वीकार किया है । मीमांसा रहस्य सूत्र के रचयिता भी जैमिनि कहे गये हैं, अन्यत्र जैमिनि अधिकृत ज्योतिषी के रूप में तथा क्वचित् योगाचार्य और कहीं

ब्रह्मविद्याविशेषज्ञ के रूप में व्याख्यायित है । पुराणों में व्यास के शिष्य के रूप में जैमिनि का उल्लेख है । कालिदास ने योग दार्शनिक के रूप में जैमिनि का उल्लेख किया है तथा योग सीखकर पुनर्जन्म से मुक्ति की कामना की है ।

अन्ततः यही कहा जा सकता है कि दर्शन-तत्वों के आधार पर यदि कालिदास के काल का निर्णय सिद्ध करने का प्रयास किया जाए तो यही स्वीकार करना पड़ता है कि उनके सम्मुख दर्शन के सूत्र ही उपलब्ध थे तथा मूलतः कवि होने के कारण दर्शन तत्व विखरे हुए हैं । तथापि उन्होंने मूलतः योग एवं वेदान्त पर अपनी लेखनी चलाई है । योग में सांख्य भी समन्वित था । न्याय-वैशेषिक अपना स्थान खो चुके थे अतः उनका अत्यल्प संकेत प्राप्त होता है । समस्त दर्शनों का सूत्रकाल ई०पू० द्वितीय शताब्दी था, अतः उनके समीप अर्थात् ई०पू० प्रथम शताब्दी में कवि को स्वीकार करना चाहिए । भारतीय विद्वज्जनों ने भी उनका काल ई०पू० प्रथम शताब्दी स्वीकार किया है अतः दर्शन द्वारा भी इस काल को स्वीकार करने पर यह मत खण्डित नहीं होता प्रत्युत सुदृढ़ हो जाता है । अतः दर्शनतत्वों के आधार पर कवि को ई०पू० प्रथम शताब्दी में ही निरूपित करना उचित है । डॉ० अरविन्द ने भी इसी प्रकार के मत प्रस्तुत किए हैं ।[१]

१- "..... It was therefore the great age of formulised metaphysics, science law, art and the sensuous luxury which accompanies the arts. Nearer the beginning than the end of this period, when India was systematising her philosophies and developing her arts and sciences before its full tendensies have asserted themselves in same spheres, before it has taken the steps its attributes protended, Kalidasa arose in Ujjain and gathered up in himself its present tendencies while he fore-showed many of its future development."

— AK PP 13-14.

महाकवि कालिदास अन्ततः एक कवि थे अतः उनके काव्यशास्त्रीय उपादानों का अध्ययन आवश्यक है, यद्यपि दर्शन सम्बन्धित शोध प्रबन्ध में काव्यशास्त्रीय उपादानों का उल्लेख उचित प्रतीत नहीं होता किन्तु मैं नवीन आधारों पर उपर्युक्त कथन को सिद्ध करने का प्रयास कर रही हूँ तथा ऐसा करने में मेरा ध्येय पूर्णतया दार्शनिक विश्लेषण पर ही आधारित है । मैं मात्र कवि की पर्यवेक्षण परिधि ,उसकी सौन्दर्यानुभूति तथा उसके ज्ञान के प्रति संकेत करना नहीं चाहती प्रत्युत उसकी दार्शनिक अन्वेषण की विचित्र शक्ति के उन विभिन्न रूपों का विस्तार से वर्णन करना चाहती हूँ, जिन्हें बौद्धिक जीवन के मूल स्तम्भ कहा गया है । कविकुलगुरु के पश्चात् काव्य शैली का अत्यधिक विकास हुआ तथा कवियों में पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति दृष्टिगत होने लगी । कोई अलंकार प्रयोग में प्रवीणता प्रकट करता है, अन्य शब्दाडम्बर के व्यूह में व्यर्थ वितण्डा प्रस्तुत कर रहा है, अन्यत्र व्याकरण वैदुष्य का प्रयोग दृष्टिगत है तथा कुछ काव्यों में दर्शन तत्त्व प्राधान्य प्रस्तुत होकर कविताकामिनी के स्वाभाविक नैसर्गिक सौन्दर्य को विनष्ट कर रहा है, फलतः कालिदास के समान काव्य विलास प्राप्त नहीं होता है । कविश्रेष्ठ ने काव्य तथा दर्शन का अतीव सुन्दर समन्वय अपनी रचनाओं में प्रस्तुत कर अपने अलौकिक पाण्डित्य का परिचय प्रदान किया है ।

काव्य लक्षण के सम्बन्ध में विभिन्न काव्यशास्त्रियों के विचार भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु कवि की रचनाओं को दर्शन की दृष्टि से देखा जाए तो समस्त विचार उसमें सरलतापूर्वक सन्निहित हो जाते हैं । अतः उन पर प्रकाश डालना आवश्यक है जिसके आधार पर उपर्युक्त तत्त्व का परीक्षण सम्भव है । कुछ आचार्य अलंकारों को काव्य की आत्मा माना है, क्वचित् रीति अन्य ध्वनि अथवा रस को काव्य का जीवन मानते हैं ।

(क) अलंकार सम्प्रदाय --

भामह इस अलंकार सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं । भामह के अतिरिक्त दण्डी भोज आदि इसके मुख्य आचार्य है । आचार्य भामह का कथन है कि सुन्दर होते हुए भी अलंकारों से रहित सुन्दरी का मुख शोभित नहीं होता । जयदेव ने अपनी रचना में अलंकाररहित काव्य की उपमा उष्णता रहित अग्नि से प्रदान की है ।

कालिदास ने अपनी कविता कामिनी को अलंकारों से सम्यक् अलंकृत किया है तथा उनकी कविता कामिनी अलंकारों की छटा से चमक उठी है । उनका अलंकार प्रयोग कृत्रिम नहीं है अतएव अलंकार उनकी कविता से पृथक् नहीं किए जा सकते । कालिदास के अनन्य अलंकारों में दर्शन सम्बन्धित अलंकारों का विवेचन ही मेरा उद्देश्य है तथा दर्शन की तुला पर उनका अलंकार प्रयोग प्रेक्षणीय है । शब्दालंकार का प्रयोग कवि ने अत्यन्त स्वाभाविक रूप से किया है किन्तु दर्शन सम्मत न होने के कारण उनका विवेचन अभीष्ट नहीं है । अर्थालंकार काव्यार्थ के सौन्दर्य विवृत्ति में अधिक महत्त्व रखते हैं । औपम्यगर्भ अलंकारों के उपयोग में कालिदास ने विशेष रुचि प्रदर्शित की है । इसमें उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, विरोधाभास प्रभृति मिला है । ऋतुसंहार तथा मालविकाग्निमित्रम् के समान प्रारम्भिक रचनाओं में भी उत्प्रेक्षा की झड़ी लग गई है ।

उत्प्रेक्षा अलंकार वह अलंकार है जहाँ उपमेय की उपमान के साथ तादात्म्य सम्भावना की जाए ।[1] करुण गीतिका में मीमांसा सम्मत स्वर्ग की अनित्यता को कवि उत्प्रेक्षा

१- संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् । का० प्र०

द्वारा स्पष्ट करता है ।[1] शुभ्र कैलास ऐसा प्रतीत हो रहा है मानों भगवान् शंकर का प्रतिदिन वर्तमान हास्य संचय है ।[2] प्रौढ़तम ग्रन्थ रघुवंश में हृदयावर्जक उत्प्रेक्षा नियोजित हुई है । कवि ने सांख्य सम्मत उत्प्रेक्षा की सहायता से नृपेश दिलीप के महाभूतों की व्याख्या की है ।[3] इसी प्रकार रघुवंश रघु के सिंहासनरुढ़ में भी कवि भारती सांख्य सम्मत उत्प्रेक्षा ही प्रस्तुत करती है "रघु के सिंहासन पर बैठते ही जल की मिठास अधिक हो गई , फूलों की सुगन्ध बढ़ने लगी और पंचतत्वों के गुणों में भी वृद्धि हो गई , मानो नवीन नृप को प्राप्त कर सभी वस्तुएं नवीन हो गई हों ।[4]

मीमांसा दर्शन में ऋणानुबन्ध की कल्पना की गई है , जो दो आत्माओं का सम्मिलन है । पुत्राभाव में दुःखित नृप दिलीप का कथन " मानों हमारे पितर मेरे दिए गए श्राद्ध के अन्न को भरपेट न खाकर उसका अधिक भाग आगे के लिए इकट्ठा करने लग गए है" भी उत्प्रेक्षा का सहारा ले रहा है ।[5] योगदर्शन के आधार स्तम्भ पुनर्जन्म पर कवि ने प्रभूत लेखनी चलाई है । एतद् सम्बन्धी उत्प्रेक्षाएं उल्लेखनीय है । अतीव सुन्दरी इन्दुमती तथा रघुवंशी अज के विवाहोपलक्ष्य में विदर्भ की प्रजागणों ने उत्कृष्ट की है -- "पूर्व जन्म में अवश्य ये दोनो रति एवं कामदेव होगें क्योंकि मन पूर्व जन्म के सम्बन्ध को भली भाँति पहचान लेता है ।"[6] "तेजस्वी तथा मनस्वी सुदर्शन

१- पू० मे० ३०
२- पू० मे० ६२
३- रघु० १-२१
४- रघु० ४-११
५- रघु० १-६६,६७
६- रघु० ७-१४

की तीव्र बुद्धि मानो पूर्वजन्म के अदृष्ट का फल हो " ऐसी उत्प्रेक्षा की गई है ।[1] योगांगो में तृतीय आसन के अन्तर्गत समन्वित वीरासन का उल्लेख कर कवि जहाँ अपने योग दर्शन विषयक ज्ञान का परिचय देता है , साथ ही साथ उत्प्रेक्षा का प्रयोग कर दर्शन एवं काव्य का समन्वय कर देता है । वीरासन में लीन ऋषियों के आश्रम में स्थिर खड़े वृक्षों की उत्प्रेक्षा दर्शनीय है ।[2] मुक्ति के स्वरूप विवेचन में भी कवि ने उत्प्रेक्षा की सहायता ली है ।[3]

उत्प्रेक्षा के समान दृष्टान्त भी कवि को अत्यधिक प्रिय है । दो वाक्यों में धर्मसहित वस्तु अर्थात् उपमानोपमेय के प्रतिबिम्ब को दृष्टान्त कहा जाता है ।[4] यद्यपि कालिदास ने दृष्टान्त का प्रयोग बहुतायत किया है तथापि दर्शन सम्बन्धी प्रयोग अल्प है । शाकुन्तल में "दुर्वासा के अतिरिक्त कौन निरपराध शकुन्तला को शाप दे सकेगा", यह भाव दृष्टान्त द्वारा अभिव्यंजित है ।[5]

अर्थान्तरन्यास में कालिदास की लौकिक अनुभव राशि नितान्त मनोभिराम एवं संक्षिप्त रूप से अभिव्यक्त हुई है । जहाँ विशेष से सामान्य अथवा सामान्य से विशेष अथवा कारण से कार्य अथवा कार्य से कारण साधर्म्य-वैधर्म्य के द्वारा समर्थित होता है ।[6]

१- रघु० १८-५०
२- रघु० १३-५२
३- रघु० ८-२२
४- "दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुन प्रतिबिम्बनम् " का० प्र०
५- को ऽन्यो हुतवहाद्दग्धुं प्रभवति" अभि० चतुर्थोऽङ्कः पृ० ५९
६- सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि ।
 कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते ॥ का० प्र०

कालिदास के काव्यों में इस अलंकार के प्रचुर उदाहरण प्राप्त हैं । दर्शन में निबद्ध उदाहरण मेघदूत का उदाहरण द्रष्टव्य है ।[१] रघुवंश में भी कवि का कथन इस प्रकार है ।[२]

अतिशयोक्ति का भी अल्प प्रयोग कवि अपनी रचनाओं में करता है । जहाँ किसी बात को अत्यधिक बढ़ा चढ़ाकर कहा जाए वही अतिशयोक्ति है ।[३] कविकुलश्रेष्ठ ने गंगा यमुना के संगम पर स्नान को अत्यन्त पवित्र माना है , अतः तत्वबोध के अभाव में भी संगम पर स्नान द्वारा मुक्ति की कल्पना कर सुन्दर अतिशयोक्ति प्रस्तुत की है ।[४]

कालिदास को अलंकारों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त था , अतः अनन्वयालंकार" का भी उल्लेख प्रसंगतः प्राप्त होता है । अनन्वय का अभिप्राय है कि उपमेय का अपने से भिन्न उपमान के साथ साधर्म्य- सम्बन्ध न रखना ।[५] ब्रह्मा के स्तुति प्रसंग में कवि ब्रह्मा को ही उपमेय एवं उपमान दोनों बना रहा है --- "वे स्वयं ही स्वयं को उत्पन्न करते हैं , स्वयं को कार्य समाप्त होने पर स्वयं में ही स्वयं को लीन कर देता है ।"[६]

इसी प्रकार ब्रह्म के गुण विवेचन में कवि विरोधाभास अलंकार का भी आश्रय लेता है । विरोध वह अलंकार है जो दो वस्तुओं का , उनमें वस्तुतः किसी प्रकार के विरोध न होने पर भी ऐसा वर्णन किया जाए जिससे उनमें विरोध की प्रतीति उत्पन्न

१- उ० मे० ५२
२- रघु० ८-८७
३- का० प्र० १०-१००
४- रघु० १२-५८
५- उपमानान्तरसम्बन्धाभावोऽनन्वयः । का० १०-४१४
६- कुमार० २-१०

हो ।[1] ब्रह्मविषयक स्तुति में देवतागण ने ब्रह्म को विरोधी गुणों का समवाय माना है ।[2]

उपमा कालिदासस्य अलंकृत कालिदास उपमा सम्राट हैं उनकी उपमा नियोजना की कुशलता की प्रशंसा समस्त विद्वज्जनों द्वारा की गई है । संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने उपमा को प्रमुख अलंकार स्वीकार किया है । उनका कथन है कि वास्तव में उपमा ही प्रमुख अलंकार है , जो शैलूषी की भाँति काव्य रूपी मंच पर विविध वेश परिवर्तन कर अन्य अलंकारों के रूप में आता है । "वाक्य के एक होने पर दोनों (उपमेय-उपमान) का वैधर्म्य से रहित अभिधेय (इवादि शब्दों से) सादृश्य शब्दों से समानता उपमा कहलाती है [3] जिसके अनेक भेद हैं । महाकवि कालिदास ने अत्यन्त सुन्दर , सरल , सरस रोचक प्रभावोत्पादक एवं स्वाभाविक उपमाएं दी है जो नूतन परिकल्पनाओं से विभूषित है ।

ब्रह्म सरोवर से निकलने वाली सरयू नदी की अव्यक्त (प्रकृति) से उद्भूत होनेवाली बुद्धि (महत्) तत्व से उपमा कवि ने सांख्य दर्शन से ली है ।[4] रघु के दिग्विजय के प्रसंग में स्थलमार्ग की उपमा तत्वज्ञान से प्रदानकर कला का परिचय दिया है।[5] रघुवंश के प्रथम श्लोक में शब्दार्थ एवं पार्वती-परमेश्वर में उपमा है । शब्दार्थ सम्बन्ध

१- विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः ।
काо प्रо १०४-८१

२- कुमारо २-९
३- साधर्म्यमुपमा। काо प्रо
४- रघुо १३-६०
५- रघुо ४-६०

उपमान तथा पार्वती-परमेश्वर उपमेय है ।[1] नृपेश दिलीप के राज्यकुशलता को कवि पुनर्जन्म तथा जन्मान्तर के प्रकाश में उपमा द्वारा स्पष्ट कर रहा है ।[2] पार्वती की तीव्र बुद्धि को भी कवि जन्मान्तर से प्रभावित मानते हुए उपमा की सहायता लेते हुए गंगा में अवतीर्ण हंस तथा औषधियों की चमक से तुलना करते हैं ।[3]

योगसम्मत अन्य उपमाएं भी कवि की रचनाओं में प्राप्त होती हैं । शिव समाधि चित्र में कवि ने समस्त पवनों को नियन्त्रित करने वाले शिव को पवनरहित दीपक प्रभृति से उपमा देते हैं ।[4] सांख्य संमत गुणत्रय में सर्वश्रेष्ठ सत्वगुण अंश द्वारा प्रकट विष्णु तथा रघु की भी उपमा कवि देता है ।[5] तमोगुण द्वारा सत्व एवं राजस् गुण को अभिभूत करने का संकेत भी कवि उपमा के ही माध्यम से दे रहे हैं ।[6] मीमांसा सम्मत अश्वमेघ द्वारा स्वर्ग प्राप्ति अर्थ ज्ञापन में भी कवि उपमा की ही सहायता लेता है ।[7] ऋणानुबन्ध की कल्पना भी कवि ने उपमा द्वारा की है ।[8] रघुवंश के द्वादश सर्ग में कवि ने अतीव सुन्दर उपमा प्रस्तुत की है । हनुमान द्वारा सागर को पार करना अर्थ को कवि निर्मोही व्यक्ति द्वारा भवसागर पार करने से उपमा दी है ।[9]

१- रघु० १-१
२- रघु० १-२०
३- रघु० १-३०
४- कुमार० ३-४८
५- रघु० ३-२७
६- रघु० १०-३८
७- रघु० ३-६९
८-रघु० ८-३०
९- १२-६०

इन्दुमती की मृत्यु के पश्चात् वसिष्ठ का उपदेश स्वीकार कर पुत्र दशरथ की अल्प वयस्कता को ध्यान रखकर अज ने राज्य संचालन में कुछ काल व्यतीत किया तथापि प्रिया शोक के कारण उसका हृदय शनैः शनैः विदीर्ण हो रहा था , इस कल्पना को व्यक्त करने के लिए कवि ने किसी विशाल प्रासाद के निकट अंकुरित होनेवाले और अपनी जड़ धीरे-धीरे फैलाकर काल स्तर में महल को ही मूल से उच्छिन्न करने वाले वट वृक्ष के पौधे से उपमा दी है ।[1] मुक्ति के प्रसंग में कवि का कथन है कि जिस प्रकार मुक्ति की इच्छावाले जन्म-मरण से छूटने के लिए कर्मबन्धन का नाश करने का उपाय ढूंढते है उसी प्रकार शत्रु के नाश के लिए सेनापति की कमान है ।[2] अभिज्ञानशाकुन्तल की कुछ उपमाएं भी कर्म एवं मोक्ष दो दर्शन सिद्धांतों को स्पष्ट करती हैं । नृपेश दुष्यन्त द्वारा प्रकृति कन्या शकुन्तला का प्रथम दर्शन उसके प्रति प्रेमभाव उत्पन्न कर देता है । विदूषक से अपने प्रणय भेद को स्पष्ट करने तथा शकुंतला के सौन्दर्य का उल्लेख करता है । वह अनुपमेय रमणी किसे प्राप्त होगी अर्थात् पूर्वजन्म के पुण्य फलानुसार ही भोग की प्राप्ति होगी ।[3] पंचम अंक में कवि का कथन है कि जिस साधु को अप्सराओं ने मोहित कर लिया है , उसके लिए मुक्ति प्राप्ति असम्भव है ।[4]

इन प्रमुख अलंकारो के अतिरिक्त कवि ने निदर्शना , सहोक्ति , पर्याय , समुच्चय, सन्देह , विभावना , रुपक आदि अलंकारों के सुष्ठु प्रयोग से अपनी कविता कामिनी

१- रघु० ८-८३
२- कुमार० २-५१
३- अभि० २-१०
४- अभि० पंचमोऽङ्कः पृ० ८०

का शृंगार किया है ।

मेघदूत में कवि ने रूपक अलंकार के प्रयोग द्वारा जिस अद्वैततत्व एवं योगपक्ष के सूक्ष्म संकेत प्रदान किए है ,वह निश्चयतः उनकी काव्यत्वशक्ति की पराकाष्ठा है । रूपक अलंकार की परिभाषा है "जहां उपमेय तथा उपमान का जो अभेदारोप या काल्पनिक अभेद है , उसे रुपक कहते हैं ।[1] मेघदूत वस्तुतः भोगकाव्य प्रतीत होता है , किन्तु कवि ने मुक्ति का जो निरुपण किया है वह अतीव सुन्दर है । कवि ने काम के विलीनीकरण का प्रतिपादन कर शिवोऽहं की अद्वैत-वादिता की अखण्ड स्थापना की है । इसी प्रकार रघुवंश में यज्ञ का रुपक प्राप्त होता है ।[2]

प्रायः एक-एक पद्य में अनेक अलंकारों की मिश्रित छटा उतर आई है तथा सहृदय काव्य मर्मज्ञ उसकी प्रतीति से अभिभूत हो जाते हैं । शकुन्तला के विरह में दुष्यन्त का विलाप अनेक अलंकारों को समन्वित करता है ।[3] इस श्लोकद्वय में सन्देह , रुपक (भिन्न) , पुनरुक्तवदाभास अनुप्रास (छेकावृत्ति) , अनुमान , काव्यलिंग , सहोपमा विभिन्न अलंकार गुंथे हुए हैं । हंसपदिका द्वारा गेय गीत को सुनकर नृप अबोधपूर्व स्मृति के कारण व्याकुल हो गया है ।[4] इस विख्यात श्लोक में अप्रस्तुत-प्रशंसा , विभावना , काव्यलिंग , छेकानुप्रास , वृत्यानुप्रास , श्रुत्यानुप्रास की प्राप्ति

१- तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः का० प्र०
२- रघु० ५-२
३- अभि० ६-१०,११
४- अभि० ५-२

हो रही है । इसी प्रकार कारण-कार्य सम्बन्धित श्लोक में दीपक (क्रिया) , अनुप्रास, अप्रस्तुतप्रशंसा , अर्थापत्ति(माला) तथा अतिशयोक्ति अलंकार की प्राप्ति होती है । सप्तमांक में मारीचि ने शकुन्तला के श्राप के विषय में दुष्यन्त को जो कारण बताया है उस श्लोक में अनेक शब्दों में तुलना है । यथा-- शाप-मल , प्रतिहता तथा न मूर्छति , स्मृतिरोधरूक्ष तथा मलोपहतप्रसाद , भर्ता एवं दर्पण तल , अपेततमसि और शुद्ध , प्रभु तथा सुलभावकाश जोड़ के शब्द हैं , जिनमें तुलना है । यहां दृष्टान्त , अतिशयोक्ति , हेतु और अनुप्रास अलंकार है ।[1]

दुष्यन्त , शकुन्तला तथा पुत्र के सम्मिलन के सन्दर्भ में राजा ऋषि मारीच का आशीर्वाद मानता है , इसे कालिदास ने निदर्शना के माध्यम से प्रस्तुत किया है ।[2] जहां वाक्यार्थों या पदार्थों के ऐसे संबंध अथवा समन्वय को जो आपाततः भले ही अनुपन्न हो किन्तु अन्त में उपमानोपमेय भाव में परिणत हो जाए ।[3] दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला का विस्मरण तथा अंगुलीयक प्राप्ति के पश्चात् उसका स्मरण दुष्यन्त को कुछ विचित्र प्रतीत होता है ।[4] यहां निदर्शना तथा अनुप्रास दो अलंकारों के साथ-साथ अनुमानालंकार[5] की भी प्राप्ति हो रही है ।

इस प्रकार कवि कालिदास के काव्यों में सटीक , ललित एवं हृदयावर्जक चित्रों

१- अभि० ७-३२
२- अभि० ७-२९
३- अभवन् वस्तुसंबन्धः उपमा परिकल्पकः । का० प्र० १०-९७
४- अभि० ७-३१
५- अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः । का० प्र० १०-११७

की मनोभिराम अट्टालिका अवतीर्ण हो गई है जिससे उनकी काव्य कला चित्रकला के समान विभिन्न रंगों से युक्त हो गई है ।

(ख) ध्वनि सम्प्रदाय --

जहाँ अभिधा का अर्थ व्यंजना से गुणीभूत हो जाता है , उस रचना में ध्वनि रहती है ।[1] महाकवि की कृति में इसकी प्रचुरता है इसी ध्वंयात्मक शैली के द्वारा कवि ने किसी भी विषय का विस्तृत वर्णन न कर अल्प शब्दों द्वारा ही उसकी हृदयस्पर्शी मार्मिक अभिव्यंजना प्रस्तुत की है । इसी व्यंजना व्यापार द्वारा कवि ने विस्तृत तथा गुह्य विषयों की सुन्दर अभिव्यक्ति की है , जो सहृदयों को आकृष्ट करने में पूर्ण सक्षम है । कुमारसम्भव[2] में भगवती की तपश्चर्या में पठित एक श्लोक निर्माता की बहुदर्शिता विशेषतः दार्शनिक ज्ञान का प्रधान साक्षी है क्योंकि इसमें योगशास्त्र सम्मत समाधि जहाँ नासाग्रदृष्टि , मुख का खुला न रहना , मेरुदण्ड को उन्नत रखना तथा निश्चल रहना उपदिष्ट है । इसमें से वर्णित प्रथम दृष्टि बिन्दुओं सी पलकों पर स्थिति द्वारा पलकों का अर्धोन्मीलन ध्वनित है । इससे उनमें निविड़ता ध्वनित हुई है , जिससे सामुद्रिकोक्त सुलक्षण व्यक्त हुआ । अर्धोन्मीलन से नासिकाग्रदर्शन भी लब्ध हो गया , क्षण शब्द से पलकों की मसृणता सूचित हुई । ताडित पद से अधर में कोमलता झलकी ,अधर से च्युत बिन्दुओं के कुचों पर ही गिरने से मुख संवृत्ति

१- काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः ध्वन्यालोक पृ० ४

२-. कुमार० ५-२४

तथा बिखर जाने द्वारा उनकी कठिनता व्यंजित है साथ ही त्रिकोन्नति भी ध्वनित हुई , वहाँ च्युत त्रिवली से फिसलने द्वारा उनकी चिकनाई , स्पष्टता तथा सुलक्षणता भी प्रत्यायित हुई । वहाँ से हटे बिन्दुओं के नाभि में प्राप्ति वर्णन से उसकी गम्भीरता रूप सच्चिह्न की अभिव्यक्ति हुई । इस भाँति संलक्ष्यक्रम सूक्तः संयमी सम्भवी वस्तुध्वनियों से भगवती का अलौकिक सौन्दर्य उपस्कारकों के साथ अंगांगिभाव संकर हुआ , अत अंग ध्वनियों में परस्पर कोई संसृष्ट है कोई एकव्यंजकानुप्रविष्ट संकीर्ण है । विश्वप्रसिद्ध शाकुन्तल का "रम्याणि वीक्ष्य" भी ध्वनि काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है । यहाँ सांख्य का लिंग शरीर तथा योग का पुनर्जन्म - जन्मान्तर समाज सिद्धांत ध्वनित हो रहे हैं ।[1]

(ग) रस सम्प्रदाय --

भरतमुनि ने रस की प्रधानता स्वीकार की है[2] तथा कविराज विश्वनाथ ने इसकी महत्ता की स्पष्टतः उद्घोषणा की है । कालिदास रससिद्ध कवि हैं । उन्होंने अपनी रचनाओं में सर्वत्र औचित्य का ध्यान रखते हुए रस संयोजन किया है रस संयोजन व्यापार में वे सर्वत्र स्वभाविकता को प्रश्रय देते हैं । यही कारण है कि उनकी कविता कामिनी आदि से अन्त तक निरन्तर निर्बाध रूप से रसास्वादन कराती है , उसमें क्वचित् अपि कृत्रिमता की प्राप्ति नहीं होती जो पाठकों को शुष्क लगे तथा रसानुभूति में बाधा डाले । उनकी कविता में सभी तत्व सरस , सजीव , स्वाभाविक तथा आह्लादक

१- अभि० ५-२
२- वाक्यं रसात्मकं काव्यं आनन्दवर्धन

है । अतः रसानुभूति में सहायक सिद्ध हुए है । अंगीरस के मध्य में जितने रसों का समावेश हुआ वे स्वयं में रोचक है । रस व्यापार में सफल होने के कारण महाकवि कालिदास की कविता वनिता का विलास कहा गया है । कालिदास के रस संयोजना में दर्शन का पुट भी प्राप्त है । उनके विचारानुसार सत्व , राजस् एवं तमस् इन गुण-त्रय से उत्पन्न चरित्र नाना रसों अर्थात् समस्त रसों से परिपुष्ट हो रहा है , वह क्षणिक होता है तथा कदापि शाश्वत नहीं होता । शाश्वतिक रस शान्त रस है जो आत्मा में सर्वदा स्थित है , जिसके प्राप्ति के उपरान्त उससे श्रेष्ठ कोई वस्तु प्राप्त करने योग्य नहीं रह जाती वही आत्मानन्द है । अतः आत्मानन्द को ही शान्तरस का स्थाई भाव मानना उचित है । दूसरे काव्य समीक्षकों के अनुसार काम , तृष्णा , क्षय-सुख आदि को शान्त रस का स्थाई भाव माना है किंतु वे समस्त इसी आत्मानन्द के अन्तर्गत सन्निहित हो जाते हैं । यह आत्मानन्द ही सांख्य शास्त्र में निर्दिष्ट पुरुष का धर्म है किन्तु पुरुष जब प्रकृति के आधीन हो जाता है तब प्रकृति के गुणत्रय से निकलने वाले उसी एक शान्त रस के आठ प्रकार शृंगार , वीर , करुण , हास्य , भयानक , रौद्र , विस्मय तथा अद्भुत् हो जाते हैं । अतः शान्त रस को इन आठों का प्रभव अथवा उदयस्थल मानना चाहिए , उससे पृथक् नहीं । कालिदास का सर्वथा यही प्रयास रहा कि इन्हीं आठ रसों द्वारा उन-उन आनन्दों को प्रकट करते हुए अन्त में उस शाश्वतिक आनन्द को ही निरुपाधि बनाकर प्राप्त करा दे जो शान्ति के रूप में आत्मा में स्थित है । यह त्रिगुणातीत होकर पार्वती के पद पर स्थित होकर पाना है--तथाविधं प्रेम पतिरच तादृशः" । यहाँ भगवान् के विषय में भक्तिरूप प्रेम से परमरूप प्रभु को प्राप्त करना है ।

कालिदास के अध्ययन की एक अन्य दृष्टि है , सद्यः परनिवृत्ति -- तात्कालिक परमानंद। मम्मटाचार्य का कथन है कि काव्य रस का आस्वादन करते ही समस्त विषयों को भूलकर केवल आनन्दमय बन जाना है , इसी आनन्द को स्थाई रूप से प्राप्त करने के लिए समस्त संसार प्रयत्नशील है । आनन्द आत्मा का स्वरूप है , यावत्पर्यन्त मनुष्य सच्चा आनन्द प्राप्त नहीं करता उसे शान्ति और समाधान प्राप्त नहीं हो सकते । कालिदास ने कांतासम्मित उपदेश , जो अच्छे काव्यों का प्राणरूप होकर कभी विफल नहीं होता , का आलम्बन लिया है । इस उपदेश में कांत के समान पुरुष को सर्वदा प्रसन्न रखते हुए उसको अच्छे पथ पर लाने के लिए ऐसा अतर्कित उपाय है कि वह स्वयं को सुधरा हुआ पाता है तब वह उस चमत्कार को देखकर चकित हो जाता है । मातृगुप्त द्वारा बतलाए गए तीनों प्रकार के रस कवि के ग्रन्थों में प्राप्त होता है । उनमें प्रथम वस्तुमात्र में रहनेवाला स्वाभाविक रमणीय रस तथा द्वितीय कृत्रिम रस है , जिसे कवि योग्य शब्द सौष्ठव के द्वारा तथा उचित नेपथ्य वर्णन से प्रस्तुत करता है । ये समस्त कालिदास के ग्रंथों में प्रचुर मात्रा में प्राप्त है , इसके साथ ही यह भी विशेषता है कि मनुष्य की भूमिका में स्थित होकर मनुष्य की समस्त वासनाओं की धाराओं को सुन्दर एवं सूक्ष्म रूप से चित्रित करते हैं । जिन्हें पढ़ते ही पाठक काव्य के परमप्रयोजन सद्यः परनिवृत्ति का अनुभव करता है । अपनी प्रथम रचना मालविकाग्निमित्रम् में ही नाट्य प्रयोजन में शान्तरस को सार्वभौमिक रस माना है । यही रस की ध्वनि अपेक्षित है तथा ध्वनिकाव्य का उत्तम गुण व्यंजना व्यापार कालिदास के सभी ग्रंथों में अनुस्यूत है अतएव वे सर्व उपादेय बन गए है । भारतीय विचारधारा काव्य को आनन्द मानती है तथा आनन्दस्वरूप होने के कारण ही रस को

ब्रह्म कहा गया है , उसी को वेदान्ती "सच्चिदानन्द" कहते हैं ।

(घ) रीतिसम्प्रदाय[1]--

इसके प्रवर्तक वामन है । वैदर्भी शैली सर्वश्रेष्ठ शैली मानी गई है । कालिदास के समस्त ग्रन्थ वैदर्भी शैली में लिखे गए है तथा शृंगार एवं करुणरस के साथ ही साथ दर्शनतत्व का समन्वय तथा उसकी प्रधानता के कारण कालिदास की रचनाओं में अंतःकरण को द्रवित करनेवाली ह्लादमयी पदयोजना का मधुर प्राचुर्य है । नाद सौन्दर्य पर कवि ने विशेष ध्यान दिया है । प्रसादगुण तो उसकी रचनाओं की निजी विशिष्टता है । पदों के चयन में उसकी सुरुचि एवं शिष्टता का बोध होता है ।

(ङ) वक्रोति सम्प्रदाय--

काव्य की अभिव्यक्ति का सम्बंध वक्रोति सम्प्रदाय से है । अतएव कवि के रचना चातुर्य से विभूषित विचित्र उक्ति ही वक्रोति है । कालिदास वक्रोति के प्रयोग में नितान्त पटु एवं प्रवीण है किन्तु दर्शन सम्मत वक्रोति का प्रयोग न होने के कारण उनका उल्लेख व्यर्थ है ।

शोधप्रबन्ध के अन्त में यही कहा जा सकता है कि कवि कणाद मुनि का वैशेषिक दर्शन , बादरायण व्यास का वेदान्त, पतंजलि मुनि का योगदर्शन और अक्षपाद का न्याय आदि सभी शास्त्रों का उन्होंने अध्ययन किया था और वे सबमें ही पारंगत

१- रीतिरात्मा काव्यस्य वामन

थे । वे अर्धनारी-नटेश्वर शंकर भगवान् के उपासक थे । यह उन्होंने अपने ग्रन्थों के मंगल श्लोकों में झलकाई है , यद्यपि ब्रह्मा , विष्णु , महेश इन तीनों के प्रति उनकी अभेद बुद्धि थी । विशिष्ट कार्यों के कारण एक ही परतत्व के तीन प्रकार के अभिधान के मूल प्रकृति के गुणों के अनुसार तीन नाम हैं । सर्जन , पालन , और संहरण , राजस , सात्विक और तामस प्रकृति के कार्य होने के कारण कार्यभेद से एक ही परतत्व की ब्रह्मा , विष्णु और महेश तीन प्रतीक मूर्तियाँ हैं । सांख्य की प्रकृति और पुरुष को कालिदास ने उसी परतत्व का आविर्भाव माना । उसी तत्व को योगीजन अपने हृदय में स्थित ज्योति के रूप में पाकर कृतार्थ होते हैं । इस प्रकार कालिदास ने सारे विश्व को आठ मूर्तियों में विभक्त करके उन सबको अपने उपास्य देवता का ही पृथक् पृथक् अंग माना है ।

इस दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन स्थान-स्थान पर मिलता है । शंकर भगवान् के अर्धनारी-नटेश्वर के रूप में उनके उपास्य देव होने के कारण प्रथम उन्हीं की आराधना के रूप में कुमारसंभव का प्रवचन प्रतीत होता है । हिमालय कवि की सृष्टि में जड़ पर्वत नहीं प्रत्युत वह देवतात्मा है । यहाँ अचेतन सृष्टि सचेतन हो उठी है। इन कथनों से कालिदास ने दर्शन के उदात्त तत्व चैतन्य का सर्वव्यापित्व बड़ी रमणीयता से झलकाया है । उपनिषद् तथा गीता की कतिपय पंक्तियों में शब्द साम्यता तक प्राप्त होती है । अष्टाङ्ग योग तथा पुनर्जन्म कर्मवाद नगवत् जड़ित हैं । अतः सारांश रूप में कहा जा सकता है कि शिव के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कवि के दर्शन और साधना का ज्ञान है तथा शिव, विष्णु और ब्रह्मा का अद्वैतभाव, शिव और कूटस्थ आत्मा का तादात्म्य और योग द्वारा उस अक्षर ब्रह्म का साक्षात्कार ही कालिदास का दार्शनिक मत

है । डॉ० वा०वि० मिराशी ने अपनी पुस्तक में कालिदास के प्रति इस प्रकार उद्गार प्रकट किए हैं ।[1] इसी प्रसंग में डा०टी० जी० माइणकर के विचार भी उल्लेखनीय हैं ।[2]

----:::o:::----

१- Kalidas must have studied a veda or the vedas in a gurukula. His inclinations seem to be more towards the Jnanakanda than the Karmakanda. His knowledge of the Bhagavadgita is sound. In addition, he seems to have studied the different branches of Indian philosophy and he seem to have a thorough knowledge of the yoga system in particular. The occurance of technical terms from the Nyaya and the Vaisesika is rare yet it might be said that he knew these systems."

— 'Kalidasa', pp. 77-78.

२- One has to include in this quite impressive account the knowledge of the Samkhya system, for in the first place, yoga system goes with the Samkhya system and secondly one does come across samkhya concepts again and again in Kalidasa's works.

— Dr. T.G.Mainkar - 'Kalidasa : His Art and thought' pp. 4.

सन्दर्भ साहित्य सूचिका

सन्दर्भ साहित्य सूचनिका

संस्कृत ग्रन्थ

(अ) कालिदास के ग्रन्थ :-

१- कालिदास -- ऋतुसंहार, अनुवादक रांगेय राघव (हिन्दी-अंग्रेजी अनुवाद) आत्माराम एण्ड सन्स, लखनऊ ।

२- कालिदास -- कुमारसम्भवम् - श्री जगदीशलाल शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, प्रथमावृत्ति, १९६५

३- कालिदास -- मेघदूतम् - अनुवादक एवं व्याख्याकार - डॉ० संसार चन्द्र एवं पं० मोहनदेवपन्त

४- कालिदास -- रघुवंशम् - कोलाचलश्रीमल्लिनाथ सूरिकृतया संजीविन्या श्री धारादत्त शास्त्री मिश्र कृत व्याख्याभाषानुवादेन च सहितम् ,मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण '७७

५- कालिदासप्रणीतः -- मालविकाग्निमित्रम्

६- कालिदासप्रणीतः -- विक्रमोर्वशीयम्

७- कालिदासप्रणीतः -- अभिज्ञानशाकुन्तलम् - अनु० डॉ० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, प्रथम संस्करण १९७०

८- चतुर्वेदी सीताराम -- कालिदास ग्रन्थावली, द्वितीय संस्करण सं० २००७वि०, काशी

९- त्रिपाठी श्री रामप्रतापशास्त्री -- कालिदास के काव्य अनुवादक एवं सम्पादक श्रीरामप्रताप शास्त्री त्रिपाठी किताब महल प्रा० लि०, इलाहाबाद

(आ) अन्य ग्रन्थ :-

१०- जयदेव -- चन्द्रालोक - टीकाकार सुबोध चन्द्रपत्र प्रथम संस्करण, १९६६

११- दासगुप्त(डॉ०) श्रीशशिभूषण- उपमा कालिदासस्य - नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली १९६२

१२- भारवि -- किरातार्जुनीयम् - श्री आदित्यनारायण पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६८

१३- माघ -- शिशुपालवधम् - पं० श्रीहरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६१

१४- मम्मटाचार्य -- काव्यप्रकाशः - सविमर्श शशिकला, हिन्दीव्याख्योपेतः व्याख्याकार डॉ० सत्यव्रत सिंह

१५- भवभूति -- भवभूति ग्रन्थावली - अनुवादक एवं सम्पादक रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, किताब महल प्रा० लि०, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण - १९७३

(इ) पुराणोपनिषद् :-

१६- कठोपनिषद् -- व्याख्याकार वैजनाथ पाण्डेय प्रथम संस्करण १९७७, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

१७- छान्दोग्योपनिषद् -- संपादक पं० श्रीरामशर्मा, प्रथम संवत् १९७२ , साहित्य सस्ता प्रेस, मथुरा

१८- बृहदारण्यकोपनिषद् -- गीताप्रेस, गोरखपुर

१९- श्वेताश्वतोपनिषद् -- गीताप्रेस, गोरखपुर

२०- कूर्मपुराण -- हिन्दी अनुवाद सहित , सर्वभारतीय काशिराज न्यास , दुर्ग, रामनगर, वाराणसी

२१- पद्मपुराण -- आचार्य रविषेण - सम्पादक पं० पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

२२- मार्कण्डेयपुराण एक अध्ययन -- आचार्य बदरीनाथ शुक्ल, चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी प्रथम संस्करण २०१२

२३- वायुपुराण -- सम्पादक वेदमूर्ति तपोनिष्ठ, पं० श्रीरामशर्मा आचार्य संस्कृति संस्थान , बरेली

२४- विष्णुपुराण -- " " "

(ई) दर्शन संबंधित संस्कृत ग्रंथ :-

२५- अन्नंभट्ट -- तर्क संग्रह - टीकाकार श्री पं० ज्वालाप्रसाद गौड़, मोतीलाल बनारसीदास, संस्करण - षष्ठ

२६- ईश्वरकृष्ण -- सांख्यकारिका - (प्रभा ऽऽ ख्यया हिन्दी व्याख्यया , गौडपादभाष्यान्वय सहिता) -व्याख्याकार डॉ० हरिदत्त शास्त्री, सप्तम संस्करण १९८०, साहित्यभण्डार, मेरठ

२७- कणाद महर्षि -- वैशेषिक दर्शनम् - श्री १०८ स्वामी दर्शनानन्द जी सरस्वतीकृत हिन्दी अनुवाद सहित, प्रकाशन -प्रेमशंकर आर्य , द्वितीय संस्करण १९५९

२८- गौतम महर्षि -- न्यायदर्शनम् - वात्स्यायनभाष्यसंवलितम् , संपादक अनुवादकश्च स्वामी द्वारिकादासशास्त्री, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९६६

२९- जैमिनि महर्षि -- मीमांसासूत्रः - प्रकाशक संस्कृति संस्थान, बरेली, प्रथम संस्करण १९६४

३०- पतंजलि महर्षि -- पातंजल योगदर्शनम् - वाचस्पतिमिश्र विरचित तत्त्व वैशारदी विज्ञानभिक्षुकृतयोगवार्तिक विभूषितव्यासभाष्य समेतम् - श्री नारायणमिश्र, भारतीय विद्या भवन प्रकाशन, वाराणसी

३१- पतंजलि महर्षि -- योगदर्शन - संपादक पं० श्रीरामशर्मा आचार्य, प्रथम संस्करण १९७४, प्रकाशक संस्कृति संस्थान, बरेली

३२- माधवाचार्य -- सर्वदर्शनसंग्रह - अनुवादक - प्रो० उमाशंकर शर्मा "ऋषि", प्रथम संस्करण - १९६४, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

३३- मिश्र (श्री) वाचस्पति -- सांख्यतत्त्वकौमुदी - व्याख्याकार - डॉ० गजाननशास्त्री मुसलगांवकर , चौखम्बा संस्कृत सीरीजआफिस, वाराणसी, प्रथम संस्करण, संवत् २०२८

३४- लौगाक्षिभास्करकृत -- अर्थसंग्रहः - अर्थबोधिनीव्याख्यायुतः, व्याख्याकार -डॉ० दयाशंकर शास्त्री, प्रथम संस्करण , संवत् २०२८

३५- सदानन्दप्रणीतः -- वेदान्तसार - अनुवादक सत्यनारायण श्रीवास्तव, लोक-भारती प्रकाशन , प्रथम संस्करण १९६८

३६- शंकर -- ब्रह्मसूत्र भाष्य -श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य श्रीस्वामी सत्यानन्द सरस्वती विरचित भाषानुवाद, सत्यानन्दी दीपिका सहित, गोविन्दमठ, वाराणसी, द्वितीय संस्करण २०२८

३७- -- प्रत्यभिज्ञाहृदयम् - अनुवादक तथा व्याख्याकार - संपादक जयदेवसिंह, मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण १९७३

(उ) समालोचनात्मक ग्रन्थ :-

३८- अग्रवाल (डॉ०) वासुदेवशरण -- मेघदूत एक अध्ययन, द्वितीय संस्करण -१९७१, राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०

३९- उपाध्याय निर्मला -- कालिदास का प्रकृति चित्रण, प्रथम संस्करण १९६८, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद

४०- उपाध्याय डॉ० भगवतशरण-- कालिदास के सुभाषित

४१- " " -- कालिदास नमामि - रणजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स, चाँदनी चौक, दिल्ली

४२- उपाध्याय डॉ० भगवतशरण-- कालिदास का भारत (१) तृतीय संस्करण १९६३,

४३- उपाध्याय डॉ० भगवतशरण-- कालिदास का भारत, तृतीय संस्करण १९६४

४४- उपाध्याय बलदेव -- संस्कृत सुकवि समीक्षा, प्रथम संस्करण, विक्रम सं०२०२० चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

४५- उपाध्याय(डॉ०)रामजी एवं मिश्र(डॉ०रामगोपाल -- संस्कृत के महाकवि और काव्य, प्रथम संस्करण १९६५ [illegible], प्रथम संस्करण रामनारायणलाल बेनीमाधव, इला०

४६- चौधरी जयकृष्ण -- कालिदास - जीवन,कला और कृतित्व

४७- द्विवेदी आचार्य हजारीप्रसाद -कालिदास की लालित्य योजना,द्वितीय संस्करण १९७० नैवेद्य निकेतन,रवीन्द्रपुरी, वाराणसी

४८- द्विवेदी (आचार्य)हजारी प्रसाद -- मेघदूत एक पुरानी कहानी

४९- द्विवेदी(पं०) महावीर प्रसाद -- कालिदास और उनकी कविता

५०- द्विवेदी(पं०) महावीर प्रसाद और चतुर्वेदी जगन्नाथ प्रसाद -- कालिदास की निरंकुशता और उसका निराकरण

५१- पाण्डेय चन्द्रबली -- कालिदास - प्रथम आवृत्ति,संवत् २०११,मोतीलाल बनारसीदास,वाराणसी

५२- पोद्दार कन्हैयालाल -- मेघदूत विमर्श

५३- भारद्वाज शिवराज -- कालिदास दर्शन (प्रथम भाग) -प्रथम संस्करण १९७५ अशोक प्रकाशन,दिल्ली

५४- मिराशी वा०वि० -- कालिदास,बम्बई,पाप्युलर प्रकाशन १९६७

५५- मिराशी वा०वि० -- संशोधनमुक्तावलि - सर पाँचवा (मराठी) प्रथमावृत्ति १९६६,प्रकाशक,श्री ल०रा०कुलकर्णी,विदर्भ संशोधन मण्डल,नागपुर

५६- राय द्विजेन्द्र लाल -- कालिदास और भवभूति,अनुवाद रूपनारायण पाण्डेय

५७- राय शिवबालक -- कालिदास के सौन्दर्य सिद्धान्त और मेघदूत,अर्चना प्रकाशन,आरा

५८- व्यास सूर्यनारायण -- विश्वकवि कालिदास - एक अध्ययन

५९-व्यास(डॉ० भोलाशंकर -- संस्कृत कवि दर्शन,तृ०सं० वि सं० २०२५

६०- विद्यालंकार वागीश्वर -- महाकवि कालिदास एवं उनकी काव्य कला ,तृतीय संस्करण १९६७,मोतीलाल बनारसीदास

६१- शास्त्री(पं०)देवदत्त -- कालिदास एक अनुशीलन

६२- सहगल सीताराम -- राष्ट्रकवि कालिदास, नवयुग प्रकाशन, जालन्धर १९६१

६३- सूरिदेव श्री रंजन -- मेघदूत एक अनुचिन्तन, नागरी प्रकाशन, प्रा०लि०, पटना १९६५

६४- त्रिपाठी रमाशंकर -- महाकवि कालिदास, प्रथम संस्करण, संवत् २०१८, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

६५- सुशीलकुमार -- महाकवि कालिदास, दिल्ली उमेश प्रकाशन, १९६६

(ऊ) कतिपय निबन्ध :-

६५- अग्रवाल डॉ० वासुदेवशरण -- मेघदूत का अध्ययन : शिव का स्वरूप, नई दिल्ली

६६- आत्रेय डॉ० भीखनलाल एम०ए०,डी०लिट -- योगवासिष्ठ में मेघदूत

६७- उपाध्याय पं० अम्बिकाप्रसाद व्याकरणाचार्य -- कालिदास के शब्द-प्रयोग

६८- उपाध्याय (पं०) बलदेव एम०ए०, साहित्याचार्य -- कालिदास का सन्देश

६९- गौड़े, पी०के० -- महाकवि कालिदास की उपमाओं का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पूना

७०- गोस्वामी श्रीदामोदरलाल श्री मन्मध्वसंप्रदायाचार्य -दार्शनिकसार्वभौम, साहित्यदर्शनाद्याचार्य तर्करत्न, न्यायरत्न -- कालिदास के कवित्व की पूर्णता अर्थात् तदीय कतिपय पद्यों का मर्म प्रकाश

७१- जोशी(पं०) सीताराम जयराम एम०ए० साहित्याचार्य -- कालिदास के ग्रन्थों की उपादेयता

७२- पाण्डेय स्व० श्रीईशदत्त "श्रीश" साहित्याचार्य, साहित्यरत्न -- विक्रम और उनके नवरत्न

७३- पाण्डेय डॉ० राजबली एम०ए०, डी०लिट्० -- विक्रमादित्य

७४- डॉ० डेण्वेलकर -- निसर्गकन्या शकुन्तला

७५- "त्रिपाठी(पं०) करुणापति एम०ए०, व्याकरणाचार्य बी०टी० -- कालिदास और प्रकृति

(ए) शोध-प्रबन्ध :-

७६- जायसवाल (डॉ०)मञ्जुला -- कालिदास के काव्यों में ध्वनि तत्त्व , प्रथम संस्करण १९७६, मी०के आर्ट प्रेस, इलाहाबाद

७७- वर्मा (डॉ०) गायत्री -- कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित तत्कालीन भारतीय संस्कृति, प्रथम संस्करण १९६३, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी

७८- पाण्डेय (डॉ०) रामसुरेश -- महाभारत और पुराणों में सांख्य दर्शन प्रथम संस्करण, १९७२, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

७९- (डॉ०) सुरेन्द्र देव -- महाकवि कालिदास और भवभूति के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन, प्रथम संस्करण, १९६९, साहित्य भाण्डार, सुभाष बाजार ,मेरठ

(ऐ) टीका विमर्श :-

८०- मल्लिनाथ संजीवनी -- कुमारसम्भव

८१- मल्लिनाथ संजीवनी -- मेघदूत

८२- मल्लिनाथ संजीवनी -- रघुवंश

८३- राघवभट्ट टीका -- अभिज्ञानशाकुन्तलम्

८४- वल्लभ टीका -- मेघदूत

८५- वल्लभ टीका -- रघुवंश

(ओ) दर्शन सम्बन्धित पुस्तकें :-

८६- अवस्थी ब्रह्ममित्र -- भारतीय न्यायशास्त्र एक अध्ययन

८७- अवस्थी ब्रह्ममित्र -- पातंजल योगशास्त्र एक अध्ययन

८८- उपाध्याय बलदेव -- भारतीय दर्शन, प्रथम संस्करण १९७६

८९- उपाध्याय बलदेव -- भारतीय दर्शन सार, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९७२

९०- चट्टोपाध्याय देवीप्रसाद-- भारतीय दर्शन सरल परिचय, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण १९६५

९१- चट्टोपाध्याय श्री सतीशचन्द्र एवं दत्त श्री धीरेन्द्र मोहन -- भारतीय दर्शन, अनुवादक - श्री हरिमोहन झा एवं नित्यानन्द मिश्र, प्रथम संस्करण, पुस्तक भण्डार, पटना

९२- डायसन डॉ० पाल -- वेदान्त दर्शन, अनुवादक संगमलाल पाण्डेय, प्रथम संस्करण १९७१

९३- दत्त हीरेन्द्र -- कर्मवाद और जन्मान्तर, अनुवादक लल्लीप्रसाद पाण्डेय, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, प्रथम संस्करण, संवत १८९५

९४- द्विवेदी पारसनाथ -- भारतीय दर्शन, आगरा, प्रथम संस्करण १९७६

९५- दासगुप्त सुरेन्द्र -- भारतीय दर्शन का इतिहास (भाग १,२,३,४), अनु० ए०यू० वसावडा, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ एकादमी, जयपुर

९६- दासगुप्ता सुरेन्द्र -- भारतीय दर्शन का इतिहास (भाग-५), अनुवादक सुश्री पी मिश्रा, प्रथम संस्करण १९७५, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर

९७- पाण्डेय डॉ० रामचन्द्र -- भारतीय दर्शन की भूमिका

९८- ब्रह्मलीन परमसत् -- उपनिषद् तत्व विवेचन, प्रथम संस्करण २००० श्री (डॉ०) चतुर्भुज सहाय जी महाराज

९९- (डॉ०) बुद्ध प्रकाश -- भारतीय धर्म एवं संस्कृति, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ

१००- मिश्र म०म०डॉ० उमेश -- भारतीय दर्शन, तृतीय संस्करण, १९७०

१०१- मिश्र श्रीनारायण -- वैशेषिक दर्शन, विद्या प्रकाशन वाराणसी

१०२- राधाकृष्णन् (डॉ०) सर्वपल्ली -- उपनिषदों की भूमिका, अनुवादक-रामनाथ शास्त्री, तृतीय संस्करण १९७६

१०३- विवेकानन्द स्वामी -- कर्मयोग, अष्टम संस्करण १९७१, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर

१०४- विवेकानन्द स्वामी -- "वेदान्त" द्वितीय संस्करण १९७०, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर

१०५- शास्त्री डॉ० नरेन्द्रदेवसिंह -- भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, द्वितीय संस्करण, १९७३

१०६- एवं शास्त्री डॉ० हरिदत्त

१०७- शर्मा डॉ० रामनाथ -- भारतीय दर्शन के मूलतत्व, द्वितीय संस्करण, मेरठ

१०८- सिन्हा (प्रो०) हरेन्द्र प्रसाद- भारतीय दर्शन की भूमिका

१०९- हिरियन्ना, एम० -- भारतीय दर्शन की रूपरेखा, अनुवादक -डॉ० गोवर्धन भट्ट श्रीमती मंजुगुप्ता, श्री सुखवीर चौधरी, द्वितीय संस्करण १९७३

(औ) संस्कृत साहित्य के इतिहास से सम्बन्धित पुस्तकें :-

११०- अग्रवाल(प्रो०) हंसराज -- संस्कृत साहित्य का इतिहास, चतुर्थ संस्करण , वि०सं०२०२२

१११- उपाध्याय बलदेव -- संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण १९६८ प्रकाशक - शारदा मन्दिर, वाराणसी।

११२- कीथ ए०बी० -- संस्कृत साहित्य का इतिहास , अनु०-डॉ० मंगलदेव शास्त्री, द्वितीय संस्करण ६७, मोतीलाल बनारसीदास

११३- खण्डेलवाल डॉ० जयकिशन प्रसाद -- संस्कृत साहित्य का सुबोध इतिहास, रवीन्द्र प्रकाशन, प्रथम संस्करण १९७०

११४- गैरोला वाचस्पति -- संस्कृत साहित्य का इतिहास

११५- चैतन्य कृष्ण -- संस्कृत साहित्य का नवीन इतिहास, अनुवादक विनय कुमार राय, प्रथम संस्करण, वि०सं० २०३१, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी

११६- टण्डन(डॉ०) कमलनारायण-- संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण १९७१

११७- पोद्दार सेठ कन्हैयालाल-- संस्कृत साहित्य का इतिहास, द्वितीय संस्करण संवत २०११ नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

११८- पाण्डेय चन्द्रशेखर एवं व्यास (डॉ० शान्तिकुमार नानूराम -- संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, कानपुर १९६०

११९- पाण्डेय(डॉ०) रामनारायण - संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, द्वि०संस्करण १९७२, साहित्य संस्कृत भण्डार

१२०- सक्सैना द्वारिकाप्रसाद -- संस्कृत साहित्य का इतिहास, एकादश संस्करण १९७४ प्रकाशक -विनोद पुस्तक भण्डार , आगरा ।

(ब) आंग्ल ग्रन्थ :-

121- Aeyar T.K.R. -- A Concerdance of Kalidasa's poems. University of Madras, 1952.

122- Aapdeva -- Mimamsa Nyaya Prakash edited with an original commentary by Mahamahopadh.a Vasuder Shastri, Abhyankar, 1966.

123- Banerjee Sur Chandra -- A Comparison to Sanskrit Literature, Motilal Banarsi Das, Delhi 1972.

124- Bhave S.S. -- Kalidasa

125- Chatterjee Jadish Chandra(B.A.antab.) -- Kashmir Shaivaism, Part I, 1914

126- Chattopadhyay K.C. -- The Date of Kalidasa

127- De S.C. -- Kalidasa and Vikramaditya, Calcutta University

128- De S.K. -- Aspects of Sanskrit Literature, 1959.

129- De S.K. & Daspta S.N. -- History of Sanskrit Literature Vol. II 1962. Second edition, University of Calcatta.

130- Devadhar C.R. -- Works of Kalidasa, Vol.I. Drama First edition 1966. Patna, Motilal Banarsidas.

131- Edited by Deande G.T. - Mirashi Felicitation, Shastri Ajayra Karambelkar - Volume, Vidarbha Samshodhan Mandal, Nagpur, 1965

132- Frazer R.W & Fisher T. -- A Literary History of India, University of London. 1915.

133- Ghosh Sir Aurndo -- Kalidasa

134- Ghosh Sir Aurobindo -- Kalidasa (Second Series) Pondichery, 1964.

135- Hillebrandt(German) Translated by Dr. S.N. Ghoshal -- An Estimate of his Literary merits, Cal., The world press pvt.ltd. 1971.

136- Jhala G.C. -- Kalidasa A Study , Bombay Karnatak Publishing house, 1949.

137- Kalla Lachhmidhar -- The Birth Place of Kalidasa , 1926.

138- Keith A.B. -- Classical Sanskrit Literature, 1923.

139- Do -- The Religion and Philosophy of the Veda and Upnisats.

140- Kermerker Dr D. Wodeyar Registrar. -- Kalidasa (Extension Lectures series 4, Karnataka University , Dharwar.

141- Krishnamachariar M. -- History of Classical Sanskrit Literature, Motilal Banarsidas, First reprint -1970.

142- Kunhan Raga(Dr.) C. -- Survey of Sanskrit Literature , 1962

143- Mainkar (Dr.) T.G. -- Kalidasa - His Art and Thought, First edition 1962,Deshmukh Prakashan,Poona.

144- Madhavetirtha Swami -- The Concept of Indian Philosophy

145- Macdonell, A.A. -- A History of Sanskrit Literature 1961

146- Mandal Dr. K.K. -- A Comperative Study of the space and time in Indian Thought. Chowkhamba Sanskrit Series office, Banaras, 1968.

147- Mirashi V.V. Navlekar N.R. -- Kalidasa , printed by D.V. Ambekar, press, Poona-4, 1969

148- Paradkar(Dr.) M.D. -- Malavikagnimitram - A Critical Study 1966

149- Prasad, Ramnarayan Lal -- A History of Sanskrit Literature, Allahabad, 1960.

150- Radhakrishnan(Dr.) S. -- Indian Philosophy, Part-1. Printed in Holland.

151- Do -- Indian Philosophy , Part 2

152- Ruben Walter -- Kalidasa

153- Raghvan (Dr.) V. -- Sanskrit and Indological Studies Felicitation, Volume, Motilal Banarsidas , Delhi - 1st edition ' 75

154- Ramswami R.S. -- Kalidasa -- His period, personality and poetry, Srivanivilas press 1933.

155- Sarma(Dr.) Dimbeshwar -- An Interpretation Study of Kalidasa - Thesis approved for the D.Phil (Arts) degree in the University of Calcutta , 1968.

156- Sarma E. R.S. -- Kalidasa Samiksa (Proceedings of Seminar on Kalidasa) Venkateswara University, Tirupati- 1962

157- Sabnis S.A. -- Kalidasa -- His style and his times Bombay, N.M. Tripathi, 1966.

158- Sharma H.D. -- Padmapurana and Kalidasa, 1926

159- Shastri, K.S. Ramaswami -- Kalidasa - Genius, Ideals and Influence 1960.

160- Winternitz M. Translated by Subhadra Jha. -- History of Sanskrit Literature, 1963.

161-Yadav , Baburam -- A Critical Study of Sources of Kalidasa, Delhi Bhavan Prakashan, 1974.

****